॥श्रीः॥

श्रीविद्यारण्यस्वामिविरचित

पञ्चदशी

पं. मिहिरचन्द्रजी कृत

(हिन्दीटीका सहित)

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन बम्बई

॥ श्रीः ॥

श्रीविद्यारण्यस्वामीविरचित

पञ्चदशी

पं. मिहिरचन्द्रजी कृत

(हिन्दी टीका सहित)

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई-४०० ००४

संस्करण : फरवरी २०१४, संवत् २०७०

मूल्य : २०० रुपये मात्र

मुद्रक एवं प्रकाशक
खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष: श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई-४०० ००४

Printers & Publishers
Khemraj Shrikrishnadass
Prop : Shri Venkateshwar Press
Khemraj Shrikrishnadass Marg.
7 th Khetwadi, Mumbai. 400 004

Web Site : http://www.khe-shri.com
E-Mail khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s.Khemraj Shrikrishnadas
Prop.: Shri Venkateshwar Press, Mumbai 400004
at their Shri Venkateshwar Press,
66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411013

प्रस्तावना

प्रकट हो कि, संस्कृत जाननेवाले जिज्ञासुओं को ब्रह्मआत्मा की एकता निश्चयरूप यथार्थ अपरोक्ष ज्ञानप्राप्ति के प्रयोजन से परम दयालु सर्ववेत्ता सर्वज्ञ श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीजी ने कराल कलिकाल से मोक्षार्थ पंचदशप्रकरणरूप "पञ्चदशी" ग्रंथ निर्माण किया। इसमें "तत्त्वविवेक, द्वैतविवेक, महावाक्यविवेक, कूटस्थदीप, नाटकदीप, योगानन्द, आत्मानन्द" आदि प्रकरणों करके वेदान्त मार्ग दर्शाया गया है। यह ग्रन्थ ऐसा कठिन है कि, संस्कृत टीका होने से भी सर्व सामान्य को स्पष्ट रीति से इसके भाव का बोध नहीं होता था और संस्कृत न्यूनाभ्यासी मुमुक्षुओं को तो अलभ्य ही था। अतएव हमने सर्व साधारण के बिना प्रयास संसारसागर तरने का नौकारूप तथा मुमुक्षुजनों के हृदयाब्ज को अखण्डमार्त्तण्डवत् प्रकाश करनेवाला इसको धर्मशास्त्र वेदान्तादि के अखण्डज्ञाता श्रीयुत पं० मिहिरचन्द्रजी के द्वारा यथार्थ भाषानुवाद कराय शुद्धतापूर्वक मुद्रित कर सज्जनों के दृष्टिगोचर करते हैं। अबकी बार यह ग्रन्थ शास्त्रियों द्वारा मूल व टीका दोनों को अत्यन्त शुद्ध कराय मुद्रित किया है, फिर भी मनुष्यस्वभावानुरूप यदि कहीं दृष्टिदोष से भूल चूक रह गयी हो तो सज्जनगण क्षमाकर सुधार लेवें इति।

सज्जनों का कृपाभिलाषी–

खेमराज श्रीकृष्णदास

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष–बंबई

अथ पञ्चदशीप्रकरणानुक्रमः

इति पञ्चदश प्रकरणानि

***

ॐ

अथ

पञ्चदशी

हिन्दीटीकासहिता
तत्त्वविवेकप्रकरणम् १

श्रीगणेशाय नमः

नमः श्रीशंकरानंदगुरुपादांबुजन्मने ॥
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥१॥

मायाकल्पितसंसृतेरपगमं यद्बोधसाध्यं विदु-
र्नत्वा ब्रह्म मुमुक्षुमुक्तिकरणं तत्पंचदश्युद्धृति ।
नुर्गिर्या मिहिरादिचंद्रविदुषा भाषाप्रियप्रीतिदा
संतेने भवभीतिभीतजनुषा विज्ञेषु कः साहसी ॥१॥

प्रारंभ किये ग्रंथ में विघ्ननिवृत्ति के लिये इष्ट देव और गुरु के नमस्काररूप मंगल को ग्रंथ के आदि में लिखते हैं–कि संपूर्ण जगत् को आनंदरूप सुखकारी जो परमात्मा क्योंकि वही 'ब्रह्म सबको आनंद करता है' यह श्रुति* में लिखा है और सबसे उत्तम प्रेमरूप का आश्रय होने से परमात्मारूप जो प्रत्यगात्मा (जीव) अर्थात् जीव से अभिन्न जो परमात्मा (ब्रह्म) वही जो गुरु–अर्थात् 'जिनके मल पक गये हैं, उनके मलों को दूरीकरणार्थ श्रेष्ठ उपदेश से परमतत्त्व (ब्रह्म) में आचार्य की मूर्ति में टिककर युक्त करने (मिलाने) वाला ब्रह्मरूप गुरु है' इस वेद के वाक्य** से जीव से अभिन्न परमात्मा के समान जो अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त, गुरु अथवा लक्ष्मी से सुख के कर्ता जो आनंदरूप गुरु क्योंकि 'दाता का परम आश्रय दान ही है, यह श्रुति*** में लिखा है–ऐसे पूर्वोक्त गुरु के

*** 'एष एवानंदयति' इति श्रुतेः। ** 'परिपक्वमला ये तानुत्सादनशक्तिपातनेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः'। *** 'रातेर्दातुः परायणम्'।**

उन कमलरूपी चरणारविंदो को हम प्रणाम करते हैं जो पृथ्वी आदि कार्यों के समूह से युक्त महामोहरूप ग्राह अर्थात् अविद्यारूप मूल अज्ञानरूप में जो अपने वश में आये को मकर के समान दुःख का दाता जो संसार उस ग्राह के ग्रास (भक्षण वा नाश) कर्ता हैं । भावार्थ यह है कि पृथ्वी आदि संसार सहित अविद्यारूप ग्राह के नाशक, जो जीव से अभिन्न ब्रह्मरूप गुरु के कमलरूप चरणारविंद–उनको हम नमस्कार करते हैं, यहां जीव और ब्रह्म की एकता के वर्णन से अद्वैत इस ग्रंथ का विषय है और जीव को ब्रह्मरूप की प्रकटता वा अविद्या आदि अनर्थ की निवृत्ति प्रयोजन है और इस ग्रंथ से वे जाने जाते हैं और ग्रंथ उनको जानता है यह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप सम्वंध है और अद्वैत का अभिलाषी मुमुक्षु इस ग्रंथ का अधिकारी है। ये चारों विषय, प्रयोजन, संबंध, अधिकारी (जो ग्रंथों की आदि में होते हैं) इस श्लोक से सूचित किये समझने।।१।।

तत्पादांबुरुहद्वंद्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ।।२।।

अब अवांतर (मध्य के) प्रयोजनों के कथनपूर्वक ग्रंथ के आरंभ की प्रतिज्ञा करते हैं कि उस पूर्वोक्त गुरु के कमलरूप दोनों चरणों की सेवा (स्तुतिनमस्कार) से राग द्वेष आदि से रहित (निर्मल) है अंतःकरण जिनका उनको अनायास (बिना परिश्रम) से तत्त्वों के ज्ञानार्थ इस (वक्ष्यमाण) विवेक को कहते हैं अर्थात् नहीं है, कहीं आरोप (भ्रम) जिसका जैसा रज्जु में सर्प का होता है–ऐसे तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जानने योग्य अखंड सच्चिदानंद परब्रह्म का उसी उक्त परब्रह्म में आरोप किये (माने) पंचकोशरूप जगत् से विवेक (भेद) को करते हैं अर्थात् जगत् के विकारों से रहित परब्रह्म का जिससे ज्ञान हो जाय ऐसे प्रकरण का आरंभ करते हैं क्योंकि जैसे रज्जु के ज्ञान बिना आरोप किये सर्प से पैदा हुए शरीरकंप आदि की निवृत्ति नहीं होती ऐसे ही ब्रह्मरूप अधिष्ठान के ज्ञान बिना सुख दुःख आदि संसार के अनर्थों की भी निवृत्ति नहीं होती इससे यह विवेक मुमुक्षु का परम उपयोगी है। भावार्थ यह है कि गुरु के चरणारविंदो की सेवा से निर्मल बुद्धियों को सुखपूर्वक बोध के लिये यह तत्त्व (ब्रह्म) का विवेक कहते हैं ।।२।।

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ।।३।।

जीव ब्रह्म की एकतारूप विषय की संभावना के लिये जीव को सत्य ज्ञान आदि स्वरूप दिखाने के अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम ज्ञान के अभेद (एक) के कथन से ज्ञान

की नित्यता सिद्ध करते हैं और उसमें भी भली प्रकार स्पष्ट व्यवहार है जिसमें ऐसी जागरण अवस्था में ज्ञान की एकता को कहते हैं कि इंद्रियों (नेत्र आदि) से रूप आदि विषयों का जिसमें ज्ञान हो ऐसी जाग्रत् अवस्था में ज्ञान के विषय (जो जाने जायँ) जो शब्द स्पर्श आदि आकाश आदि भूतों के गुण और उन गुणों के आश्रय आदि विचित्रता से अर्थात् गौ अश्व आदि के समान विलक्षण होने से परस्पर भिन्न हैं और बुद्धि से किया है, विवेक (विचार) जिसका ऐसा उन शब्द स्पर्श आदि का ज्ञान एकरूप (ज्ञान २) होने से अर्थात् एक आकार से प्रतीत होने से आकाश के समान भिन्न नहीं है। निदान शब्द का ज्ञान स्पर्श का ज्ञान इत्यादि ज्ञानों में शब्द आदि संबंधियों के भेद से ज्ञानका भेद प्रतीत होता है, वस्तुत: ज्ञान एक है और परमार्थ अवस्था में जब शब्द आदि के मिथ्यात्व का निश्चय होता है तब ब्रह्मरूप ज्ञान ही शेष रहता है। इससे ज्ञान एक रूप है। यहां यह प्रयोग (अनुमान) है कि विवाद का आस्पद जो संवित् (ज्ञान) वह स्वाभाविक भेद से शून्य है उपाधि के ज्ञान बिना अज्ञात है, भेद जिसका ऐसा होने से आकाश के समान अथवा शब्द की संवित् से स्पर्श की संवित् भिन्न नहीं है संवित् होने से स्पर्शसंवित् के समान--इस प्रकार अनुमान करने से एक ही ज्ञान के उपाधि से प्रतीत हुए भेद से भिन्न व्यवहार की सिद्धि होने पर वास्तविक भेद मानने में गौरव मानना पड़ेगा अर्थात् अनेक ज्ञान मानने पड़ेंगे। अनुमान में चार वस्तुएं होती हैं, पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टांत, जिसमें साध्य का संदेह हो उसे पक्ष और जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य और जिससे सिद्ध किया जाय उसे हेतु और जिसमें हेतु से साध्य का निश्चय प्रतीत हो उसे दृष्टांत कहते हैं। जैसे पर्वतों वह्निमान् धूमात् महानसवत् यहां पर्वत पक्ष वह्नि साध्य धूम हेतु महानस दृष्टांत है इसी प्रकार अन्य अनुमानों से भी समझना। भावार्थ यह है कि जानने योग्य शब्द स्पर्श आदि विषय गौ अश्व आदि के समान विलक्षणता से परस्पर भिन्न भिन्न हैं और बुद्धि से विचारा हुआ उनका ज्ञान एकरूप होने से भिन्न भिन्न नहीं है अर्थात् एक है।।३।।

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ।।४।।

इसी उक्त रीति को स्वप्न में दिखाते हैं कि जैसे जाग्रत अवस्था में विषयों की विचित्रता से घट पट आदि का भेद और ज्ञान का अभेद है, इसी प्रकार स्वप्न में भी भेद और अभेद है। इंद्रिय अपने अपने विषयों को छोड़ दें और जाग्रत अवस्था के संस्कार से जिसमें विषय सहित ज्ञान पैदा होता है उसे स्वप्न कहते हैं उसमें भी

विषयों के ही भेद हैं, ज्ञान का नहीं वह तो जाग्रत् अवस्था के समान स्वप्नावस्था में भी एक ही है यदि विषय और ज्ञान के भेद और अभेद से स्वप्न और जाग्रत् ये दोनों एकरूप ही हैं तो स्वप्न जाग्रत् यह भिन्न भिन्न व्यवहार किससे होता है, इस शंकाकी निवृत्ति के लिये स्वप्न जाग्रत् के भेद का कारण वर्णन करते हैं कि स्वप्न अवस्था में दीखता हुआ घट आदि वस्तुओं का समूह स्थिर नहीं होता क्योंकि उसका शरीर प्रतीति मात्र है और जाग्रत् अवस्था में जो वस्तु दीखती है वह स्थिर है क्योंकि वह कालांतर में भी दीखने के योग्य है इस प्रकार स्थिर अस्थिर विषयों की विलक्षणता से जाग्रत् और स्वप्न का भेद है। कदाचित् कोई शंका करे कि यदि स्वप्न जाग्रत् का भेद है तो उनके ज्ञान का भी भेद होगा सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के विषयों का जो ज्ञान है वह एकरूप होने से अर्थात् ज्ञान ज्ञान इस एकाकार प्रतीति होने से एक ही है–भावार्थ यह है कि वैसे ही स्वप्न में भी विलक्षणता से विषयों का भेद है ज्ञान का नहीं, परन्तु स्वप्न का विषय अस्थिर और जाग्रत् का स्थिर होता है, यही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं का भेद है और दोनों अवस्थाओं के विषयों का जो ज्ञान है वह एक रूप होने से भिन्न भिन्न नहीं है।।४।।

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोधो भवेत्स्मृतिः ।।
सा चाऽवबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ।।५।।

इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में ज्ञान की एकता को सिद्ध करके सुषुप्ति काल के ज्ञान की भी पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं के ज्ञान के संग एकता की सिद्धि के लिये प्रथम सुषुप्ति में ज्ञान को सिद्ध करते हैं कि पहले सोकर प्रातःकाल उठा अर्थात् सुषुप्ति से जगा जो पुरुष उसको सुषुप्ति में वर्तमान अज्ञान का जो ज्ञान है अर्थात् मैं ऐसा सुख से सोया कुछ भी ज्ञान न रहा वह अज्ञान का ज्ञान स्मरण है, प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के कारण इंद्रिय आदि के संनिकर्ष (संबंध) का और व्याप्तिज्ञान–हेतु आदि का उस समय अभाव है और स्मरणं उसी पदार्थ का हुआ करता है जिसका प्रथम ज्ञान हो चुका हो। यह व्याप्ति (नियम) जगत् में देखी है इससे वह सुषुप्ति समय का अज्ञान सुषुप्ति में जाना था यह मानना पड़ेगा। यहां भी यह अनुमान है कि विवाद का आस्पद जो मैं कुछ नहीं जाना यह अज्ञान का स्मरण है वह अनुभव से जन्य है स्मरण होने से वह मेरी माता है इस स्मृति के समान रहा यह अज्ञान का ज्ञान है वह स्मरण है और स्मरण ज्ञात पदार्थ का होता है, इससे सुषुप्ति में अज्ञान का ज्ञान हुआ था यह मानना पड़ेगा अन्यथा प्रातःकाल मरण न होता।।५।।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ।।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनांतरे ।।६।।
मासाब्दयुगकल्पेषु गताऽगम्येष्वनेकधा ।।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ।।७।।

उस अज्ञान के ज्ञानरूप अनुभव को अपना विषय जो अज्ञान उससे भेद और इतर ज्ञान से अभेद का वर्णन करते हैं कि वह बोध (ज्ञान) अर्थात् सुषुप्ति काल के अज्ञान का अनुभव अपने विषय अज्ञान से भिन्न है और बोध से इस प्रकार अभिन्न है जैसे स्वप्नकाल का ज्ञान जाग्रत् के ज्ञान से भिन्न नहीं होता है। यहां यह अनुमान समझना कि सुषुप्तिकाल के अज्ञान का ज्ञान विषय से भिन्न होने योग्य है बोध होने से घट के बोध के तुल्य और वह सुषुप्तिकाल के अज्ञान का ज्ञान अन्य ज्ञानों से भिन्न नहीं है बोध होने से स्वप्न के बोध के तुल्य। अब फलित को कहते हुए इसी न्याय को अन्यत्र भी दिखाते हैं कि इस प्रकार एक दिन की जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक ही है और इसी प्रकार अन्य दिन में भी ज्ञान का अभेद ही है जैसे एक दिन की तीनों अवस्थाओं में ज्ञान का अभेद है इसी प्रकार अन्य दिनों में अनेक प्रकार से बीते और आनेवाले दिन और चैत्र आदि मास और प्रभव आदि वर्षों से और कृत आदि युग और ब्राह्म आदि कल्पों में ज्ञान का अभेद ही है। अब ज्ञान के अभेद की सिद्धि का फल कहते हैं जिससे संवित् एक है, इससे न उदय होती है और न उत्पन्न होती है न अस्त होती है न नष्ट होती है, क्योंकि बिना साक्षी उत्पत्ति और नाश नहीं होते और अपने उत्पत्ति विनाश को वही संवित् आप नहीं जान सकती और दूसरी कोई संवित् है नहीं। इससे संवित् (ज्ञान) नित्य और एक ही है। कदाचित् कोई शंका करे कि अन्य तो संवित् है नहीं तो ग्राहक (ज्ञाता) के अभाव से इस संवित् का भी भान न होगा तो सब जगत् अंधा हो जायेगा, सो ठीक नहीं क्योंकि यह संवित् का स्वयं प्रकाशरूप है यहां यह अनुमान है कि संवित् स्वयं प्रकाशरूप है, किसी अन्य से जानने के अयोग्य होकर अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होने से। इस अनुमान में घटरूप व्यतिरेक दृष्टांत है जैसे घट स्वयंप्रकाशरूप नहीं है अन्य से जानने के अयोग्य होकर प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है किंतु इंद्रियों से जानना ही प्रत्यक्ष का विषय है। कदाचित् कोई शंका करे कि उक्त अनुमान में 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वात्' (जानने के अयोग्य होकर प्रत्यक्ष होने से) विशेषण (जानने के अयोग्य होकर) की असिद्धि है अर्थात् संवित् जानने योग्य है सो ठीक नहीं क्योंकि

संवित् ही संवित् को जानेगी तो वही कर्म और वही कर्ता मानने में विरोध होगा अर्थात् कर्ता और कर्म भिन्न भिन्न होते हैं एक नहीं और संवित् के जाननेवाली अन्य (दूसरी) संवित् मानोगे तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि उस दूसरी संवित् के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरी के ज्ञानार्थ चौथी माननी पड़ेगी, इस प्रकार कहीं भी स्थिति न होगी इससे स्वप्रकाशरूप से भासमान संवित् सबकी प्रकाशक है इससे जगत् की अंधता का प्रसंगरूप दोष नहीं है। भावार्थ यह है कि वह सुषुप्तिकाल के अज्ञान का बोध विषय से भिन्न है और स्वप्नकाल के बोध के तुल्य बोध से भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाओं में और उसी प्रकार अन्य दिनमास–वर्ष–युग–कल्प जो अनेक प्रकार से बीते और आगामी हैं उनमें संवित् एक ही है, न यह उदय होती है न अस्त किंतु यह संवित् एक स्वयंप्रकाशरूप है अर्थात् इसको किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है॥६॥७॥

इयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः ॥
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते ॥८॥

इस प्रकार संवित् नित्य और स्वप्रकाशरूप रही उससे क्या सिद्ध हुआ। इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि यह संवित् आत्मा है। यहां यह अनुमान है कि यह संवित् आत्मा होने योग्य है नित्य होकर स्वप्रकाश होने से घट के समान जैसे घट जिससे नित्य होकर स्वप्रकाश नहीं है इससे आत्मरूप नहीं है इस अनुमान से आत्मा को नित्य और संवित् रूप की सिद्धि से सत्य की भी सिद्धि हो गयी है क्योंकि नित्य से भिन्न सत्य नहीं होता है और वाचस्पति मिश्रों ने भी यह कहा है कि सत्यत्व रूप नित्यत्व जिसमें हो उसे नित्य सत्य कहते हैं। अब आत्मा को आनंदरूप सिद्ध करते हैं कि आत्मा परानंद है अर्थात् परम (सर्वोत्तम) आनंदरूप है निदान आत्मा से अधिक अन्य कोई सुख नहीं है क्योंकि जिससे वह आत्मा उपाधि से रहित सबसे अधिक प्रेम स्नेह का आस्पद (विषय) है उससे यहां यह अनुमान है कि आत्मा परमानंदरूप है उत्तम स्नेह का आस्पद होने से, उत्तम स्नेह का आस्पद वह नहीं हो सकता ज़ो परमानंदरूप नहीं होता जैसे घट जिससे यह आत्मा परप्रेम का आस्पद नहीं हैं यह नहीं कह सकते इससे परमानंदरूप नहीं है यह भी नहीं कह सकते। कदाचित् कोई शंका करे कि आत्मा के विषे मुझे धिक्कार है, इस द्वेष की भी प्रतीति होने से प्रेम का आस्पद आत्मा नहीं है परमप्रेम का आस्पद तो कहां से होगा सो ठीक नहीं क्योंकि वह प्रतीति दुःख के सबंध से होती है इससे अन्यथा सिद्ध है और प्रेम तो आत्मा के विषे अनुभव से सिद्ध है, इसी शंका का परिहार करते हैं कि जिस

कारण से आत्मा में इस प्रेम को सब देखते हैं अर्थात् सब जानते हैं कि मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो कि मेरी सत्ता ही सदा रहे इससे कोई असिद्धि नहीं है। भावार्थ यह है कि यह संवित् आत्मारूप है और परम प्रेम का आस्पद होने से यह आत्मा परमानन्दरूप है क्योंकि मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो किंतु मैं सदैव रहूं, इस प्रेम को आत्मा के विषे संपूर्ण जन देखते हैं॥८॥

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नवमन्यार्थमात्मनि ॥
अतस्तत्परमं तेन परमानंदताऽऽत्मनः ॥९॥

पक्ष में हेतु के अभावरूप स्वरूपासिद्धिरूप दोष तो मत हो पर प्रेम की उत्तमता में मान का अभाव है इससे हेतु में विशेषण की असिद्धिरूप दोष है इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि अपने से भिन्न पुत्र आदि में जो प्रेम है वह आत्मा के (अपने) लिये है क्योंकि वे सब आत्मा के ही शेष हैं अर्थात् अपनी प्रीति के लिये ही पुत्र आदि प्यारे हैं और पुत्र आदि में प्रेम स्वाभाविक नहीं है इस प्रकार आत्मा के विषे जो विद्यमान प्रेम है वह अन्य के लिये नहीं है अर्थात् आत्मा किसी अन्य का शेष नहीं है किंतु आत्मा के प्रेम का निमित्त आत्मा में रहनेवाला आत्मस्वरूप धर्म ही हेतु है इससे उपाधि से रहित होने से आत्मा में जो प्रेम है परम (सबसे श्रेष्ठ) है इससे सबसे उत्तम प्रेम का आश्रय होने से आत्मा परमानंदस्वरूप है अर्थात् सर्वोत्तम सुखरूप है यह सिद्ध हुआ। भावार्थ यह है कि जैसे पुत्र आदि में जो प्रेम है वह आत्मा के लिये है और ऐसे ही आत्मा में प्रेम अन्य के लिये नहीं है इससे आत्मा में प्रेम उत्तम है इससे आत्मा परमानंदरूप है॥९॥

इत्थं सच्चित्परानंद आत्मा युक्त्या तथाविधम् ॥
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यतेषूपदिश्यते ॥१०॥

इन पूर्वोक्त सात श्लोकों से सिद्ध किये अर्थ को संक्षिप्त से दिखाते हैं कि "शब्द स्पर्शादयः" इत्यादि से ज्ञान को नित्य सिद्ध किया और उस ज्ञान को ही 'इयमात्मा इस श्लोक से आत्मत्व सिद्ध किया और उससे आत्मा को सत् चित् रूपता और परमानंद इत्यादि से परम आनन्द का समर्थन (सिद्ध) किया। इस प्रकार आत्मा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में जो त्वं पद का अर्थ है वह सच्चिदानन्दरूप सिद्ध हुआ। कदाचित् कोई शंका करे कि इस प्रकार युक्ति से ही आत्मा की सच्चिदानंदरूपता सिद्ध हो गयी तो उपनिषदों का विषय न होने से अप्रमाणता हो जायेगी सो ठीक नहीं क्योंकि परब्रह्म भी वैसा ही है अर्थात् सच्चिदानंदरूप है और वही पूर्वोक्त महावाक्यों में तत् पद का अर्थ है उन तत् त्वं पदो की एकता अर्थात् अखंड

एकरसरूपता श्रुति के अंत (वेदांत) में प्रतिपादन (वर्णन) की गयी है अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता वेदांतों से प्रतीत होती है इससे वेदांत को निर्विषयता का प्रसंग नहीं हो सकता अर्थात् यह नहीं कह सकते कि पूर्वोक्त ब्रह्म वेदांतो का विषय नहीं है, भावार्थ यह है कि इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से जीवात्मा सत् चित् परमानंदरूप है और वैसे ही परब्रह्म भी परमानंदरूप है उन दोनों जीव ब्रह्मों की एकता (अभेद वा अद्वैत) का उपदेश संपूर्ण वेदांत करते हैं अर्थात् जीवब्रह्म का अभेद सिद्ध करते हैं।।१०।।

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ।।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानंदताऽऽत्मनः ।।११।।

अब आत्मा को परमानंदरूप में आशंका करते हैं कि आत्मा में परमानंदरूपता भासती है वा नहीं भासती अर्थात् प्रतीत होती है कि नहीं ? कदाचित् कहो कि प्रतीत नहीं होती तो आत्मा में परम प्रेम न होगा अर्थात् सबसे अधिक स्नेह न होगा क्योंकि स्नेह विषय की सुंदरता के ज्ञान से पैदा हुआ करता है कदाचित् परमानंदरूपता आत्मा में प्रतीत होती है तो सुख के हेतु स्रक् चंदन आदि में वा उनसे पैदा हुए सुख में इच्छा न होनी चाहिये क्योंकि सुखरूप फल की प्राप्ति होने पर साधन (हेतु) की इच्छा नहीं हुआ करती और जब सबसे उत्तम आनंद का लाभ हो गया तो क्षणिक (अनित्य) और जो अनेक कारणों के अधीन आदि दोषों से युक्त हो ऐसे विषय सुख की इच्छा होनी भी अयुक्त है इससे आत्मा आनंदरूप नहीं हो सकता अन्य कोई प्रकार (रीति) यहां नहीं हो सकता, इससे परिहार (समाधान) करते हैं कि जिसके भासने और न भासने दोनों पक्षों में दोष है इस कारण यह आत्मा की परमानंदरूपता भान होने पर भी भान नहीं होती अर्थात् प्रतीत होती भी प्रतीत नहीं होती। भावार्थ यह है कि आत्मा की परम आनंदता का भान न मानोगे तो परस्नेह वह न होगा और भान मानोगे तो विषयों की इच्छा न होगी इससे यह आत्मा की परमानंदरूपता भान होने पर भी भान न होने के समान है अर्थात् प्रकटता से प्रतीत नहीं होती।।११।।

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबंधेन युज्यते ।।१२।।

कदाचित् शंका करो कि एक वस्तु का एक काल में भान और अभान युक्त नही हो सकता। इस शंका में यह विकल्प है कि यह अयुक्त होना कहीं देखा नहीं वा इसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। पहला (देखा नहीं) तो ठीक हो नहीं सकता

क्योंकि जैसे वेद के अनेक पढ़नेवाले बालकों के समूह में बैठे हुए पुत्र का जो शब्द उसके समान (सामान्य रूप से भासते हुए का भी यह मेरे पुत्र का शब्द है यह विशेष रूप से भान नहीं होता वैसे ही) आत्मा का परमानंद भी भान होने भर नहीं भासने के समान हो सकता है और उस परमानन्द के भान की सिद्धि नहीं हो सकती यह भी ठीक नहीं क्योंकि भान (स्फुरना) के प्रतिबंध से (जो कहेंगे) भान का भी अभान हो सकता है. अर्थात् सामान्यरूप से प्रतीति होने पर भी विशेष रूप से प्रतीति का न होना युक्त है। भावार्थ यह है कि अनेक पढ़नेवालों के मध्य में पढ़ते हुए पुत्र का जो पढ़ने का शब्द उसके समान भान में भी अभान युक्त है वा भान के प्रतिबंध (विघ्न) से भान में अभान युक्त हो सकता है।।१२।।

प्रतिबंधोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।।
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योपादनमुच्यते ।।१३।।

अब प्रतिबंध को कहते हैं कि अस्ति भाति (है, प्रकाशता है) इस प्रकार व्यवहारयोग्य वस्तु में उस पूर्वोक्त व्यवहार को दूर करके भ्रम आदि के द्वारा उससे विरुद्ध जो नहीं है, नहीं भासता यह व्यवहार उसकी जो उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहते हैं अर्थात् विद्यमान और प्रकाशमान वस्तु भी भ्रम से अविद्यमान और अप्रकाशमान सी प्रतीत होती है। भावार्थ यह है कि 'है–भासता है' इस व्यवहार के योग्य वस्तु में नहीं है नहीं भासता इस विरुद्ध व्यवहार की जो पूर्वोक्त व्यवहार को दूर करके उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहते हैं।।१३।।

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहाऽनादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबंधनम् ।।१४।।

अब पूर्वोक्त प्रतिबंध हेतु को दृष्टांत और दार्ष्टांतिक में दिखाते हैं कि पुत्र के अध्ययन का जो शब्द उसके सुनने में समानाभिहार (बहुतों का संग पढ़ना) विशेषरूप से पुत्रशब्द के न जानने में प्रतिबंधक है–और आत्मा की परमानंद का जो अभान उसमें अनादि जो अविद्या (अज्ञान) वही एक व्यामोह (विपरीत) ज्ञान का कारण है अर्थात् अविद्या से भासमान वस्तु भी नहीं दीखती क्योंकि मूलाज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति के बिना परमानंद का ज्ञान नहीं हो सकता । भावार्थ यह है कि पुत्रशब्द के सुनने में अनेकों के संग पढ़ना और यहां अनादि अविद्या ही विपरीत ज्ञान का हेतु है।।१४।।

चिदानंदमयब्रह्मप्रतिबिंबसमन्विता ।।
तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।१५।।

अब पूर्वोक्त प्रतिबंध का कारण जो अविद्या उसके कहने के लिये उस अविद्या का मूल जो प्रकृति उसका वर्णन करते हैं कि चिदानन्दरूप जो ब्रह्म उसके प्रतिबिंब से युक्त जो तमोगुण रजोगुण सत्त्वगुणरूप अर्थात् सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणों की साम्य (बराबर) अवस्था उसे प्रकृति कहते हैं और वह प्रकृति दो प्रकार की है और चकार से आगे से जो वर्णन किया जायेगा वह भी प्रकार है। भावार्थ यह है कि सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म के प्रतिबिंब से युक्त जो तमोगुण रजोगुण सत्त्वगुण रूप प्रकृति वह दो प्रकार की है।।१५।।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ।।
मायाबिंबो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।।१६।।

अब दोनों भेद और उनके कारणों का वर्णन करते हैं कि सत्त्वगुण की जो शुद्धि अर्थात् प्रकाशरूप सत्त्वगुण जो रजोगुण तमोगुणों से मलिनता का अभाव और अन्य गुणों से जो अविशुद्धि (मलिनता) उनसे वह प्रकृति माया और अविद्यारूप शास्त्र में मानी है अर्थात् शुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया और मलिन सत्त्वगुण प्रधान अविद्या होती है। अब माया और अविद्या के भेद का फल दिखाते हैं कि माया में पड़ा है प्रतिबिंब जिसका ऐसा चिदात्मा (परब्रह्म) उस माया को वश में (अपने अधीन) करके व तन से सबके ज्ञान आदि गुणों से युक्त सर्वज्ञ ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियंता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं। भावार्थ यह है कि सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि से वे दोनों क्रम से माया और अविद्या मानी हैं और माया का बिंब माया को वश में करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है अर्थात् मायोपाधिकको ईश्वर कहते हैं।।१६।।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ।।१७।।

अविद्या के वश में प्राप्त हुआ अर्थात् अविद्या में प्रतिबिंबरूप से स्थित अविद्या के परतन्त्र जो चिदात्मा वह जीव है और वह जीव उपाधिरूप अविद्या की विचित्रता से अर्थात् अविद्या से पैदा हुई अशुद्धि के न्यून अधिक भाव से देव मनुष्य तिर्यक् आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है—जैसे* मुंज से ईषी का (अग्रशलाका) को पृथक् कर लेते हैं इसी प्रकार तीनों शरीरों से धीर पुरुष युक्तियों से आत्मा को पृथक् जान लेते हैं, इस वचन से तीनों शरीरों से पृथक् किये जीवात्मा को परब्रह्मरूप कहेंगे—उसमें वे तीन शरीर कौन से हैं और उन शरीरोपाधी जीव का क्या रूप है इस आकांक्षा

* यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः । शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ।।

की निवृत्ति के लिये उन शरीर आदिकों का क्रम से वर्णन करते हैं कि वह अविद्या कारण शरीर होती है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीर का कारण शरीर है क्योंकि प्रकृति – का अवस्था विशेष होने से उस अविद्या को कारण और तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाने से शरीर कहाती है और उस कारण शरीर का अभिमानी अर्थात् उसके तादात्म्य (एकता) अध्यास से अहम् इस अभिमानवाला और अविनाशीरूप अनुभव (ज्ञान) प्रज्ञा (बुद्धि) वाला होने से प्राज्ञ कहाता है अर्थात् उसको प्राज्ञ कहते हैं। भावार्थ यह है कि अविद्या का वशीभूत जो जीव है वह अविद्या की विचित्रता से देव मनुष्य आदिरूप अनेक प्रकार का है और अविद्या कारणशरीर कहाती है और उस अविद्या के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं।।१७।।

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।।
वियत्पवनतेजोंबुभुवो भूतानि जज्ञिरे ।।१८।।

अब क्रम से प्राप्त हुए सूक्ष्म शरीर का और सूक्ष्म शरीर है उपाधि जिसकी ऐसे जीव का वर्णन करने के लिये सूक्ष्म शरीर के कारण आकाश आदि की सृष्टि का वर्णन करते हैं कि उन प्राज्ञ अभिमानी जीवों के भोगार्थ अर्थात् सुख दुःख की प्राप्ति के लिये तमोगुण है प्रधान (मुख्य) जिसमें ऐसी पूर्वोक्त प्रकृति (उपादानकारणरूप) से जगत के अधिष्ठाता ईश्वर की आज्ञा से अर्थात् ईक्षापूर्वक रचने की इच्छारूप निमित्तकारणरूप आज्ञा से आकाश वायु तेज जल भूमि ये पांचो भूत पैदा हुए अर्थात् अभिन्न (तद्रूप) निमित्तोपादानरूप माया से पांचों भूत उत्पन्न हुए। भावार्थ यह है कि उन जीवों के भोगार्थ तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी प्रकृति से ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आकाश आदि पांचो भूत उत्पन्न हुए।।१८।।

सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धींद्रियपंचकम् ।।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ।।१९।।

अब पांचों भूतों की सृष्टि को कहकर भूतों से उत्पन्न हुई उस सृष्टि को कहता हुआ आचार्य प्रथम ज्ञानइंद्रियों की सृष्टि को कहता है कि उन आकाश आदि कारणरूप पांचो भूतों के जो पांच सत्त्वगुणी भाग उनसे श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना घ्राण नाम की पांच ज्ञानइंद्रिय पैदा हुईं अर्थात् एक एक भूत के सत्त्वगुणीभाग से श्रोत्र आदि ज्ञानइंद्रिय क्रम से उत्पन्न हुईं। भावार्थ यह है कि उन भूतों के पांचों सत्त्वगुणी भागों से श्रोत्र त्वचा अक्षि रसना घ्राण ये पांचों ज्ञानइंद्रिय क्रम से उत्पन्न हुईं।।१९।।

तैरंतःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्‌द्विधा ॥
मनो विमर्शरूपं स्याद्‌बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥

सत्त्वगुणी भागों के पृथक् पृथक् कार्य को कहकर सबके असाधारण कार्य को कहते हैं कि मिले हुए उन संपूर्ण सत्त्वगुणी भागों से मन और बुद्धि का उपादानरूप अंतःकरण पैदा हुआ और वह अन्तःकरण वृत्ति (परिणाम) के भेद से दो प्रकार का है। उसी वृत्ति के भेद को दिखाते हैं कि संशयरूप वृत्ति है स्वरूप जिसका वह मन होता है और निश्चयरूप है वृत्ति जिसकी यह बुद्धि होती है अर्थात् मन का संदेह और बुद्धि का निश्चय कर्म होता है। भावार्थ यह है मिले हुए भूतों के सत्त्वगुणी भागों से अंतःकरण होता है, अंतःकरण वृत्ति के भेद से दो प्रकार का है कि संशयरूप मन और निश्चयरूप बुद्धि होती है॥२०॥

रजोंऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेंद्रियाणि तु ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

अब क्रम से प्राप्त रजोगुणी भागों के पृथक् असाधारण (भिन्न भिन्न) कार्यों की कहते हैं कि उन आकाश आदि के पांचो रजोगुणी भागों से अर्थात् उपादान कारणरूप अंशों से वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नाम की पांच कर्मइंद्रिय अर्थात् कार्य की कर्ता इंद्रिय उत्पन्न हुईं। एक एक भूत के रजोगुणी भाग से एक एक इंद्रिय का जन्म हुआ। भावार्थ यह है कि पांचों भूतों के रजोगुणी भागों से वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नाम की पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुईं॥२१॥

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पंचधा ॥
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

अब रजोगुणी भागों के साधारण कार्य को कहते हैं किं उन मिले हुए संपूर्ण रजोगुणी भागों से प्राण उत्पन्न होता है और वह प्राण प्राणन (जीवना) आदि वृत्ति के लिये भेद से प्राण अपान समान उदान व्यानरूप से पांच प्रकार का है॥२२॥

बुद्धिकर्मेंद्रियप्राणपंचकैर्मनसा धिया ॥
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥२३॥

जिसके लिये प्राण पर्यंत आकाश आदि की सृष्टि का वर्णन किया उस फल को अब दिखाते हैं कि पांचों ज्ञानेन्द्रिय और पांचो कर्मेन्द्रिय और पांचो प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर होता है और उसको लिंगशरीर कहते हैं अर्थात् इन सत्रह तत्त्वों का ही लिंगशरीर नाम वेदांतों में कहा है॥२३॥

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्त्वं प्रपद्यते ।।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ।।२४।।

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर को कहकर उस सूक्ष्म शरीर के अभिमान से प्राज्ञ और ईश्वर की अन्य भी अवस्था को कहते हैं कि मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या है उपाधि जिसकी ऐसा जीव तेज शब्द के वाच्य (अर्थ) अन्तःकरण से उपलक्षित (जान) लिंगशरीर के अभिमान से अर्थात् तादात्म्य (एकता) के अध्यात्म से तैजस नाम को प्राप्त होता है अर्थात् सूक्ष्मशरीर के अभिमानी को तैजस कहते हैं और शुद्धतत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी माया जिसकी उपाधि है ऐसा परमेश्वर उस लिंगशरीर मे अहं (मैं हूं) इस अभिमान से हिरण्यगर्भ नाम को प्राप्त होता है अर्थात् लिंगशरीर के अभिमानी ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं और यह शंका न करनी कि तैजस हिरण्यगर्भ इन दोनों को जब शरीर का अभिमान तुल्य है तो उनके भेद का क्या कारण होगा क्योंकि उन तैजस और हिरण्यगर्भ का व्यष्टि समष्टि भाव है अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीर के अभिमानी को तैजस कहते हैं और सम्पूर्ण लिंगशरीर के अभिमानी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। भावार्थ यह है कि एक लिंगशरीर के अभिमानी प्राज्ञ को तैजस और सब लिंगशरीरों के अभिमानी ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं और उन दोनों का व्यष्टि समष्टिभावरूप से भेद है।।२४।।

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यंते व्यष्टिसंज्ञया ।।२५।।

ईश्वर के समष्टिरूप और जीवों के व्यष्टिरूप होने में कारण का वर्णन करते हैं कि ईश्वर अर्थात् हिरंण्यगर्भ सम्पूर्ण तैजस लिंगशरीर को अपनी आत्मा के संग एकता के ज्ञान से समष्टि होता है और ईश्वर से अन्य जो जीव हैं वे अपनी आत्मा के संग सबको एकता के अभाव से व्यष्टि कहते हैं अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीर में उनकी एकता है इससे उन्हें व्यष्टि कहते हैं।।२५।।

तद्भोगाय पुनर्भोगभोगायतनजन्मने ।।
पंचीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ।।२६।।

इस प्रकार लिंगशरीर को और लिंगशरीरोपाधिक तैजस हिरण्यगर्भ को दिखाकर स्थूल शरीर की जो उत्पत्ति उसकी सिद्धि के लिये पंचीकरण के निरूपणार्थ कहते हैं कि भगवान् अर्थात् ऐश्वर्य धर्म यश श्री ज्ञान वैराग्य इन छः गुणों से युक्त परमेश्वर बारम्बार उन जीवों के भोगार्थ और अन्न पान आदि भोग्य पदार्थ और जरायुज आदि चौबीस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति के लिये आकाश आदि प्रत्येक

पांचों भूतों का पंचीकरण कहते हैं अर्थात् एक एक भूत को पांच पांच प्रकार का करते हैं, भावार्थ यह है कि जीवों के भोग और अन्न पान और शरीर इनके अर्थ परमेश्वर आकाश आदि पांचों भूतों का पंचीकरण कहते हैं।।२६।।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ।।२७।।

अब एक एक को पांच पांच रूपता के हेतु पंचीकरण को कहते हैं कि आकाश आदि एक एक भूतों के दो दो भाग करके और दोनों भागों में प्रथम भाग के चार चार भाग करके जिस भूत के चार भाग हों उससे भिन्न चारों भूतों का जो स्थूल दूसरा दूसरा भाग है उस उस के सङ्ग प्रथम भाग के चार चार भागों के मध्य में से एक एक भाग के मिलाने से वे आकाश आदि पांचों भूत पांच पांच प्रकार के होते हैं अर्थात् एक भूत में आधा भाग अपना और आधे में चारों भूतों का एक एक भाग होने से चारों भूत होते हैं और सब भूतों में अपना अपना आधा जो अधिक* भाग है इससे आकाश आदि में आकाश आदि का ही व्यवहार होता है पवन आदि का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि व्यासजी ने इस सूत्र में यही लिखा। भावार्थ यह है कि एक एक भूत के दो दो भाग करके और उनमें से प्रथम भाग के चार भाग करके अपने से भिन्न दूसरे भागों में सबका एक एक भाग मिलाने से वे आकाश आदि भूत पांच पांच प्रकार के होते हैं।।२७।।

तैरंडस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ।।२८।।

अब पंचीकरण को कहकर उन भूतों से उत्पन्न हुए कार्यो के समूह को दिखाते हैं कि उन पंचीकरण किये भूतों से सम्पूर्ण ब्रह्मांड उत्पन्न होता है और उस ब्रह्मांड में ब्रह्मांड के अन्तर्गत भूमि के ऊपर के भाग में वर्तमान भूमि आदि सात लोक और भूमि के नीचे के भाग में वर्तमान अतल आदि सात पाताल और उन भुवनों में उन उन प्राणियों के भोगार्थ अन्न आदि और उस उस लोक में उचित शरीर उन्हीं पंचीकरण किये भूतों से ईश्वर की आज्ञा के अनुसार पैदा होते हैं । इस प्रकार स्थूल शरीर की उत्पत्ति को कहकर उस स्थूल शरीर के अभिमानी समष्टिरूप हिरण्यगर्भ की वैश्वानर संज्ञा को और एक एक स्थूल शरीर के अभिमानी व्यष्टिरूप तैजसों की विश्वसंज्ञा को कहते हैं कि इस स्थूल देह में वर्तमान हिरण्यगर्भ में वैश्वानर होता है

---

* आधिक्यात्तद्वादस्तद्वादः

अर्थात् स्थूल शरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ को वैश्वानर कहते हैं। भावार्थ यह है कि पंचीकरण किये भूतों से ब्रह्मांड चौदह भुवन अन्न आदि भोग्य और शरीर उत्पन्न होते हैं और इस स्थूल शरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ को वैश्वानर कहते हैं।।२८।।

तेजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।।
ते पराग्दर्शिनःप्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ।।२९।।

उसी स्थूल शरीर में वर्तमान (अभिमानी) तैजस विश्वसंज्ञा को प्राप्त होते हैं और वे देवता तिर्यक् (सर्प आदि) और मनुष्य आदि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं अब विश्वसंज्ञा को प्राप्त हुए उन जीवों को तत्त्वज्ञानरहित होने से संसार की प्राप्ति का प्रकार दृष्टांतसहित दो श्लोकों से वर्णन करते हैं कि वे दोष आदि पराक्दर्शी हैं अर्थात् शब्द आदि विषयों को ही जानते हैं प्रत्यगात्मारूप परब्रह्म को नहीं जानते क्योंकि श्रुति में लिखा है कि ब्रह्मा ने इनकी इंद्रिय पराक ही रची हैं, इससे पराक् को देखतें हैं अंतरात्मा को नहीं। कदाचित् शंका करो कि तार्किक देह से भिन्न आत्मा को नहीं जानते सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि देहरूप आत्मा को वे जानते हैं तो भी श्रुति* से सिद्ध तत्त्व को नहीं जानते इस अभिप्राय से कहा है कि प्रत्येक आत्मा को नहीं जानते । भावार्थ यह है कि तैजस (जीव) विश्व संज्ञा को होकर देवता तिरछे मनुष्य आदि रूप होते हैं और वे प्रत्यक् (व्यापक) आत्मा के बोध से रहित होते हैं।।२९।।

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ।।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तांतरमाशु ते ।।
व्रजंतो जन्मनो जन्म लभंते नैव निर्वृतिम् ।।३०।।

इसी से सुख आदि के भोगार्थ मनुष्य आदि शरीरों में टिककर उस उस शरीर के योग्य कर्मों को कहते हैं और फिर भी कर्म करने के लिये देव आदि शरीरों से उन कर्मों के फलों को भोगते हैं क्योंकि फल के ज्ञान बिना उन उन के सजातीय कर्म की इच्छा के न होने से उन कर्मों का साधन भी न होगा। इस प्रकार वर्तमान वे जीव नदी के प्रवाह में पड़े हुए कीट जैसे एक आवर्त (कुंड) से दूसरे आवर्त में शीघ्रता से जाते हुए सुख को प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार जीव भी एक जन्म में सें दूसरे जन्म में प्राप्त हुए सुख को प्राप्त नहीं होते अर्थात् उस उस जन्म में उनको दुःख भोगने पड़ते हैं। भावार्थ यह है कि वे जीव भोग के लिये कर्म करते हैं और पुनः कर्म करने के लिये

* पराचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराक् पश्यन्ति नांतरात्मानम् ।

फल को भोगते हैं और नदी में कीट एक कुंड से दूसरे कुंड में शीघ्र जाते हैं इसी प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हुए सुख को प्राप्त नहीं होते।।३०।।

सत्कर्मपरिपाकांते करुणानिधिनोद्धृताः ।।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यंति यथासुखम् ।।३१।।

इस पूर्वोक्त प्रकार से जीवों को संसार की प्राप्ति को कहकर संसार की निवृत्ति के उपाय को दिखाने के लिये प्रथम दृष्टांत को कहते हैं कि पूर्व किये शुभ कर्म के परिपाकवश किसी दयालु पुरुष ने नदी के प्रवाह में से बाहर निकाले हुए वे कीट किसी तीर के वृक्ष की छाया का आश्रय लेकर जैसे सुख से विश्राम करते हैं अर्थात् सुख भोगते हैं।।३१।।

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।।
पंचकोशविवेकेन लभंते निर्वृतिं पराम् ।।३२।।

अब दृष्टांत सिद्ध किये अर्थ को दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि इसी उक्त प्रकार से पूर्व जन्म में संचित किये पुण्यकर्म के परिपाकवश तत्त्व का दर्शी जो आचार्य अर्थात् जीवों से अभिन्न (एकरूप) ब्रह्म के ज्ञाता गुरु के सकाश से उपदेश को अर्थात् तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अर्थों का साधन जो वेदांतशास्त्र का श्रवण (जो आगे कहेंगे) उसको प्राप्त होकर अन्न आदि पांचों कोशों के विवेक से अर्थात् पंचकोशों से भिन्न आत्मा के ज्ञान से मोक्षरूप परम सुख को प्राप्त होते हैं। भावार्थ यह है कि इसी प्रकार तत्त्व के ज्ञाता आचार्य के उपदेश को प्राप्त होकर पांचों कोशों के विवेक से वे जीव मुक्त हो जाते हैं।।३२।।

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पंच ते ।।
कोशान्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ।।३३।।

अब अन्न आदि पांच कोशों का उपदेश कहते हैं कि अन्न, प्राण, मन, बुद्धि, आनंद–ये पांच कोश हैं । यहां बुद्धि से विज्ञान लेते हैं, अब अन्न आदिकों को कोश शब्द का अर्थ होने में कारण कहते हैं कि उन कोशों से आच्छादित (ढ़का) हुआ स्वात्मा अर्थात् अपना स्वरूप आत्मा अपने स्वरूप के विस्मरण (भूलने) से जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है जैसे कोश कोशकारी (अंजनहारी) कीट को ढ़ककर क्लेश देता है इसी प्रकार अन्नमय आदि भी अद्वयानंदरूप ब्रह्म का आवरण करके आत्माको क्लेश के हेतु हैं इससे कोश कहाते हैं। भावार्थ यह है कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनंद पांच कोश हैं, इनसे आवृत्त (ढ़का) आत्मा अपने स्वरूप के विस्मरण से संसार को प्राप्त होता अर्थात् जन्ममरण आदि दुःखोंको भोगता है।।३३।।

स्यात्पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।।
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ।।३४।।

अब क्रम से कोशों के स्वरूप कहते हैं कि पंचीकरण किये पांच भूतों से पैदा हुआ जो स्थूल देह वह अन्नमय कोश होता है और लिंगशरीर के विषे वर्तमान जो रजोगुण के कार्यरूप प्राण अपाप आदि पांचो वायु और वाक् आदि पांचों कर्मेन्द्रिय इन दशों सहित प्राणमय कोश होता है अर्थात् इन दशों को प्राणमयकोश कहते हैं भावार्थ यह है कि पंचीकृत भूतों से पैदा हुए स्थूल देह को अन्नमय कोश और रजोगुण पांच प्राण और पांचों कर्मेन्द्रियों को प्राणमय कोश कहते हैं।।३४।।

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ।।३५।।

प्रत्येंक भूतों ने सत्त्वगुणों से उत्पन्न हुई जो पांचों ज्ञानेन्द्रिय उनसे युक्त जो संशयात्मा मन वह मनोमय कोश होता है अर्थात् श्रोत्र आदि इंद्रिय और मन मनोमय कोश कहाते हैं और उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और भूतों का सत्त्वगुण कार्यरूप जो निश्चयात्मक बुद्धि वह विज्ञानमय कोश होता है अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानेन्द्रियोंसहित निश्चयकारिणी बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। भावार्थ यह है कि सत्त्वगुणी ज्ञानेन्द्रियों सहित संशयरूप मन, मनोमय कोश और उन्हीं इन्द्रियोंसहित निश्चयरूप बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।।३५।।

कारणे सत्त्वमानंदमयो मोहादिवृत्तिभिः ।।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ।।३६।।

पूर्वोक्त कारणशरीर अविद्या में जो मलिन सत्त्व है वह प्रिय मोद प्रमोद नाम की वृत्तियों से अर्थात् इष्ट का दर्शन, लाभ, भोग से पैदा हुए सुखविशेषोंसहित आनंदमय कोश होता है। कदाचित् कोई शंका करे कि स्थूल शरीर आदि अन्नमय आदि शब्द के अर्थ हैं इसमें तो यह श्रुति प्रमाण है कि वह यह आत्मा अन्नरसमय है यह प्रारंभ करके कहा है कि उस इस अन्नरसमय आत्माके अन्य अंतर आत्मा* प्राणमय है और अन्य अंतर आत्मा मनोमय है इत्यादि सुनने से स्थूल शरीर अन्नमय कोश हो सकता है आत्मा को अन्नमय आदि होने में क्या प्रमाण है ? इस शंका का उत्तर कहते हैं कि देह आदि को तो अन्न आदि का विकार होने से अन्नमय कहते हैं और आत्मा को तो

* स वा एष आत्मा अन्नरसमयः। तस्माद्वाएतस्मादन्नरसमयादन्योतर आत्मा प्राणमयः। अन्योतर आत्मा मनोमयः।

उस उस कोश के संग तादाम्य (एकता) के अध्यास (मानना) से अन्नमय आदि कहते हैं कि प्रत्यगात्मा उस उस कोश के संग तादाम्य के अभिमान से उस उस कोशमय होता है व्यवहार काल में अन्नमय आदि कोशों की प्रधानता है इससे आत्मा भी अन्नमय आदि कहाता है और परमार्थ दृष्टि से तो आत्मा कोशों से विलक्षण है इसी से तू शब्द पढ़ा है। भावार्थ यह है कि कारणशरीर में जो मलिन सत्त्वगुण है मोद आदि वृत्तियोंसहित वह आनंदमय कोश होता है और आत्मा को उस उस कोश के अध्यास से उस उस कोशमय होता है अर्थात् अन्नमयोऽहम् (मैं अन्नमय हूं) इत्यादि अन्नमय आदि रूप हो जाना है।।३६।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः ।।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ।।३७।।

कदाचित् शंका करो कि इस प्रकार का आत्मा कैसे ब्रह्मरूप हो सकता है इसका समाधान यह है कि कोशों से विवेक करने से होता है, उसी विवेक को कहते हैं कि आगे वर्णन करने योग्य अन्वय और व्यतिरेक से अर्थात् संबंध और अभाव से अन्नमय आदि पांचों का आत्मा से पृथक् विवेक ज्ञान से अथवा प्रत्यगात्मा के पंचकोशों से पृथक् करने से अपने आत्मा को कोशों से उद्धार करके अर्थात् बुद्धि से निकालकर चिदानंदस्वरूप का निश्चय करके पूर्वोक्त स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मरूप होता है भावार्थ यह है कि अन्वय व्यतिरेक से पंचकोशों से आत्मा के विवेकसे पंचकोशोंसे अपने आत्माको उद्धार करकें जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है।।३७।।

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ।।३८।।

अर्थात् कहने को इष्ट जो अन्वय व्यतिरेक उनको दिखाते हैं कि स्वप्न में अन्नमय कोशरूप स्थूलदेह की तो अप्रतीति होती है और प्रत्यक् आत्मा की स्वप्न के साक्षीरूप से प्रतीति (स्फूर्ति) होती है यही आत्मा का अन्वय (व्यापकता) कहाता है और उसी स्वप्न अवस्था में उस आत्मा का भान (प्रतीति) होने से अन्य जो स्थूल देह उसकी अप्रतीति को व्यतिरेक कहते हैं इस प्रकरण में अन्वय व्यतिरेक से अनुवृत्ति और व्यावृत्ति क्रम से लेते हैं अर्थात् जो सब अवस्थाओं में रहे उसका अन्वय और जो सब अवस्थाओं में न रहे उसका व्यतिरेक (अभाव) होता है। भावार्थ यह है कि स्वप्न में स्थूलदेह के अभान में जो आत्मा का भान उसको अन्वय और स्वप्न में ही आत्मा के भान में जो स्थूलदेह का अभान उसको व्यतिरेक कहते हैं।।३८।।

लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ॥
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते ॥३९॥

इस प्रकार स्थूलदेह को आत्मा से भिन्नरूप के बोधक अन्वय व्यतिरेक दिखाकर लिंगदेह को भी आत्मरूप से भिन्नता के बोधक अन्वय व्यतिरेकों को दिखाते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में लिंगदेह की अप्रतीति होने पर जो आत्मा का भान है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था के साक्षिरूप से जो आत्मा का स्फुरण है वह आत्मा का अन्वय है और आत्मा के भान में जो लिंगदेह का अभान (अस्फुरण) है उसको व्यतिरेक कहत हैं अर्थात् आत्मा का भान है और लिंगदेह का नहीं इस भाव अभाव को ही अन्वय व्यतिरेक कहते हैं। भावार्थ यह है कि सुषुप्ति में लिंगदेह के अभान में जो आत्मा का भान वह अन्वय और आत्मा के भान में जो लिंगदेह का अभान वह व्यतिरेक कहाता है॥३९॥

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ॥
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥४०॥

पंचकोशों के विवेक से प्रारंभ करके लिंगदेह का विवेचन प्रकरणविरुद्ध है यह आशंका करके यह कहते हैं कि प्राणमय आदि कोशों का लिंग देह में ही अंतर्भाव होने से प्रकरण का विरोध नहीं है कि उस लिंगशरीर के विवेक से प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशों का भी विवेक हुआ ही समझना, क्योंकि उस लिंगशरीर में ही सत्त्वगुण रजोगुण की अवस्था के भेद से ही अर्थात् गुणप्रधान भाव से ही वे तीनों पूर्वोक्त कोश पृथक् दिखाये हैं, भावार्थ यह है कि लिंगदेह के विवेक से प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशों का भी विवेक समझना चाहिये क्योंकि वे तीनों कोश गुणों की अवस्था के भेद से पृथक् पृथक् किये हैं॥४०॥

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ॥
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥४१॥

अब जिसको आनंदमय कोश कहते हैं ऐसे कारण के विवेक का उपाय कहते है कि आगे वर्णन करने योग्य समाधि अवस्थाओं में सुषुप्ति के अभान होने पर अर्थात् सुषुप्ति शब्द से उपलक्षित कारणशरीररूप अविद्या की अप्रतीति होने पर केवल आत्मा का ही जो भान (स्फुरण) है वह आत्मा का अन्वय है और आत्मा के भान होने पर जो सुषुप्ति का अभान अर्थात् सुषुप्ति से उपलक्षित अज्ञान की अप्रतीति उसको व्यतिरेक कहते हैं। यहां यह अनुमान है कि प्रत्यगात्मा अन्नमय आदि से भिन्न है अन्नमय आदिकों को व्यावृत्ति (अभाव) होने पर भी स्वयं अव्यावृत्त होने से

जिनकी व्यावृत्ति होने पर भी व्यावृत्ति नहीं होती वह उनसे भिन्न होता है जैसे पुष्पों से सूत्र और गौ आदि खंड व्यक्तियों से गोत्वरूप जाति भिन्न नहीं होते। भावार्थ यह है कि समाधि में सुषुप्ति के अभाव होने पर आत्मा के भान को अन्वय और आत्मा के भान होने पर सुषुप्ति के अभान को व्यतिरेक कहते हैं।।४१।।

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ।।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ।।४२।।

अन्वयव्यतिरेकों से पंचकोशों से किया है विवेक जिसका ऐसे जीवात्मा को ब्रह्म की प्राप्ति होती है यह कह आये, उसके कहनेवाली (अंगुष्ठमात्रः पुरुषोंतरात्मा इत्यादि तं विद्याच्छुक्रममृतम् इत्यंता) जो यह कंठ की श्रुति है उसके अर्थ को पढ़ते हैं कि जैसे मुंज नाम के तृण विशेष से गर्भ के कोमल तृणरूप इषीका को युक्ति से अर्थात् ऊपर से आच्छादक जो स्थूल स्थूल पत्ते उनके छेदनरूप उपाय से उद्धार कर लेते हैं अर्थात् इषीका को मुंज में से निकाल लेते हैं इसी प्रकार आत्मा को भी अन्वय व्यतिरेकरूप उपाय से पूर्वोक्त तीनों शरीरों में ब्रह्मचर्य आदि साधनों से युक्त धीर अधिकारी जन उद्धार कर लेते हैं अर्थात् पृथक् जान लेते हैं और वह पृथक् किया जीवात्मा परब्रह्मरूप ही हो जाता है क्योंकि चिदानंदरूप लक्षण दोनों में तुल्य है। भावार्थ यह है कि जैसे युक्ति के द्वारा भुंज में से इषीका को निकाल लेते हैं ऐसे ही धीर पुरुष तीनों शरीरों से आत्मा को पृथक् कर लेते हैं और पृथक् किया वह परब्रह्मरूप हो जाता है।।४२।।

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता ।।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ।।४३।।

इतने पूर्वोक्त ग्रंथ के संदर्भ से सफल तत्त्वज्ञान का निरूपण हो चुका तो अग्रिमग्रंथ का आरंभ न होगा यह आशंका करके ग्रंथ की आरंभसिद्धि के लिये वृत्तांत के कथनपूर्वक अग्रिम ग्रंथ के तात्पर्य को कहते हैं कि इस उक्त प्रकार से जीव और परमात्मा है और जो तत्त्व पदों के अर्थरूप परमात्मा जीवात्मा हैं उनकी एकता (अभिन्नता) लक्षणों की समानता के दिखाने आदि उपायरूप युक्ति से अंगीकार करायी और वह एकता तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से भाग (विरोधी अंश) के त्याग से लक्षित होती है अर्थात् लक्षणरूप वृत्ति से जानी जाती है। भावार्थ यह है कि युक्त से अंगीकार करायी जो जीव परमात्मा की एकता वह तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा विरुद्ध अंशों के त्याग से जानी जाती है अर्थात् जीव ब्रह्म के विरुद्ध २ भागों का त्याग और चैतन्य मात्र जो धर्म दोनों में एक हैं उसके ग्रहण से

दोनों का अभेद प्रतीत हो जाता है।।४३।।

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ।।४४।।

तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अर्थ का ज्ञान तब हो सकता है जब तत् त्व पदों के अर्थों का ज्ञान हो क्योंकि वाक्य के अर्थज्ञान में पदों के अर्थ का ज्ञान कारण होता* है इससे प्रथम तत् पद के अर्थ को कहते हैं कि सत् चित् आनंदरूप जो ब्रह्म है वह तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी माया को लेकर अर्थात् मायारूप उपाधि को स्वीकार करके चर अचररूप जगत् के कार्यों का उपादान होता है अर्थात् भ्रमरूप जगत् का अधिष्ठान होता है और वही ब्रह्म विशुद्ध सत्त्वगुण है प्रधान जिसमें ऐसी उसी माया को उपाधिरूप से स्वीकार करके उपादान आदि का ज्ञाता निमित्त होता है और वही निमित्त उपादानरूप ब्रह्म तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के तत् शब्द से कहा जाता है अर्थात् तत् पद का निमित्त उपादानरूप ब्रह्म है। भावार्थ यह है कि सच्चिदानंदरूप ब्रह्म तमोगुणी मायारूप उपाधि से जगत् का निमित्त होता है उसी निमित्त उपादान ब्रह्म को तत् शब्द कहता है।।४४।।

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ।।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ।।४५।।

अब त्वं पद के अर्थ को कहते हैं कि वही सच्चिदानंदरूप ब्रह्म कुछ मिले हैं तमोगुण रजोगुण जिसमें ऐसा मलिन सत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी और काम कर्म आदि से दूषित उसी अविद्या नाम की माया को जब स्वीकार करता है अर्थात् अविद्यारूप उपाधि का वशीभूत होता है तब वही ब्रह्म त्वंपद से कहा जाता है अर्थात् अविद्योपाधि जीव त्वंपद का अर्थ है।।४५।।

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।।
अखंडं सच्चिदानंदं महावाक्येन लक्ष्यते ।।४६।।

इस प्रकार तत् त्वं पदों के अर्थों को कहकर वाक्य के अर्थ को कहते हैं कि तमोगुणप्रधान, मलिनसत्त्वप्रधान, विशुद्धसत्त्वप्रधानरूप तीन प्रकार की भी परस्पर विरुद्ध विरुद्ध उस माया को छोड़कर अखंड (भेदरहित) सत्चिदानंदरूप ब्रह्म महावाक्य से लक्षित होता है अर्थात् जाना जाता है अर्थात् लक्षणावृत्ति से परब्रह्म

*** वाक्यार्थबुद्धौ पदार्थबुद्धिः कारणम् ।**

बोध होता है।।४६।।

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदंतयोः ।।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ।।४७।।

कदाचित् कोई कहे कि इस प्रकार लक्षणावृत्ति से वाक्य के अर्थ का ज्ञान कहां देखा है इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि सोयं देवदत्तः (वह यह देवदत्त है) इत्यादि वाक्यों में वह देश वह काल और यह देश यह कालरूप विरुद्ध धर्मों के विरोध से तत् और इदम् शब्द के अर्थोंकी एकता नहीं हो सकती; इससे विरुद्ध अंशरूप भागों के त्याग से अर्थात् वह देश काल और यह देश काल इनके त्याग से एक देवदत्तरूप आश्रय (देही) जैसे लखा जाता है अर्थात् जो शरीरधारी दोनों देश कालों में एक है उसका बोध होता है उससे अभिन्न यह है ऐसी अभेद बुद्धि होती है, भावार्थ यह है कि सोयम् इत्यादि वाक्यों में जैसे तत् और अयं को विरोध से विरुद्ध विरुद्ध भागों के त्याग से जैसे एक देवदत्त जाना जाता है।।४७।।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।।
अखंडं सच्चिदानंदं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ।।४८।।

अब दृष्टांत को कहकर दार्ष्टांतिक को कहते हैं कि 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य के ही अनुसार परब्रह्म जीवात्मा की उपाधि जो माया और अविद्या हैं उन पूर्वोक्त माया और अद्यिा को त्यागकर अंखंड सच्चिदानंद (भेदरहित परब्रह्म) महावाक्यों से लखा जाता है अर्थात् जीव की अविद्या और परब्रह्म की माया के त्याग से सच्चिदानंदरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। भावार्थ यह है कि वैसे ही परब्रह्मजीव की माया अविद्यारूप उपाधियों को त्यागकर महावाक्यों से एक सच्चिदानंद ब्रह्म लखा जाता है।।४८।।

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ।।४९।।

कदाचित् कोई वादी शंका करे कि महावाक्यों से जो ब्रह्म लखा जाता है यह सविकल्प (विकल्पसहित) है कि निर्विकल्प ? प्रथम पक्ष में दोष कहते हैं कि, विपरीतरूप माने नाम जाति आदि सहित जो हो उसे सविकल्प कहते हैं उसको महावाक्यों का लक्ष्य (जानने योग्य) मानोगे तो महावाक्यों के लक्ष्य को अवस्तुता (मिथ्यात्व) हो जायगी क्योंकि विकल्पसहित घट आदि सब मिथ्या होते हैं अब दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं कि नाम जाति आदि से रहित जो निर्विकल्प है उसको जगत् में कहीं भी लक्ष्यत्व नहीं देखा और न उसे लक्ष्यत्व होने की संभावना है

क्योंकि जो लक्ष्य होता है वह निर्विकल्प नहीं हुआ करता है। भावार्थ यह है कि विकल्प सहित को लक्ष्य मानोगे तो लक्ष्य मिथ्या हो जायगा और निर्विकल्प कही भी लक्ष्य नहीं देखा और न उसका लक्ष्य होने की संभावना है।।४९।।

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ।।५०।।

अब सिद्धांती जाति–उत्तर इसमें है इससे हे पूर्ववादी! तू यह शंका मत करे इससे विकल्प करके दोष को कहता है कि सविकल्प लक्ष्य है वा निर्विकल्प लक्ष्य है, यह जो विकल्प आपने किया है वह विकल्प निर्विकल्प में किया है वा सविकल्प में? निर्विकल्प में कहोगे तो व्याघात दोष है अर्थात् विकल्प से रहितरूप निर्विकल्प में विकल्प को कहना ऐसा है कि जैसा कोई कहे कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है और सविकल्प में विकल्प मानने में अनवस्था आदि दोष हैं, सोई दिखाते हैं कि विकल्पसहित में विकल्प यहां पहिले और दूसरे विकल्प से एक ही विकल्प को लोगे वा दोनों को पृथक् २ मानोगे? एक ही मानोगे तो आत्माश्रय दोष है क्योंकि सविकल्प में जो विशेषण विकल्प उस सहित में वही विकल्प रहा और यदि दोनों विकल्पों को पृथक् २ मानोगे तो विकल्प सहित में विकल्प, यहां पहला विकल्प ही विकल्परूप है उसका भी आश्रय विकल्पसहित मानना पड़ेगा, उस विकल्प सहित में विशेषण जो विकल्प है वह पूर्वोक्त (विकल्प) विकल्परूप है वा उन दोनों से अन्य है? पहले पक्ष में तो अन्योन्याश्रय दोष है कि उसके आश्रय वह और उसके आश्रय वह होगा और दोनों से अन्य है इस दूसरे पक्ष में भी विकल्प–सहित में विकल्प यहां विशेषरूप जो पहला विकल्प है वह दूसरे विकल्परूप है वा उन सबसे अन्य है? दूसरे रूप ही पहिले को मानोगे तो चक्रकापत्ति दोष है क्योंकि उसी विकल्प से चलकर उसी पर समाप्ति हुई और उन सबसे अन्य ही मानोगे तो उसका अन्य और उसका भी अन्य विकल्प मानना पडेगा इससे अनवस्था दोष है अर्थात् विकल्पों की संख्या समाप्त न होगी, सबको विकल्प सहितों में मानना पड़ेगा। भावार्थ यह है कि विकल्परहित में विकल्प करते हो वा विकल्पसहित में? विकल्परहित में विकल्प कहोगे तो वद तो व्याघात दोष है और निर्विकल्प में कहोगे तो अनवस्था आत्माश्रय आदि दोष है।।५०।।

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबंधवस्तुषु ।।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ।।५१।।

कुछ यह दूषण केवल यहां ही नहीं है किन्तु ऐसे स्थलों में सर्वत्र ऐसे ही दूषण आ

सकते हैं अब यह विकल्प में जो दूषणों का समूह है वह गुण क्रिया जाति द्रव्य संबंध इन पांच वस्तुओं में भी तुल्य है सोई दिखाते हैं कि निर्गुण में गुण वर्तता है वा सगुण में? क्रिया भी क्रियारहित है वा क्रियासहित में? यहां पहले में व्याघात और दूसरे में आत्माश्रय आदि दोष इसी प्रकार समझने कदाचित् कोई कहे कि यह उत्तर ठीक नहीं है तो ठीक उत्तर कौनसा है इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि इससे इस प्रकार विकल्प को असंगत होने से ये गुण आदि संपूर्ण स्वरूप के मानो अर्थात् संपूर्ण गुण आदि बस्तु के स्वरूप में वर्तते हैं। भावार्थ यह है कि यह विकल्प का दोष गुण आदि पांचों में भी ऐसे ही हैं उससे ये सब गुण आदि वस्तु के स्वरूप में मानो।।५१।।

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबंधाद्यास्तु कल्पिताः ।।५२।।

कदाचित् कहो कि गुण आदि में ऐसे रहो प्रकरण में क्या आया अर्थात् प्रकरण की पूर्वोक्त शंका का समाधान न हुआ इसलिये कहते हैं कि विकल्प और विकल्प के अभाव का नहीं है स्पर्श जिसमें ऐसे परमात्मा स्वरूप वस्तु में विकल्पितत्व लक्ष्यत्व संवंध आदि कल्पित हैं उनमें विकल्पितत्व यह है कि सविकल्प को वा निर्विकल्प को विकल्प है इस पूर्वोक्त विकल्प का विषय होना और लक्ष्यत्व यह है कि लक्षणावृत्ति से जानने योग्य और संबंध (संयोग आदि) आदि शब्द से द्रव्य आदि लेने यहां तु शब्द अवधारण (निश्चय) में वर्तता है उनमें गुणों का आश्रय वा समवायिकारण जो हो उसे द्रव्य नैयायिक मानते हैं। कर्म से भिन्न होकर जातिमात्र का जो आश्रय वह गुण होता है। नित्य और एक होकर जो अनेक में रहै वह जातिसंयोग और विभाग का जो असमवायि कारण वह कर्म (क्रिया) होता है, ये सब गुण आदि वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूप में कल्पित हैं अर्थात् कल्पनामात्र हैं वस्तुतः नहीं है।।५२।।

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ।।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ।।५३।।

इतने पूर्वोक्त ग्रंथ से जो कहा उसको कहते हैं, इस प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों से उन वाक्यों के अर्थ का जो अनुसंधान अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता का जो ज्ञान उसे श्रवण कहते हैं और 'शब्दस्पार्शादियो वेद्याः' इत्यादि ग्रंथ से कही पूर्वोक्त युक्ति से परब्रह्म और जीवात्मा की एकता की संभावना जो सुनी है, उसकी सिद्धि (निर्णय) का ज्ञान उसको मनन कहते हैं अर्थात् एकत्व के अनुसंधान को श्रवण और अन्तःकरण में निश्चय को मनन कहते हैं। भावार्थ यह है कि—पूर्वोक्त वाक्यों से

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अर्थ का जो अनुसंधान उसे श्रवण और युक्ति से महावाक्य की अर्थ की सिद्धि का जो अनुसंधान उसे मनन कहते हैं।।५३।।

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ।।५४।।

निदिध्यासन को अब कहते हैं कि उन श्रवण और मनन दोनों से संदेहरहित जो अर्थ (ब्रह्म) उसके विषे स्थापित (टिका) हुआ अर्थात् धारणावाला चित्त क्योंकि पतञ्जलि ने* यह लिखा है कि एक देश में चित्त का जो सम्बन्ध उसे धारणा कहते हैं उसे पूर्वोक्त चित्त की जो एकतानता अर्थात् एकाकारवृत्ति का प्रवाह होना उसको निदिध्यासन कहते हैं। सोई योगशास्त्र में कहा है कि उस अर्थ में जो प्रतीति की एकतानता उसे ध्यान** कहते हैं। भावार्थ यह है कि श्रवण मनने के द्वारा संदेहरहित अर्थ में स्थिर चित्त की जो एकाकार (तद्रूप) वृत्ति उसे निदिध्यासन कहते हैं।।५४।।

ध्यातृध्यानं परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।।
निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते ।।५५।।

अब उसी निदिध्यासन की परिपाकरूप जो समाधि उसका वर्णन करते हैं कि निदिध्यासन में ध्यान का कर्ता, ध्यान और ध्यान करने योग्य ये तीन भासते हैं उसी निदिध्यासन के करते करते जब चित्त अभ्यास के वश से ध्यान के कर्त्ता और ध्यान इन दोनों को क्रम से त्यागकर केवल एक ध्येय को ही विषय करता है अर्थात् ध्यान करने योग्य ब्रह्माकार वृत्ति हो जाता है अर्थात् वायुरहित देश में वर्तमान दीपक के समान निश्चल हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहते हैं। भावार्थ यह है कि ध्याता और ध्यान इन दोनों के क्रम से त्याग के अनन्तर केवल ब्रह्म को विषय करता हुआ चित्त पवनरहित देश के निश्चल दीपक के समान निश्चल जो होता है उसको समाधि कहते हैं।।५५।।

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।।
स्मरणादनुमीयंते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ।।५६।।

कदाचित् कोई शंका करे कि समाधि में चित्त की नाईं कोई भी वृत्ति नहीं मिलती, इससे ध्यान के योग्य जो ब्रह्म तदाकारवृत्ति का भी निश्चय नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि समाधि में भी वृत्तियों का होना अनुमान से जाना जाता है कि उस समाधि के काल में आत्मा है विषय जिनका ऐसी वृत्ति अज्ञात भी हैं तो भी समाधि

---

* देशसबंधश्चित्तस्य धारणा । ** तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

से उठे मनुष्यं को हुआ जो स्मरण अर्थात् इतने काल तक मैं समाधि में रहा इस स्मरणरूप ज्ञान से वृत्तियों का अनुमान होता है क्योंकि यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध है कि जिस जिसका स्मरण होता है उस उसका अनुभव पूर्व हो चुकता है। भावार्थ यह है कि समाधि में आत्मज्ञानविषयक जो वृत्ति है अज्ञान भी उसके समाधि से उठे मनुष्य के स्मरण से अनुमान होता है।।५६।।

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ।।५७।।

यद्यपि समाधि में वृत्तियों का जनक कोई प्रयत्न नहीं इससे वृत्तियों की अनुवृत्ति असंभव है तथापि समाधिकाल का प्रयत्न न होने पर भी अदृष्ट है सहकारी जिसका ऐसे समाधि से पूर्वकालीन प्रयत्न से वृत्तियों का होना वर्णन करते हैं कि केवल ब्रह्म है विषय जिनका ऐसी वृत्तियों की प्रवाहरूप से अनुगतिरूप जो अनुरति है वह समाधि से पूर्वकाल के पंतजलि के कहे अशुक्ल* कृष्ण पुण्य विशेष योगी के अदृष्ट से और बारंबार समाधि से अभ्यास से पैदा हुए भावनाख्य संस्कार से युक्त अर्थात् इन दोनों सहकारी कारणोंसहित जो समाधि में पूर्वकाल का प्रयत्न उससे होती है। भावार्थ यह है कि अदृष्ट और बारंबार अभ्यास से पैदा हुए संस्कार इन दोनों से युक्त जो समाधि से पूर्वकाल प्रयत्न उससे ही समाधि में ब्रह्माकार वृत्तियों की अनुवृत्ति होती है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति चली जाती है।।५७।।

यदा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ।।५८।।

कदाचित् कहो कि इस समाधि का निरूपण किसी आचार्य ने नहीं किया इससे श्रीकृष्णचंद्र जो सबके गुरु हैं उनके निरूपण को कहते हैं कि हे अर्जुन! जैसे वातरहित स्थान में दीपक निश्चल रहता है, वही उपमा समाधि में स्थित योगी की है इत्यादि वचनों से अनेक प्रकार भगवान् (ज्ञानैश्वर्य से युक्त) ने इसी निर्विकल्प समाधिरूप अर्थ का अपने शिष्य अर्जुन के प्रति निरूपण किया है।।५८।।

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।।
अनेन विलयं यांति शुद्धो धर्मो विवर्धते ।।५९।।

अब समाधि के अवांतर फल को कहते हैं कि इस अनादि संसार में संचित किये जो कोटियों पुण्य पाप रूप कर्म हैं वे सब इस समाधि से नष्ट हो जाते हैं अर्थात् पूर्व

---

* कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

संचित अनंत कर्मों का लय हो जाता है क्योंकि इन* श्रुति और स्मृतियों से यही प्रतीत होता है कि उस कार्य–कारण रूप ब्रह्म के ज्ञान होने पर योगी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को दग्ध कर देती है और पृथ्वी आदि काया से युक्त जो अविद्या उसका निवर्तक जो ब्रह्म का साक्षात्कार उसका हेतु धर्म बढ़ जाता है। भावार्थ यह है कि इस समाधि से अनादि संसार में संचित किये पापों का नाश और शुद्धधर्म की वृद्धि होती है॥५९॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ॥
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥६०॥

अब समाधि के पूर्व स्वरूप में प्रमाण कहते हैं कि जो योगियों में श्रेष्ठ हैं अर्थात् जिनको ब्रह्म का प्रत्यक्ष है वे इस निर्विकल्पक समाधि को धर्म का मेघ कहते हैं क्योंकि यह सहस्रों धर्मरूप अमृत की धाराओं को वर्षाती है क्योंकि** श्रुति में यह लिखा है कि एक भी समाधि का क्षण सौ यज्ञों के फल को देता है॥६०॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ॥
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥

अब समाधि के परम प्रयोजन को कहते हैं कि इस समाधि से जब वासनाओं के जाल अर्थात् अहंकार ममता कर्ता आदि के अभिमान का हेतु संस्कार का जो समूह उस सबके निश्शेष (सम्पूर्ण) नाश होने पर और पुण्य पापरूप कर्मों का जो संचय उसके समूल (जड़ से) उद्धार (नाश) होने पर॥६१॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ॥
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

श्रेष्ठ कर्म और वासनारूप प्रतिबंध से रहित हुआ जो तत्त्वमसि आदि महावाक्य है वह समाधि से पहले परोक्षरूप से भासे (प्रकाशित) तत्त्व के ऐसे अपरोक्ष ज्ञान को पैदा करता है जैसे हाथ में स्थित आमले का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् तत्त्व के भासन में समर्थ ज्ञान होता है॥६२॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

अब परोक्ष ज्ञान के फल को कहते हैं कि गुरु के उपदेश से मिला जो तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से पैदा हुआ परोक्ष (साक्षात्) ब्रह्मविज्ञान वह बुद्धिपूर्वक

---

* क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा

** क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि।

(जानकर) किये संपूर्ण पापों को अग्नि के समान दग्ध (भस्म) करता है।।६३।।

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चंडभास्करः ।।६४।।

अब अपरोक्ष ज्ञान के फल को कहते हैं कि गुरु के उपदेश से हुआ महावाक्यों के द्वारा जो अपरोक्ष आत्मा का ज्ञान है संशय और विपरीत से रहित वह तम (अंधकार) रूप जो संसार का कारण अज्ञान (अविद्या) उसके लिये मध्याह्न-काल का सूर्यरूप है अर्थात् जैसे सूर्य से अन्धकार का नाश होता है ऐसे ही ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।।६४।।

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।।
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ।।६५।।

अब ग्रंथ के अभ्यास का फल कहते हैं कि मनुष्य इस पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप तत्त्व के विवेक (पंचकोश से भेद) को करके और उस तत्त्व में शास्त्रोक्त रीति से मन को स्थिर करके अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान से नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका ऐसा होकर सबसे उत्तम परमपद (मोक्ष) को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् सत्यज्ञान आनंदरूप ब्रह्म ही हो जाता है। भावार्थ यह है कि इस प्रकार तत्त्व का विवेक और विधिपूर्वक मन के समाधान को करके नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका, ऐसा मनुष्य शीघ्र ही परमपद को प्राप्त होता है।।६५।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपंचदशीभाषोद्धृतौ पं० मिहिरचंद्रकृतायां तत्त्वविवेक प्रकरणं समाप्तम् ।

इति तत्त्वविवेकप्रकरणम् ।।१।।

अथ महाभूतविवेकप्रकरणम् २

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पंचभूतविवेकतः ।।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ।।१।।

हे सौम्य! यह ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप सत् अद्वितीय जो सुना था वाणी और मन के अविषय उस ब्रह्मा को स्वतः (स्वयं) नहीं जान सकते इससे ब्रह्म का कार्य उपाधिरूप पांचों भूतों के विवेकद्वारा ब्रह्मज्ञान के लिये प्रथम उपोद्घात रूप से पांचों भूतों के विवेक की प्रतिज्ञा करते हैं कि जो सत् अद्वैत सुना है वह पांचों भूतों के विवेक से जानने योग्य है इससे पंचभूतविवेक को कहते हैं ।।१।।

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे ।।
एकद्वित्रिचतुःपंचगुणा व्योमादिषु क्रमात् ।।२।।

उस विवेक में प्रथम, आकाश आदि पांचोभूतों का गुणों के द्वारा भेद जानने के लिये पांचों भूतों के गुणों को कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच क्रम से पांचों भूतों के गुण हैं और आकाश आदि में क्रम से एक दो तीन चार पांच गुण रहते हैं ।।२।।

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीतिशब्दनम् ।।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शौ वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।।३।।

अब पांचों भूतों के असाधारण गुणों को कहते हैं कि आकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द ही गुण है वायु में शब्द स्पर्श दो हैं और वायु में वीसी इस अनुकरण का शब्द होता है इसी प्रकार आगे भी अनुकरण शब्द जानना और वायु में स्पर्श अनुष्णाशीत है अर्थात् न शीत न उष्ण और अग्नि में शब्द स्पर्श रूप तीन गुण क्रम से हैं और अग्नि में शब्द भुगु भुगु इस अनुकरण का है।।३।।

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः ।।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ।।४।।

और पूर्वोक्त अग्नि में स्पर्श उष्ण है और रूप प्रकाशमान शुक्ल है और जल मे शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण हैं जिनमें बुलुबुलु शब्द है, स्पर्श शीतल और रूप

शुक्ल और रस मधुर ही कहा है।।४।।

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ।।५।।

भूमि में शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पांच गुण हैं उनमें शब्द कडकडा अनुकरण का है और स्पर्श कठिन इष्ट (माना) है और नील पीत आदि चित्र रूप है और मधुर अम्ल आदि छः प्रकार का रस है।।५।।

सुरभीतरगंधौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेंद्रियपंचकम् ।।६।।

सुरभि असुरभि अर्थात् सुगन्ध और दुर्गंधरूप दो प्रकार का गन्ध है, इस पूर्वोक्त प्रकार से गुणों का भली प्रकार विवेक किया, अब गुणों से भेद को कहकर कार्यों से भेद कहने के लिये भूतों के कार्य जो ज्ञानेन्द्रिय प्रथम उनको कहते हैं कि श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण ये पांचों क्रम से भूतों से पैदा हुई ज्ञान इंद्रिय हैं।।६।।

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ।।७।।

अब इंद्रियों के स्थान और व्यापार आदि को दिखाते हैं कि कर्ण आदि गोलक में टिकी हुई वे इंद्रिय शब्द आदि अपने अपने विषय को क्रम से ग्रहण करती हैं, अब इंद्रियों के होने में कार्य है हेतु जिसमें ऐसे अनुमानरूप प्रमाण को कहते हैं वह इंद्रिय सूक्ष्म होने से कार्यों के द्वारा अनुमान की जाती हैं, वह अनुमान यह है कि रूप की उपलब्धि (ज्ञान) किसी कारण से जन्य (उत्पन्न) है क्रिया होने से छेदन क्रिया के समान ये इंद्रिय पंचीकरण नहीं किये महाभूतों का कार्य होने से सूक्ष्म होती हैं अब इंद्रियों के स्वभाव को कहते हैं कि प्रायः ये इंद्रिय बहिर्मुख होकर दौड़ती हैं अर्थात् बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं आत्मा को नहीं, सोई इस* श्रुति में लिखा है कि ब्रह्मा ने इंद्रियों को परांचि रचा है इससे पराक् (विषय) को देखती हैं अन्तर को नहीं, भावार्थ यह है कि कान आदि छिद्रों में टिकी वे इंद्रियें शब्द आदि को ग्रहण करती हैं और सूक्ष्म होने से कार्यों से अनुमान की जाती हैं और प्रायः बाह्य विषयों को ग्रहण के लिये जाती हैं।।७।।

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आंतरः ।।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ।।८।।

---

* परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः ।

प्रायः शब्द से सूचित किया जो इंद्रियों को अंतर विषय का ग्रहण करना भी दिखाते हैं कि कदाचित् कानों के आच्छादन करने पर प्राणवायु और जठराग्नि में विद्यमान जो आंतर (भीतर का) शब्द सुना जाता है और जल के पीने और अन्न के भक्षण में।।८।।

व्यज्यंते ह्यांतराः स्पर्शा मीलने चांतरं तमः ।।
उद्गारे रसगंधौ चेत्यक्षाणामांतरग्रहः ।।९।।

अंतर के स्पर्श प्रकट होते हैं और नेत्रों के मीलन (मीनना) करने पर भीतर का अंधकार प्रतीत होता है और उद्गार (वमन) करने में भीतर के रस और गंध दोनो ग्रहण किये जाते हैं, इस प्रकार सब इंद्रिय भीतर के विषयों को भी ग्रहण करती हैं।।९।।

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानंदकाः क्रियाः ।।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वंतर्भवंति हि ।।१०।।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय के व्यापारों को कहकर जो कर्मेन्द्रियों को नहीं मानता उसके प्रति कर्मेन्द्रियों की सिद्धि के लिये प्रथम कर्मेन्द्रियों के हेतुरूप व्यापारों का वर्णन करते हैं कि वचन, आदान, गमन, विसर्ग (मल का त्याग), विषयानंद ये जगत् में प्रसिद्ध पांचो कर्मेन्द्रियों के व्यापार हैं और कृषि, व्यवहार, सेवा आदि का भी इन पांचों के विषय ही अंतर्भाव है इससे पांच ही क्रिया कहने में कोई दोष नहीं।।१०।।

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः ।।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेंद्रियपंचकम् ।।११।।

अब क्रियाजनक उन्हीं इन्द्रियों को कहते हैं कि वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (चरण) पायु (गदा) उपस्थ (लिंग) इन इंद्रियों से उन पूर्वोक्त क्रियाओं की उत्पत्ति होती है, अब पांचो कर्मेन्द्रियो के स्थानों को कहते हैं–कि मुख आदि गोलकों के विषे अर्थात् मुख चरण कर गुदा शिश्न इन पांचो स्थानों में वे पांचो कर्मेन्द्रिय रहती हैं, यहां भी इन पांचों कर्मेन्द्रियों की सिद्धि में यह अनुमान प्रमाण जानना कि उक्ति आदि पांचों कार्य किसी कारण से जन्य हैं क्रिया होने से छेदन क्रिया की तुल्य। भावार्थ यह है कि वाणी, हाथ, चरण, गुदा, लिंग इन इंद्रियों से उक्ति, ग्रहण, गमन, विसर्ग आनंद ये पांचों क्रिया क्रम से उत्पन्न होती हैं और ये पांचो कर्मेन्द्रिय मुख आदि गोलकों में होती हैं।।११।।

मनो दशेंद्रियाध्यक्ष हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।।
तच्चांतःकरणं बाह्येष्वस्वातंत्र्याद्विनेंद्रियैः ।।१२।।

अब पूर्वोक्त दशों इंद्रियों का प्रेरक होने से प्रस्तुत–अर्थात् प्रकरण से प्राप्त जो मन उसके कार्य स्थान को दिखाते हैं कि कमलरूप हृदय के गोलक में टिका जो मन वह दशों इंद्रियों का अध्यक्ष (स्वामी) है और वह मन इंद्रियों के बिना बाहिर के विषयों में अस्वतन्त्र होने से अंतःकरण है अर्थात् भीतर की इन्द्रिय है।।१२।।

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ।।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ।।१३।।

अब मन की दशों इंद्रियों की अध्यक्षता को दिखाते हैं, जब इंद्रिय अपने अपने विषयों में स्थापित हो जाती हैं अर्थात् विषयों पर पहुँचती है उस समय यह मन गुण दोष का विचार करता है अर्थात् यह समीचीन (अच्छा) और यह असमीचीन इत्यादि विचार को करता है यहां यह भाव है कि आत्मा सबका प्रमाता है इससे सब ज्ञान में साधारण है और चक्षुः आदि इंद्रियरूप आदि के ही ज्ञान के पैदा करने से चरितार्थ हैं इससे प्रतीत हुआ कि जो उनके गुण दोषों का विचार वह मन के मानने बिना नहीं हो सकता इससे गुण दोष के विचार का कारण मन अवश्य मानना और मन की वैराग्य काम आदि अनेक प्रकार की वृत्तियों के दिखाने के लिये मन के सत्त्व आदि गुणों को दिखाते हैं कि सत्त्व, रज, तम ये तीनों मन के गुण हैं, क्योंकि इनसे ही मन विचार को प्राप्त होता है, भावार्थ यह है कि इंद्रियों को विषय पर पहुंचने में गुण दोषों के विचार का कर्ता मन है और उसके सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं कि उनसे वह विकार को प्राप्त होता है।।१३।।

वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ।।
कामक्रोधौ लौभयत्नवित्याद्या रजसोत्थिताः ।।१४।।

अब गुणों के मन के विकार को कहते हैं, सत्त्वगुण से वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि और रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ यत्न आदि मन के विषे उत्पन्न होते हैं।।१४।।

आलस्यभ्रांतितंद्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।।।।
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।।१५।।

आलस्य, भ्रम, तंद्रा, आदि विकार मन में तमोगुण से होते हैं, अब वैराग्य आदि के भिन्न भिन्न कार्यों को दिखाते हैं कि सत्त्वगुणी विकारों से पुण्य की और रजोगुणी विकारों से पाप की उत्पत्ति होती है।।१५।।

तामसैर्नोभयं किंतु वृथायुः क्षपणं भवेत् ।।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ।।१६।।

और तमोगुणी विकारों से न पुण्य होता है न पाप–किंतु वृथा ही अवस्था का

नाश होता है। इन सबको बुद्धि में स्थित होने से अंतःकरण आदि सबके स्वामी का वर्णन करते हैं कि इन अंतःकरण आदि सबमें जो अहंबुद्धि को करे वह कर्ता (प्रभु) है, यह लोक की मर्यादा है अर्थात् जगत् में कार्यकारी को प्रभु कहते हैं।।१६।।

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ।।१७।।

इस प्रकार जगत् की स्थिति को कहकर अब जगत् भी भौतिक है इस ज्ञान के उपाय को कहते हैं–स्पष्ट जो शब्द स्पर्श आदि गुण उनसे युक्त घट आदिकों में भूतों की कार्यता प्रगट दीखती है, इंद्रिय आदिकों में भी भूतों की कार्यता का निश्चय आगम और अनुमान से कहते हैं कि इंद्रिय आदिकों में भी शास्त्र और युक्ति से भूतों की कार्यता का निश्चय भी शिष्य ! तुम करो क्योंकि यह वेद का वाक्य* है कि है सौम्य ! मन अन्नमय प्राण जलमय और वाक् तेजोमयी है और यह अनुमान भी है कि विवाद के आश्रय जो श्रोत्र आदि हैं वे भूतों का कार्य होने योग्य हैं क्योंकि भूतों के अन्वयव्यतिरेकों के अनुविधायी (अनुकूल) होने से क्योंकि जो जिसके अन्वयव्यतिरेक का अनुविधायी होता है वह उसका ही कार्य होता है जैसे मिट्टीके अन्वयव्यतिरेक का अनुविधायी घट मिट्टीका कार्य होता है, ये श्रोत्र आदि भी भूतों के अन्वयव्यतिरेक के अनुविधायी हैं, इससे भूतों के कार्य हैं और इन छांदोग्य श्रुति* में मन को भूतों का अन्वयतिरेकानुविधायी देखा है कि–हे सौम्य ! पुरुष षोडश कलावान् है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना। भावार्थ यह है कि प्रगट शब्द आदि से युक्त घट आदि में भौतिकता स्पष्ट है और इंद्रिय आदिकों में भी भो शिष्य ! शास्त्र और युक्ति से तुम भौतिकता निश्चय करो।।१७।।

एकादशेंद्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ।।१८।।

इस प्रकार भूत और भूतों के कार्यों का विवेक करके अद्वितीय ब्रह्म की बोधक श्रुति की व्याख्या करता हुआ ग्रंथकार उस श्रुति के इदं पद के अर्थ को कहता है अर्थात् हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि से पहिले सत् रूप ही हुआ इस प्रकृत श्रुति के यह (इदं) पद का अर्थ वर्णन करते हैं कि एकादश इंद्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और अपि शब्द अर्थापत्ति आदि प्रमाण युक्ति, शास्त्र आदि से जितना कुछ यह जगत् प्रतीत होता है वह सब (सदैव सौम्येदमग्र आसीत्) इस श्रुति के इदं (यह) शब्द से कहा जानना।।१८।।

---

*अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्। ** षोडशकलः सौम्य पुरुषः

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।।
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ।।१९।।

अब इदं शब्द के अर्थ को पढ़कर उसी श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं सृष्टि से पूर्व यह संपूर्ण जगत् अद्वितीय (एक) सत् ब्रह्मरूप ही हुआ यह अरुण के पुत्र उद्दालक मुनि का वचन है।।१९।।

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।।
वृक्षांतरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ।।२०।।

एक ही अद्विर्तांय ब्रह्म था इन तीन पदों से स्वगत आदि तीन भेदों का निवारण करने के लिये प्रथम जगत् में स्वगत आदि भेदों को दिखाते हैं कि अपने पत्र पुष्प फल आदि से जो वृक्ष का भेद है वह स्वगत और अन्य वृक्ष से जो भेद है वह सजातीय और शिला आदि से जो वृक्ष का भेद है वह विजातीय भेद होता है।।२०।।

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ।।२१।।

इस प्रकार आत्मा से भिन्न में तीनों भेदों को दिखाकर सत् वस्तु में भी प्राप्त हुए उन तीनों भेदों का श्रुति के तीन पदों से निवारण करते हैं कि वैसे ही सत् वस्तु में भी आत्मा से भिन्न के समान पाये स्वगत आदि तीनों भेद, एक एव अद्विितीय (एक ही अद्वैत) रहा उन तीनों पदों से निवारण किये हैं।।२१।।

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यनिरूपणात् ।।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ।।२२।।

सत् वस्तु को अवयवरहित होने से स्वगत भेद की शंका नहीं कर सकते इसका वर्णन करते हैं कि नाम और रूप भी उस सत् वस्तु के अंश (अवयव) नहीं हो सकते क्योंकि सृष्टि के पूर्व सद्वस्तु में नाम रूप का अभाव था और अब भी प्रतीति मात्र होने से नामरूप का अभाव ही है।।२२।।

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ।।२३।।

अब नामरूप के अभाव का कारण कहते हैं कि नाम रूप के होने को ही सृष्टि कहते हैं अतएव सृष्टि से पहले नाम रूप नहीं हो सकते इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश के समान निरवयव ही सत् ब्रह्म है, यहां यह अनुमान है कि सत् वस्तु स्वगतभेद शून्य है अवयवरहित होने से आकाश के समान।।२३।।

सदंतरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ।।२४।।

कदाचित् शंका करो कि स्वगतभेद मत हो सजातीय भेद क्यों नहीं होता ? इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि दूसरा सजातीय कोई सत् से विलक्षणता के अभाव से नहीं है इससे सजातीय भेद नहीं हो सकता, कदाचित् कहो कि घट की सत्ता पट की सत्ता यहां सत् का भेद देखते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि घटाकाश मठाकाश के समान नामरूप उपाधि के भेद विना सत् का भेद नहीं हो सकता और यहां यह अनुमान है कि सत् वस्तु सजातीय भेदरहित होने योग्य है उपाधि के परामर्श बिना भेद की प्रतीति न होने से गगन के समान भावार्थ यह है कि विलक्षणता के अभाव से दूसरा सत् नही इससे सजातीय भेद भी सत्वस्तु में नहीं है और नामरूप उपाधि के भेद बिना सत् का भेद कैसे हो सकता है।।२४।।

विजातीयमसत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ।।२५।।

अब विजातीय भेद को निषेध कहते हैं कि सत का विजातीय असत् है वह असत् नहीं है इस निश्चय से जाना जाता है इससे वह असत् सत् से भिन्न है इस भेद को प्रतियोगी नहीं हो सकता इससे ब्रह्म में विजातीय से भेद किस प्रकार हो सकता है।।२५।।

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ।।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ।।२६।।

इससे एक अद्वितीय सद्वस्तु सिद्ध हुआ, अब यहां स्थूणाखनन के न्याय से अर्थात् थूनी को खोद खोद जैसे दृढ़ करते हैं इस प्रकार सत् अद्वैत को दृढ़ करने के लिये किसी वादी के पूर्वपक्ष को कहते हैं कि इस अद्वितीय की सिद्धि से विह्वल हुए कोई पूर्वाचार्य यह जगत् असत् रूप ही पहले हुआ, यह वर्णन करते हुए।।२६।।

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः ।।
अखंडैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ।।२७।।

अब उनके विह्वल होने में दृष्टांत देते हैं–कि जैसे समुद्र मे डूवे हुए मनुष्य के नेत्र विह्वल होते हैं इसी प्रकार इस असद्वादी की बुद्धि भी अखण्ड एकरस वस्तु को सुनकर प्रचारसहित (न पहुँचती) होकर इस वस्तुरूप ब्रह्म से डरती है, क्योंकि उस बुद्धि का प्रचार साकार वस्तुओं में ही रहा था।।२७।।

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यंतं भयमूचिरे ।।२८।।

अब उक्त अर्थ में आचार्यो की सम्मति कहते हैं कि गौडाचार्यों ने भी निर्विकल्प समाधि के विषे उन अन्य योगियों को अन्यन्त भय कहा है जिनकी आकार सहित ब्रह्म के विषे स्थिति है।।२८।।

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।२९।।

जिस वाक्य से गौडाचार्यों ने भय कहा उसी वाक्य को कहते हैं—कि यह अस्पर्श योगरूप जो निर्विकल्प समाधि है वह साकार ब्रह्म में निष्ठ (स्थित) संपूर्ण योगियों को दुःख से देखने योग्य है अर्थात् वे इस समाधि को नहीं लगा सकते, क्योंकि द्वैत के दर्शी और भय से रहित समाधि में भय देखनेवाले योगी जन निर्जन देश में बालक के समान इन अस्पर्श समाधि से डरते हैं। भावार्थ यह है कि सम्पूर्ण योगी इस अस्पर्श योग को नहीं प्राप्त हो सकते क्योंकि अभय में भय देखनेवाले वे इस समाधि से डरते हैं।।२९।।

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनसून् ।।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रांतानचिंत्येऽस्मिन्सदात्मनि ।।३०।।

श्रीमान् शंकराचार्योंने भी यही कहा हैं कि भगवत्पूज्यपादों (श्रीशंकराचार्य के चरणों) ने भी शुष्कतर्क में इन चतुर माध्यमिकों को अचिन्त्य इस सदात्मा में भ्रान्त कहा है।।३०।।

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ।।३१।।

ये तमोगुणी बौद्ध—एक अनुमान को ही मानकर और मूर्खता से श्रुति का अनादर करके निरातमता (शून्य) का ही वर्णन करते हुए।।३१।।

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ।।३२।।

अब विकल्प करके असद्वाद में दूषण देते हैं कि शून्य हुआ इस वाक्य से तू शून्य को सत्ता का योग कहता है वा सद्रूप कहता है ये दोनों व्याघात होने से शून्यमें युक्त नहीं हो सकते क्योंकि शून्य की सत्ता कदाचित् नहीं हो सकती।।३२।।

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ।।३३।।

अब दृष्टांत पूर्वक व्याघात को दिखाते हैं जैसे सूर्य अन्धकार से युक्त नहीं और न अन्धकाररूप है, इसी प्रकार सत् और शून्य के विरोध से शून्य हुआ हे बौद्ध ! तू कैसे कहता है।।३३।।

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ॥
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

आकाश आदि की निर्विकल्प ब्रह्म में सत्ता तुम्हारे मत में भी व्याहत है इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि जैसे हमारे मत में आकाश आदि के इस रूप माया से कल्पित हैं इसी प्रकार के शून्य के भी नाम रूप तेरे मत में हों तो ऐसा शून्य चिरकाल तक जीवो अर्थात् कल्पित का मानना हमारा सिद्धांत है॥३४॥

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ॥
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

कदाचित् कोई शंका करे कि शून्य के समान सत् वस्तु के भी कल्पित नाम रूप का अंगीकार क्यों नहीं करते क्योंकि तेरे मत में वास्तविक (सच्चा) नाम रूप कोई नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि यह पक्ष इस विकल्प से नहीं हो सकता कि सत् के नामरूप की कल्पना सत् में करते हो वा असत् में वा जगत् में सत् में तो नहीं कह सकते क्योंकि रजत आदि के नामरूप की कल्पना उससे अन्य शुक्ति आदि में देखते हैं इससे सत् के नामरूप की कल्पना सत् में नहीं हो सकती और असत् में भी असत् को सत्ता शून्य होने से भ्रम की अधिष्ठानता का असंभव है इससे नामरूप की कल्पना का असंभव है और सत् से पैदा हुआ सत् जगत् के नामरूप का अधिष्ठान नहीं हो सकता, इससे जगत् में भी सत् के नामरूप की कल्पना नहीं कर सकते कदाचित् कहो कि बिना ही अधिष्ठान नामरूप की कल्पना क्यों न हो सो ठीक नहीं क्योंकि कही भी बिना अधिष्ठान भ्रम नहीं होता, भावार्थ यह है कि सत के भी नाम रूप दोनों कल्पित हैं तो कहां कल्पित हैं यह कहो क्योंकि अधिष्ठान भ्रम कहीं नहीं देखा॥३५॥

सदासीदितिशब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ॥
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६॥

अब यह जगत् सृष्टि के पहले सत् हुआ यहां जैसे तुमने व्याघात दोष कहा वैसे ही हे सौम्य ! सृष्टि से पहले सत् हुआ यहां भी दोष है कि सत् आसीत् हुआ (सत् हुआ), इन दोनों शब्दों के अर्थ का भेद है वा नहीं, यदि भेद है तो तुम्हारा अद्वैत पक्ष सिद्ध न होगा और यदि अभेद है तो पुनरुक्ति दोष होगा—इससे सत् हुआ यह कहना नहीं बन सकता ऐसा मत कहो क्योंकि तुम्हारे विकल्प में कहे दूसरे पक्ष को हम मानते हैं कि दोनों पदों के अर्थ का भेद नहीं और लोक में ऐसे ही देखने से पुनरुक्ति दोष नहीं है॥३६॥

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ।।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ।।३७।।

अब ऐसे प्रयोगो में पुनरुक्ति दोष के अभाव का स्थल दिखाते हैं–कर्तव्य को करता है, वाक्य को कहता है, धारण करने योग्य को धारता है, इत्यादि वासनाओं से युक्त शिष्य के प्रति सत् आसीत् (सत् हुआ) इस वाक्य का कथन (उपदेश) है।।३७।।

कालभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीय नहि शंक्यते ।।३८।।

कदाचित् कहो कि अद्वितीय वस्तु मे भूतकाल का अभाव है इससे पहले सत् हुआ यह कहना नहीं बन सकता सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म में काल का अभाव होने पर भी पहले हुआ यह कहना काल की वासना से युक्त शिष्य के ही प्रति है, कदाचित् कोई कहे कि जगत् की उत्पत्ति के पहले जगत् के अभाव से ब्रह्म सद्वितीय है अर्थात् दूसरा ब्रह्म है सो ठीक नहीं क्योंकि द्वैत की वासनायुक्त श्रोताओं के ज्ञानार्थ श्रुति की प्रवृत्ति है, इससे ब्रह्म में द्वितीय की शंका नहीं हो सकती।।३८।।

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ।।३९।।

अब सिद्धांत के तत्त्व को कहते हैं कि द्वैतभाषा (व्यवहार में) से चोद्य (शंका) वा समाधान करो और अद्वैत भाषा (परमार्थ) से न शंका है और न उसका उत्तर है किंतु एक अद्वैतब्रह्मरूप तत्त्व ही है।।३९।।

तदा स्तिमितगंभीरं न तेजो नतमस्ततम् ।।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ।।४०।।

अब परमार्थ से द्वैत के अभाव में स्मृति प्रमाण को कहते हैं कि उस परमार्थ अवस्था में स्तिमित (निश्चल) और गंभीर अर्थात् मन से भी जानने को अशक्य तेज नहीं है और न तेज का विरोधी तम (अंधकार) है इससे तम से विलक्षण और जिसका आवरण (ढ़कना) स्वभाव नहीं ऐसा व्यापक कहने के अयोग्य अप्रकट अर्थात् चक्षु आदि से जानने के अयोग्य सत् अर्थात् शून्य से विलक्षण और इसी से किंचित् रूप, जिसको यह है, ऐसे कह कर नहीं दिखा सकते ऐसा द्वैत के निषेध का अवधिरूप जो शेष रहता है वही ब्रह्म है। भावार्थ यह है कि उस समय निश्चल गंभीर न तेज है न तम है किन्तु कथन के अयोग्य अप्रकट सत् व्यापक जो कुछ शेष रहता है वही ब्रह्म है।।४०।।

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ॥
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१॥

परमाणु पर्यंत के नाश होने से अनित्य भूमि आदि मत हों परंतु नित्य आकाश की असत्ता (अनित्यता) तेरी बुद्धि में कैसे आरूढ होती है अर्थात् आकाश को सत् है ऐसा कोई कहे तो॥४१॥

अत्यंतं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ॥
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

दृष्टांत उक्त शंका का परिहार करते हैं कि अत्यन्त जगत् से रहित आकाश जैसे तेरी बुद्धि में स्थित हुआ है ऐसे ही आकाश से रहित सत् (ब्रह्म) तेरी बुद्धि में क्यों नहीं आता॥४२॥

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ॥
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥४३॥

कदाचित् कहो कि जगत् से रहित आकाश देखा है सो ठीक नहीं क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के बिना कहां देखा है सो कहो और क्या तेरे पक्ष में निश्चय से आकाश प्रत्यक्ष है अर्थात् आकाश का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता॥४३॥

सद्वस्तु शुद्धं त्वास्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ॥
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४४॥

कदाचित् कहो कि दर्शन का अभाव हो तो सत् वस्तु के विषे भी तुल्य है अर्थात् सत् का भी प्रत्यक्ष नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि सत् तो सबके अनुभव से सिद्ध है कि सत् शुद्ध वस्तु का तो हम निश्चित होकर अनुभव करते हैं अर्थात् जानते हैं कदाचित् कहो कि तूष्णींभाव दशा में शून्य से इतर किसी की भी प्रतीति नहीं हो सकती, इससे शून्य को ही क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि शून्य की बुद्धि में प्रतीति के अभाव से तूष्णीं स्थिति में शून्य को नहीं कह सकते, भावार्थ यह है कि निश्चय दशा में सत् शुद्ध वस्तु का तो हमें अनुभव होता है और शून्य बुद्धि के वर्जन (निषेध) से तूष्णीं स्थिति में शून्यता नहीं हो सकती॥४४॥

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ॥
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥

कदाचित् कहो कि परमार्थ दशा में सत्–बुद्धि का भी अभाव है इससे सत् भी घट सकेगा सो ठीक नहीं है क्योंकि यदि सत् बुद्धि भी नहीं है तो मत हो–इस सत् को स्वप्रकाश होने से सत् का ज्ञान हो जायगा, कदाचित कहो कि स्व (सत्) विषय के

बुद्धि के अभाव में कैसे सत् वस्तु का ज्ञान होगा सो ठीक नहीं क्योंकि मन से रहित सबका साक्षीरूप सत् मनुष्यों को सुगम है अर्थात् सुगमता से सत् का ज्ञान हो सकता है। भावार्थ यह है कि सत् बुद्धि भी नहीं है तो न हो इस सत् को स्वप्रकाश मनरहित–साक्षीरूप–होने से सत् का ज्ञान मनुष्यों को सुगम है।।४५।।

मनोजृंभणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।।
मायाजृंभणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ।।४६।।

अब प्रपञ्च से रहित साक्षी का तूष्णीं स्थिति में भान दिखाकर इसी दृष्टांत के बल से सृष्टि से पूर्व भी सत् वस्तु के ज्ञान को कहते हैं कि जब मन जृभा (जंभाई आलस्य) से रहित होता है उस समय जैसे साक्षी निराकुल (स्वस्थ) रहता है इसी प्रकार माया के जृंभा (फैलाव) से पूर्व अर्थात् सृष्टि से पहले सत् भी निराकुल (शुद्ध) होता है।।४६।।

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।।
नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ।।४७।।

अब माया के लक्षण को कहते हैं कि निस्तत्त्व अर्थात् जगत् के कारणरूप सत् वस्तु के पृथक् तत्त्व से रहित और कार्य के द्वारा जानने योग्य अर्थात् आकाश आदि कार्यों की उत्पत्ति का जो सामर्थ्यरूप शक्ति उसको माया कहते हैं। अब वस्तु के स्वरूप से भिन्न शक्ति के होने में दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अग्नि के स्वरूप से भिन्न और स्फोट आदि कार्य से जानने योग्य अग्नि का सामर्थ्य होता है ऐसे ही वस्तु की शक्ति माया है। अब शक्ति का कार्य से ज्ञान, व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा दिखाते हैं कि कार्य के पूर्व समय में किसी ने भी कहीं शक्ति का जाना है अर्थात् कार्य से पहले कारंण की शक्ति का ज्ञान नहीं हुआ करता। भावार्थ यह है कि वस्तु के तत्त्व से अभिन्न और कार्य से अनुमित जो अग्नि की शक्ति के तुल्य वस्तु की शक्ति वह माया है क्योंकि कहीं भी कार्य से पहले किसी ने शक्ति को नहीं जाना।।४७।।

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्नहि वह्नेः स्वशक्तिता ।।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ।।४८।।

इस प्रकार शक्तिको कार्य में गम्य कहकर निस्तत्त्वरूपता को सिद्ध करते हैं कि यहां यह भाव है कि सत्वस्तु की शक्ति सत् है वा असत् है ? सत् तो नहीं कह सकते क्योंकि सत् रूप होने से सत् की शक्ति नहीं हो सकती जैसे अग्नि की शक्ति अग्निरूप नहीं होती। सत् से भिन्न कहोगे तो वह मनुष्य के श्रृंग की तुल्य है वा सत् से विलक्षण है इस विकल्प के अभिप्राय से पूछते हैं कि सत् से विलक्षण है तो उस शक्ति का क्या

तत्त्व है उसको कहो, भावार्थ यह है कि अग्नि की शक्ति के समान सत् की शक्ति सत् वस्तु नहीं है, सत् से विलक्षण मानोगे तो शक्ति का क्या तत्त्व है उसको कहो॥४८॥

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ॥
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥४९॥

उन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष को कहकर दूषण देते हैं कि शून्य कहोगे तो शून्य तो माया का कार्य है यह पहले ३४वें श्लोक में कह आये अर्थात् शून्य के भी कल्पित नाम रूप मानने में कुछ दोष नहीं है इससे सत् से विलक्षण है यह दूसरा पक्ष ही शेष रहा उसको ही कहते हैं कि जो न शून्य है न सत् है ऐसा जो हो वही अनिर्वचनीय माया का रूप है अर्थात् न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं। भावार्थ यह है कि शून्य मानोगे तो वह माया का कार्य है यह कह आये इससे जो न शून्य हो न सत् हो ऐसा कहने के अयोग्य माया का रूप होता है॥४९॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ॥
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥५०॥

उस सृष्टि के पूर्व समय में न असत् था न सत् था किंतु पहले तम से गूढ़ (छिपा) ब्रह्म था इस श्रुति* के प्रमाण से तम ही रहा इससे तम सत् हुआ यह कैसे कहते हो इस शंका के दूर करने के लिये कहते हैं कि सत् के सम्बन्ध से ही तम को सिद्धि है स्वतः नहीं क्योंकि तम की स्वतः (स्वयं) सिद्धि का निषेध है॥५०॥

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्नहि गण्यते ॥
न लोके चैत्रच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥

जिससे माया की स्वतः सत्ता नहीं है इससे शून्य के समान माया को द्वितीय (दूसरी) नहीं मान सकते क्योंकि जगत् में चैत्र और उसकी शक्ति के पृथक् पृथक् जीवन को कोई नहीं लिखता है अर्थात् मिथ्या वस्तु को दूसरी नहीं कह सकते॥५१॥

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ॥
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२॥

कदाचित् कहो कि शक्ति की अधिकता से जीवन की अधिकता को देखते हैं इससे शक्ति का भी पृथक् जीवन है यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उसमें वृद्धि के कर्ता शक्ति

---

* तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम् ।

के कार्य और युद्ध कृषि आदि हैं शक्ति नहीं।।५२।।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।।
शक्तिकाय तु नबास्ति द्वितीयं शक्यते कथम् ।।५३।।

कदाचित् कहो कि शक्ति से सत् की द्वितीययुक्तता (द्वैतता) मत हो शक्ति को कार्य से तो हो जायेगी सो ठीक नहीं क्योंकि वह उस समय नहीं है इससे भी द्वैत नहीं हो सकता क्योंकि केवल शक्ति की तो कहीं भी पृथक् गिनती नहीं है और शक्ति का कार्य है ही नहीं इससे द्वितीय की शंका कैसे करते हो।।५३।।

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक् ।।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ।।५४।।

वह सत् की शक्ति संपूर्ण ब्रह्म में है वा ब्रह्म के एकदेश में ? सर्वत्र कहोगे तो मुक्तों की प्राप्ति के योग्य ब्रह्म का अभाव हो जायगा और एक देश में भी ब्रह्म को निरवयव होने से नहीं कह सकते, यह आशंका करके प्रथम पक्ष के अस्वीकार (न मानना) से दूसरे पक्ष का समाधान कहेंगे इस अभिप्राय से कहते हैं कि वह शक्ति संपूर्ण ब्रह्म में नहीं रहती किंतु एकादश में इस प्रकार रहती है कि जैसे घट की शक्ति स्निग्ध (चिकनी) मिट्टी में ही देखते हैं।।५४।।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ।।
इत्यैकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ।।५५।।

अब शक्ति की एक देश की वृत्तिता में प्रमाण कहते हैं कि सम्पूर्ण भूत इस ब्रह्म का पाद हैं और वह स्वयंप्रभ त्रिपाद है इस प्रकार माया की एकदेशवृत्तिता को श्रुति कहती है।।५५।।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ।।५६।।

केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं किन्तु स्मृति भी प्रमाण है कि इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश (भाग) से व्याप्त होकर मैं स्थित हूं इस वचन से श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन के प्रति जगत् को एकदेशरूप कहा है।।५६।।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ।।५७।।

अब माथारहित स्वरूप होने में प्रमाण को कहते हैं कि वह ब्रह्म सर्वत्र भूमि में और विकारमात्र में व्यापक होकर दश अंगुल अतिक्रांत (अधिक) टिकता हुआ यह श्रुति और सूत्रकारण का वचन है।।५७।।

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ॥
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८॥

कदाचित् कहो कि ऐसा कहने में ब्रह्म निरवयव है इसका विरोध होगा, इस शंका का परिहार वास्तविक निरवयव मानने से कहते हैं कि अंशरहित ब्रह्म में भी अंश का आरोप करके संपूर्ण अंश में है वा एक अंश में ऐसे पूछते शिष्य के प्रति उसकी ही भाषा से श्रोता की हितकारिणी श्रुत्ति उत्तर देती है, वस्तुतः तो ब्रह्म निरवयव है॥५८॥

सत्तत्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रिया ॥
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं तथा ॥५९॥

जिसके लिये माया को सिद्ध किया उसको कहते हैं कि सत्तत्त्व में रहती हुई शक्ति सत्वस्तु के विषे नाना प्रकार के विकारों (कार्य विशेष) की इस प्रकार कल्पना करती है जैसे भित्ति (भीत) में रहते रक्त पीत आदि वर्ण भित्ति में नाना प्रकार के चित्रों को करते हैं। तात्पर्य यह है कि चित्रों से पृथक् भित्ति के समान सत् वस्तु भी कार्यों से पृथक् है॥५९॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ॥
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥६०॥

शक्ति का प्रथम विकार आकाश है वह आकाश अवकाश स्वरूपवाला है। आकाश है यह सत्वस्तु का तत्त्व आकाश में भी अनुगत होता है अर्थात् यह सत् वस्तु प्रतीत होती है॥६०॥

एकस्वभावं सत्तत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः ॥
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥६१॥

इससे सत्तत्त्व का एक सत्ता ही स्वभाव है और आकाश के अवकाश और सत्ता दो स्वभाव हैं क्योंकि सत् वस्तु में अवकाश नहीं है केवल सत् स्वभाव ही है और आकाश में तो सत् स्वभाव और यह अवकाश ये दोनों स्थित हैं॥६१॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ॥
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥६२॥

अब सत् और आकाश के एक दो स्वभाव प्रकारान्तर (अन्य प्रकार) से कहते हैं कि आकाश में प्रतिध्वनि रूप गुण जो कह आये हैं वह है और सत् वस्तु में यह प्रतीत नहीं होता और आकाश में सत् और ध्वनि दोनों प्रतीत होते हैं इससे सत् का एक गुण है और आकाश के दो गुण हैं॥६२॥

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ।।
अपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ।।६३।।

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि आकाश सत् ब्रह्म का कार्य है तो आकाश की सत्ता यह सत् आकाश का धर्म कैसे प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जिस मायारूप शक्ति ने सत् वस्तु में आकाश की कल्पना की है वही शक्ति प्रथम सत् वस्तु और आकाश के अभेद की कल्पना करती है फिर विपरीत (उलटा) रूप से धर्म और धर्मी भाव को कल्पना करती है अर्थात् आकाश को धर्मी और सत् को धर्म बना देती है इससे आकाश की सत्ता ऐसा भान सिद्ध होता है भावार्थ यह है कि जिस शक्ति ने आकाश की है वह सत् और आकाश के अभेद को कहकर विपरीत रूप रूप से धर्मधर्मिभाव की कल्पना करती है।।६३।।

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकः ।।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ।।६४।।

अब माया की विपरीत रीति को दिखाते हैं कि वस्तु के तत्त्व का विचार करने पर जैसे मिट्टी घटरूप है, इसी प्रकार सत् वस्तु ही आकाशरूप हो जाती है इस प्रकार सत् वस्तु की आकाशरूपता को लौकिक मनुष्य मानते हैं और शास्त्र के विषे नैयायिक भी उससे विपरीत रूप से धार्मिक आकाश की सत्ता (सत्‌रूप धर्म) को जानते हैं कि आकाश की सत्ता है कदाचित् कहो कि अन्य की अन्यथा प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् धर्मी धर्मरूप नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि माया में वह उचित है विपरीत दिखाना माया के योग्य है, भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से सत् व्योमरूप हुआ और व्योम की सत्ता को लौकिक और नैयायिक मानते हैं क्योंकि वह विपरीत ज्ञान माया को उचित है।।६४।।

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ।।६५।।

अब लौकिक न्याय को दिखाकर माया को विपरीत प्रतीति का कारण दिखाते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूप से वर्तती है उसका वह रूप प्रमाण से प्रतीत होता है और जो उसी में रजत आदि अन्यथा रूप प्रतीत होता है वह भ्रम से होता है यह न्याय संपूर्ण लोकों में प्रसिद्ध है, यही भ्रांति का धर्म है।।६५।।

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिंत्यतां वियत् ।।६६।।

इस प्रकार भ्रांति से विपरीत भान को दिखाकर अब भ्रांति की निवृत्ति का

उपाय कहते हैं कि इस पूर्वोक्त रीति से जो श्रुति के अर्थ का विचार उससे प्रथम जो सत्‌रूप वस्तु जिस आकाश आदि रूप से भासती थी वही वस्तु श्रुति के अर्थ के पर्यालोचन (देखना वा विचार) से विपरीत हो जाती है अर्थात् आकाश आदि रूप को त्याग कर सत् ब्रह्मरूप हो जाती है इस श्रुति के विचार से वस्तु के यथार्थ (सच्चे) रूप का ज्ञान होने से हे वादी ! अव तू उस आकाश को विचार ले कि क्या है। भावार्थ यह है कि इस प्रकार श्रुति के विचार से पहले जो वस्तु जैसी भासती थी वह विचार के अनन्तर विपरीत हो जाती है इससे तू आकाश को भी विचार ले कि सत्‌रूप है कि नहीं।।६६।।

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेतिभेदधीः ।।६७।।

अब विचार के स्वरूप को दिखाते हैं कि शब्द (वियत् सत्) के भेद और बुद्धि के भेद से आकाश और सत् भिन्न हैं क्योंकि वायु आदि भूतों में वायु सत् है तेज सत् है इस प्रकार सत् की अनुवृत्ति है आकाश की नहीं। ज्ञान की भेदबुद्धि कहते हैं अर्थात् सत् सर्वत्र है आकाश आदि नहीं।।६७।।

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता ।।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ।।६८।।

इस प्रकार सत् और आकाश के भेद को सिद्ध करके भ्रम से जो यह प्रतीत होती है कि आकाश को सत्ता है विचार से विपरीत उस धर्मधर्मिभाव का व्यत्यय (उलट) जाना दिखाते हैं कि रूप रस आदि अधिक में अनुवृत्त द्रव्य के समान आकाश वायुआदि में अनुवृत्त सत् धर्मी है और रस आदि से भिन्न रूप के समान वायु आदि से भिन्न आकाश धर्म है। कदाचित् कहो कि घट से भिन्न भी रूप जैसे वास्तविक (यथार्थ) है वैसे ही सत् से भिन्न आकाश भी वास्तविक हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि के द्वारा सत् के पृथक् करने पर हे वादी ! तू कह कि व्योम किंस्वरूप है ? भावार्थ यह है कि अनुवृत्त होने से सत् वस्तु धर्मी और व्योम धर्म है और बुद्धि के सत् के पृथक् करने पर कहो कि व्योम किंरूप है।।६८।।

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिंत्यताम् ।।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ।।६९।।

आकाश के दुर्निरूप होने में शंका करते हैं कि वह आकाश अवकाशरूप है ऐसा कहोगे तो वह सत् से विलक्षण होने से असत् ही हो जायेगा यह निश्चय करो। कदाचित् कहो सत् से विलक्षण असत् नहीं होता सो भी ठीक नहीं क्योंकि सत् से

भिन्न है परंतु असत् नहीं है ऐसा तू कहेगा तो तेरे मत में व्याघात दोष है क्योंकि सत् से भिन्न असत् ही होता है अन्य नहीं। भावार्थ यह है कि अवकाशरूप आकाश को कहोगे तो वह असत् (मिथ्या) है और सत् से भिन्न है यह असत् नहीं ऐसा कहते, तेरे मत में व्याघातदोष है।।६९।।

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ।।७०।।

कदाचित् कहो कि भान न होता सो ठीक नहीं क्योंकि तुच्छ से विलक्षण के भान में कोई विरोध नहीं है कि भासता है तो भासे क्योंकि भासना मायिक पदार्थ का भूषण होता है क्योंकि जो असत् होकर भासता है वह स्वप्न के गज (हाथी) के तुल्य मिथ्या है अर्थात् स्वरूप से अविद्यमान भी वस्तु भासा करती है।।७०।।

जाविव्यक्ती देहिदेहौ गुण द्रव्ये यथा पृथक् ।।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ।।७१।।

कदाचित् कहो कि नियम से जो संग देखे हैं उनका भेद नहीं देखा सो भी ठीक नहीं क्योंकि जाति व्यक्ति देह देही गुण द्रव्य ये जैसे भिन्न भिन्न हैं उसी प्रकार आकाश और सत् भी भिन्न भिन्न हैं इसमें कौन आश्चर्य है।।७१।।

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ।।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ।।७२।।

कदाचित् कहो कि जाने हुए भी भेद का निश्चय नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि यदि ज्ञान भी भेद तेरी बुद्धि में आरूढ नहीं होता तो उस भेद का आरूढ न होना चित्त की एकाग्रता के अभाव से है वा संशय से है यह तू कह अर्थात् इन दोनों से अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता।।७२।।

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ।।७३।।

यदि चित्त की एकाग्रता के अभाव से है तो ध्यान से अर्थात् मन को लगाकर प्रमत्तता को छोड़ दे और यदि संशय से भेद की प्रतीति नहीं होती तो प्रमाण और युक्तियों से विवेक कर उससे तू भेद के ज्ञान में भले प्रकार आरूढ हो जायगा।।७३।।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ।।७४।।

अब ध्यान के फल को कहते हैं कि शब्द और बुद्धि के भेद से आकाश और सत्

भिन्न हैं इस मान से और पूर्वोक्त ध्यान से अधिक और वृत्ति होने से सत् वस्तु धर्मी है इस पूर्वोक्त युक्ति से जब आकाश और सत् का भेद चित्त में आरूढ हो जायगा तो आकाश कदाचित् भी सत्य नहीं प्रतीत होगा किंतु मिथ्या ही प्रतीत होगा और सद्‌वस्तु भी छिद्रवाली प्रतीत न होगी। भावार्थ यह है कि ध्यान मान और युक्ति से आकाश सत् का भेदज्ञान होने पर आकाश सत्य और सद्वस्तु अवकाशवाली प्रतीत नहीं होगी।।७४।।

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।।
सद्वस्त्वपिविभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ।।७५।।

अब आकाश और सत् के विवेक का फल कहते हैं कि भेद के ज्ञाता को आकाश सदैव निस्तत्त्व (मिथ्या) और नाम मात्र प्रतीत होता है और सद्वस्तु भी इसको छिद्र (अवकाश) से रहित प्रतीत होता है।।७५।।

वासनायां प्रवृद्धायां यत्सत्यत्ववादिनम् ।।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्‌वा विस्मयते बुधः ।।७६।।

आकाश को मिथ्या और सत् को सत्य मानता हुआ जो बुध है वह वासना के अत्यंत बढ़ने पर आकाश के सत्यत्ववादी को और सद्वस्तु के अज्ञान से युक्त को देखकर आश्चर्य को प्राप्त होता हैं।।७६।।

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।।७७।।

इस प्रकार आकाश के मिथ्यात्व (झूंठे) और सत् की सत्यता में जब वासना बढ़ गयी अर्थात् दृढ़ निश्चय हो गया, तब इसी न्याय से वायु आदिकों से भी सद्वस्तु का भले प्रकार विवेक करना।।७७।।

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ।।
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ।।७८।।

कदाचित् शंका करो कि आकाश का कार्य जो वायु उसके अकारण रूप सद्वस्तु वायु की एकता की प्रतीति अयुक्त है इससे वायु से सत् का विवेक करना निष्प्रयोजक है सो ठीक नहीं है क्योंकि साक्षात् संबंध का अभाव होने पर भी परंपरा सम्बंध है कि सद्वस्तु के एक देश में स्थित माया है और माया के एक देश में आकाश और उस आकाश के भी एक देश में स्थित वायु की कल्पना की है।।७८।।

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे ततः ।।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः ।।७९।।

इस प्रकार सत् और वायु के परम्परा सम्बंध को दिखाकर उन दोनो के धर्म से भेदज्ञान के लिये वायु में प्रतीत हुए धर्मों को कहते हैं कि शोष (सुखाना), स्पर्श, गति, वेग, ये वायु के धर्म माने हैं और सत, माया, व्योम इनके जो तीन स्वभाव हैं वे भी वायु में रहते हैं अर्थात् चार धर्म स्वाभाविक और तीन धर्म कारणों के द्वारा वायु में होते हैं।।७९।।

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ।।८०।।

अब इन्हीं कारणों के धर्मों को कहते हैं कि वायु है यह सत् का रूप (धर्म) वायु में है और सत् से वायु को पृथक् करने पर निस्तत्त्व (मिथ्या) रूपता वायु में माया का स्वभाव है और शब्द जो वायु में प्रतीत होता है वह आकाश का स्वभाव है अर्थात् आकाश के सम्बन्ध से प्रतीत होता है।।८०।।

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ।।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ।।८१।।

कदाचित् कहो कि क्या व्योम के विवेक प्रकरण में वायु आदि में सत् की अनुवृत्ति है, आकाश की नहीं, इस ६७वें श्लोक में वायु आदि में आकाश की अनुवृत्ति का निषेध किया और अब आकाश की अनुवृत्ति के कहने में पूर्णपर के विरोध की शंका करते हैं कि सत् की अनुवृत्ति सर्वत्र होती है आकाश की नहीं, यह पहले कह आये और अब आकाश की अनुवृत्ति को कहते हुए तेरे वचन मे व्याघात दोष क्यों नहीं होगा।।८१।।

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ।।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ।।८२।।

प्रथम लक्षण स्वरूप की अनुवृत्ति का निषेध किया, अब धर्म की अनुवृत्ति कहते हैं, स्वरूप की नहीं, इस प्रकार व्याघात दोष नहीं कि छिद्र की अनुवृत्ति नहीं, यह पूर्व कहा और अब यह शब्द की ही अनुवृत्ति कही इससे वचन में व्याघात दोष कैसे हो सकता है।।८२।।

ननु सद्वस्त्वपार्थक्यादसत्वं चेत्तदा कथम् ।।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ।।८३।।

कदाचित् कोई कहे कि सत्रूप से ब्रह्म विलक्षण होने से वायु को असत् रूप अमायामय कहोगे तो अव्यक्तरूप माया से विलक्षण होने से वायु अमायामय भी हो जायगा कि सद्वस्तु से पृथक् होने से वायु असत् है तो अव्यक्त माया की विषमता से

अमायामय भी क्यों नहीं मानते।।८३।।

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ।।८४।।

अब उक्त शंका का समाधान करते हैं कि मायामय का हेतु अव्यक्त तत्त्व नहीं किंतु निस्तत्त्व है वह माया के समान वायु आदि में भी तुल्य है इससे मायामय मानने में कुछ हानि नहीं, भावार्थ यह है कि मायात्व का प्रयोजक निस्तत्त्व (मिथ्यात्व) है और वह व्यक्त और अव्यक्तमात्र है, भेद जिनका ऐसी माया और कार्य दोनों में तुल्य है।।८४।।

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिंत्यताम् ।।
असतोऽवांतरो भेद आस्तां तच्चिंतयाऽत्र किम् ।।८५।।

कदाचित् कोई शंका करे कि जब शक्ति और कार्य निस्तत्त्व हैं तो एक व्यक्त और एक अव्यक्त यह भेद कहां से हुआ, इस शंका का परिहार प्रकरणविरुद्ध होने से करते हैं कि प्रकरण का उपयोगी होने से सत् और असत् के विवेक का विचार करो और असत् के व्यक्त अव्यक्त रूप अवान्तर (मध्य) भेद को रहने दो, यहां उसके विचार का क्या फल है।।८५।।

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ।।८६।।

वायु में जो सत् का अंश है वह ब्रह्मरूप है और शेष अंश वायु है वह आकाश के समान मिथ्या है इस प्रकार चिरकाल तक वायु के मिथ्यात्व का निश्चय करके वायु सत्य है इस बुद्धि को त्याग दे।।८६।।

चिंयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।।
ब्रह्मांडवरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ।।८७।।

इसी प्रकार पवन की अपेक्षा न्यून देश में वर्तमान अग्नि की भी चिन्ता करे अर्थात मिथ्या समझे, कदाचित् कहो कि सद्वस्तु के एक देश में माया है और माया के एकदेश में आकाश है, इस प्रकार ७८ वें श्लोक में आकाश आदि का जो न्यूनाधिकभाव कहा है वह जगत् में कहीं देखा सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्माण्ड के आवरणों में भी यही न्यून अधिक का विचार है।।८७।।

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः ।।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूपंचके ।।८८।।

वायु से दशांश न्यून अग्नि वायु के विषय कल्पित है अर्थात् मिथ्या है कदाचित्

कहो कि यह न्यूनाधिक भाव कपोलकल्पित है सो ठीक नहीं कि पांच भूतों में जो दशांश से न्यूनाधिक भाव है वह पुराणों में कहा है।।८८।।

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि ।।८९।।

अब अग्नि के स्वरूप को कहते हैं कि अग्नि उष्ण और प्रकाशरूप है और इस अग्नि में भी ये कारण के धर्म वायु के समान माने जाते हैं कि वह्नि निस्तत्व शब्द और स्पर्शवाली है।।८९।।

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ।।९०।।

इसी प्रकार कारण के धर्मों से युक्त अग्नि के स्वाभाविक धर्म को कहते हैं कि सत् माया, व्योम, वायु इनके अंशों से युक्त अग्नि का निजगुण रूप है, उनमें सत् से भिन्न जो धर्म है उनको बुद्धि से पृथक् करे अर्थात मिथ्या समझे।।९०।।

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिंतयेत् ।।९१।।

इस प्रकार जब वह्निका सत से विवेक करने पर मिथ्यात्व का निश्चय हो गया तो अग्नि से दशांश न्यून जल अग्नि के विषय कल्पित है, यह चिन्ता करे अर्थात् जलों को भी मिथ्या समझे।।९१।।

संत्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्या स्वीयो रसो गुणः ।।९२।।

अब जल में भी कारण के और अपने गुणों को कहते हैं कि ये जल तत्त्व से शून्य (मिथ्या) शब्द स्पर्श रूपवाले अन्य के धर्मों की अनुवृत्ति (आने) से हैं और इनमें अपना गुण रस है।।९२।।

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ।।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिंतयेत् ।।९३।।

अब विवेक और ध्यान से जलों के मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भूमि के मिथ्यात्व की चिंता को कहते हैं कि सद्वस्तु से जल का विवेक और मिथ्यात्व का निश्चय होने पर उन जलों में दशांश न्यून और कल्पित भूमि की चिंता करे अर्थात् मिथ्या समझे।।९३।।

अस्ति भूस्तत्त्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।।
रसश्च परतो गंधो नैजः सत्ता विविच्यताम् ।।९४।।

अब भूमि में मिथ्यात्व निश्चय के लिये भूमि के धर्मों का विभाग करते हैं कि भूमि तत्त्व से शून्य है और इस भूमि में शव्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण अन्य भूतों के हैं और अपना गुण एक गन्ध है इन सबसे सत्ता का विवेक करो अर्थात् इन सबको मिथ्या समझो।।९४।।

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ।।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्मांडं भूमिमध्यगम् ।।९५।।

सोई कहते हैं कि जब सत्ता पृथक् कर ली तो भूमि मिथ्या ही शेष रह गयी अब ब्रह्माण्ड आदि भौतिक पदार्थों से सद्वस्तु के विवेकार्थ उनकी स्थिति का प्रकार दिखाते हैं कि भूमि में दशांश न्यून ब्रह्माण्ड है।।९५।।

ब्रह्मांडमध्ये तिष्ठंति भुवनानि चतुर्दश ।।
भुवनेषु वसंत्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ।।९६।।

ब्रह्माण्ड के मध्य में चौदह भुवन टिक रहे हैं और इन भुवनों में अपने अपने कर्मों के अनुसार प्राणियों के देह बासते हैं।।९६।।

ब्रह्मांडलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ।।
असंतोऽडादयो भांतु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ।।९७।।

ब्रह्माण्ड और लोक में देहों में से जब सद्वस्तु को पृथक् कर लिया तो मिथ्यारूप ब्रह्माण्ड आदि भासें तो भासे उनके भान होने में हमारी कोई हानि नहीं है।।९७।।

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यंतवासिते ।।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ।।९८।।

भूत भौतिक (कार्य) माया इनका मिथ्यात्व जब विवेक और ध्यान भले प्रकार निश्चित हो गया तो सद्वस्तु अद्वैतरूप है यह बुद्धि कदाचित् भी विपरीत भाव को प्राप्त नहीं होती अर्थात् सदैव बनी रहती है।।९८।।

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणी ।।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ।।९९।।

कदाचित् कोई शंका करे कि जब भूमि आदि मिथ्या है तो विद्वान के व्यवहार का लोप हो जायगा सो ठीक नहीं है कि जब भूमि आदि स्वरूप द्वैत का सत् अद्वैत से पृथक् भाव हो गया तो भी उस उस अर्थ का कार्य जैसा जगत् में देखा है वैसा ही विद्वान को भी प्रतीत होगा क्योंकि ज्ञानी को मिथ्यात्व का निश्चय होने से कुछ भूमि आदि के स्वरूप का नाश नहीं हो जाता इससे व्यवहार का लोप भी नहीं होता।।९९।।

सांख्यकाणादबोद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ॥
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्येष तथा तथा ॥१००॥

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि सद्‌रूपतत्त्व अद्वैतरूप है तो सांख्य आदि के कहे भेद का खंडन क्यों नहीं करते सो ठीक नहीं कि सांख्य, काणाद, बौद्ध आदि जैसे जैसे जगत् के भेद को अनेक युक्तियों से वर्णन करते हैं वह भेद वैसे वैसे ही रहा क्योंकि हम भी व्यावहारिक भेद को मानते हैं इससे उसके खण्डन करने में यत्न नहीं करते॥१००॥

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः ॥
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम्॥१०१॥

कदाचित् शंका करो कि प्रमाणों से सिद्ध सत्त्व के भेद की अवज्ञा (तिरस्कार) नहीं हो सकती सो ठीक नहीं कि जैसे अन्य सांख्यवादियों ने निःशंक होकर श्रुति आदि से सिद्ध सत् अद्वैत् की अवज्ञा की है, ऐसे ही श्रुति युक्ति अनुभव इनके बल से उनके द्वैत का तिरस्कार करने में हमारी क्या हानि है॥१०१॥

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ॥
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

अब द्वैत की अवज्ञा का फल जो जीवन्मुक्ति ही उसका वर्णन करते हैं कि यदि द्वैत की अवज्ञा भले प्रकार अंतःकरण में स्थित हो जायगी तो अद्वैत में बुद्धि स्थिर हो जायगी और उसके स्थिर होने पर यह पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है॥१०२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

केवल जीवन्मुक्ति ही फल नहीं किंतु श्रीकृष्णचन्द्रजी की कही यह विदेहमुक्ति भी इसका फल है कि हे अर्जुन ! यह ब्रह्म में स्थित है इसको प्राप्त होकर मोह को प्राप्त नहीं होता और अंत समय में भी इसमें टिक कर ब्रह्म 'निर्वाण' पद को प्राप्त होता है॥१०३॥

सदद्वैतेऽनृतद्वते यदन्योन्यैक्यविक्षणम् ॥
तस्यांतकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

यहां अंतकाल शब्द से देह का पात नहीं लेना किंतु सत् अद्वैत और मिथ्या द्वैत इनकी जो परस्पर अध्यासरूप एकता देखनी उसका अंतकाल इन दोनों की भेद बुद्धि ही है अर्थात् अध्यास का त्याग है अन्य नहीं अर्थात् दोनों के भिन्न भिन्न समझने को ही अंतकाल कहते हैं देहमरण को नहीं॥१०४॥

यद्वांतकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ।।
तस्मिन कालेऽपि न भ्रांतेर्गतायाः पुनरागमः ।।१०५।।

अब जगत् में प्रसिद्ध अंतकाल के लेने में दोष के अभाव को कहते हैं कि अथवा जगत् की प्रसिद्धि से प्राणों का वियोग भी अंतकाल रहो उस काल में भी गयी हुई भ्रान्ति का फिर आगमन नहीं होता।।१०५।।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रांतिर्न सर्वथा ।।१०६।।

रोगरहित हो वा उपविष्ट (बैठा) हो, रोगी हो वा भूमि पर लोटता हो वा मूर्च्छा को प्राप्त हो, ऐसा होकर भी यह पुरुष प्राणों को त्यागे तो भी यह भ्रांति नहीं रहती, अर्थात् मरण समय में सर्वथा भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।।१०६।।

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।।
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ।।१०७।।

कदाचित् कहो कि प्राण वियोग के समय मूर्च्छा आदि से ज्ञान का नाश होने पर भ्रांति हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे प्रतिदिन स्वप्न और सुपुप्ति अवस्थाओं में पठित वेद का विस्मरण होने पर भी (अगले) दिन में वह वेद अनधीत (अपठित) नहीं होता अर्थात् उसकी स्मृति बनी रहती है वैसे ही मरणकाल में भी तत्त्व का अनुसंधान न होने पर भी विद्या (ज्ञान) का नाश नहीं होता।।१०७।।

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।।
न नश्यति न वेदांतात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ।।१०८।।

प्रमाणों से उत्पन्न हुई विद्या, प्रबल प्रमाण के बिना नष्ट नहीं होती और वेदांत के बिना अन्य कोई दूसरा प्रबल प्रमाण भी नहीं दीखता।।१०८।।

तस्माद्वेदांतसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।।
अंतकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ।।१०९।।

इससे वेदांतरूप प्रमाण से सिद्ध सत् अद्वैत को कोई नहीं बाँध सकता इससे अंतकाल में भी पांच भूतों के विवेक से निवृत्ति (ज्ञान) स्थित रहता है।।१०९।।

इति श्रीपंडितमिहिरचन्द्रकृत–भाषोद्धृतिसहित–श्रीविद्यारण्यमुनिरचित-
पंचदश्यां महाभूतविवेकः समाप्तः ।।२।।

इति महाभूतविवेकप्रकरणम् ।।२।।

अथ पंचकोशविवेकप्रकरणम् ३

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पंचकोशविवेकतः ।।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ।।१।।

अब तैत्तिरीय उपनिषद के तात्पर्य का व्याख्यान रूप जो पंचकोशविवेक प्रकरण उसका आरंभ करते हुए और उसमें श्रोताओं की प्रवृत्ति के लिये प्रयोजन अभिधेयों को सूचित करते हुए ग्रंथकार मुख से कहने योग्य ग्रंथ की प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जो परम* आकाशरूप गुहा में छिपे ब्रह्म को जानता है' इस श्रुति में कहा जो गुहाहित ब्रह्म है वह गुहा शब्द के अर्थ जो पंच (अन्नमय आदि) कोश उनके विवेक से जानने को शक्य है, इससे पंचकोशों के प्रत्यगात्मा से विवेक को कहते हैं।।१।।

देहादभ्यंतरः प्राणः प्राणादभ्यंतरं मनः ।।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परंपरा ।।२।।

अब उस गुहा के अर्थ को कहते हैं जिसमें स्थित ब्रह्म पंचकोशों के विवेक से जाना जाता है कि अन्नमयरूप देह से आंतर (भीतर) प्राण और प्राणमय से आंतर मन और मनोमय से आंतर कर्ता (विज्ञानमय) और विज्ञानमय आंतर भोक्ता (आनंदमय) कोश है सो यह जो अन्नमयकोश से आनंदमयपर्यंत कोशों की परंपरा है, यही गुहा है अर्थात् यह गुहा अपनी अपनी एकता के द्वारा ब्रह्म को छिपा लेती है।।२।।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ।।३।।

अब अन्नमय का रूप और उसको आत्मा से भिन्न दिखाते हैं कि पिता और माता के भक्षण किये अन्न से पैदा हुए वीर्य से उत्पन्न हुआ देह अन्न से ही बढ़ता है अर्थात् दूध आदि अन्न से पुष्ट होता है। वह देह अन्नमय (अन्न का विकार) है, आत्मा नहीं है क्योंकि जन्म से पूर्व और मरण के अनन्तर उस देह का अभाव है, यहां यह

---

* यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

अनुमान हैं कि देह आत्मा नहीं, कार्य होने से घट के समान है। भावार्थ यह है कि पिता माता के भक्षित अन्न से उत्पन्न वीर्य से पैदा हुआ देह अन्न से बढ़ता है, इससे अन्नमय है आत्मरूप नहीं, क्योंकि जन्म से पूर्व और मरण के पीछे देह का अभाव है।। ३।।

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म सम्पादयेत्कथम् ।।
भाविजन्मन्यसन्कर्म न भुंजीतेह संचितम् ।।४।।

कदाचित् कोई शंका करे कि देह में कार्यत्वरूप हेतु को तो मानेंगे और आत्मा से भिन्नरूप साध्य को न मानेंगे क्योंकि इसके विपक्ष (न मानना) में कोई बाधक नहीं, इस शंका में अकृत की प्राप्ति और कृत के नाशरूप बाधक को कहते हैं कि इस देहरूप आत्मा को पूर्वजन्म में न होने से और इस जन्म के हेतु अदृष्ट के असंभव में भी इस जन्म को स्वीकार करोगे तो अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) होगी और वैसे ही भावी (होने वाला) जन्म में भी यह देहरूप आत्मा न रहेगा तो इस देह के द्वारा किये हुए पुण्य पापों के फल का कोई भोक्ता ही न होगा, इससे भोग के बिना ही किये हुए कर्मों का क्षयरूप कृतप्रणाश हो जायगा इससे कृतनाश अकृत का अभ्यागम रूप होने से आत्मा को कार्य न मानना चाहिये, भावार्थ यह है कि पूर्वजन्म में असत् देह इस जन्म को कैसे पैदा करेगा और भावी (भविष्य) जन्म में, असत् देह इस देह में संचित कर्मों को कैसे भोगेगा।।४।।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ।।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ।।५।।

अब अन्नमय कोश का आत्मा से भेद दिखाकर प्राणमय कोश के स्वरूप और आत्मा के भेद को दिखाते हैं कि जो वायु देह में पाद से मस्तक पर्यंत व्यापक और व्यानरूप से बल का दाता और चक्षु आदि इंद्रियों का उस उस विषय में प्रेरक है वह प्राणमयकोशरूप वायु चैतन्य से रहित होने से आत्मा नहीं हो सकता यहां यह अनुमान भी है कि विवाद का आश्रय प्राण आत्मा नहीं है, जड़ होने से घट के समान है। भावार्थ यह है कि देह में पूर्ण बल का दाता इंद्रियों का प्रेरक प्राणमयकोशरूप वायु चैतन्य के नहीं होने से आत्मा नहीं है।।५।।

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।।
कामाद्यवस्थया भ्रांतो नासावात्मा मनोमयः ।।६।।

अब मनोमय कोश के रूप और आत्मा के भेद को कहते हैं कि देह में अहंता (देह मैं हूं) बुद्धि को और घर आदिक में ममता (मेरे हैं) बुद्धि को जो करे वह मनोमयकोशरूप मन आत्मा नहीं है क्योंकि वह मन काम क्रोध आदि वृत्तियों से

अस्थिर स्वभाव है अर्थात् सदा एकरस नहीं रहता। यहां यह अनुमान है कि मनोमयकोश आत्मा नहीं विकार होने से देह के समान है। भावार्थ यह है कि देह में अहंकार और घर आदि में ममता को जो करे वह मनोमय काम आदि अवस्था से भ्रांत है इससे आत्मा नहीं है।।६।।

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ।।७।।

अब कर्ता रूप विज्ञानमय के रूप और आत्मा के भेद को दिखाते हैं कि जो चैतन्य की छाया से युक्त अर्थात् चिदाभाससहित बुद्धि है वह शयन के समय में लीन (छिपी) हुई भी जाग्रत अवस्था में नखों के अग्रभाग पर्यंत संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है, वह विज्ञानमय कोशरूप बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि वह लय अवस्थावाली है, यहां भी यह अनुमान है कि बुद्धि आत्मा नहीं है, लीन होने से घट के समान है, भावार्थ यह है कि सोने के समय लीन और जाग्रत् में नखाग्र पर्यंत व्यापक जो चिदाभास से युक्त बुद्धि विज्ञानमयकोश रूप वह भी विलय होने से आत्मा नहीं है।।७।।

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतांतरिन्द्रियम् ।।
विज्ञानमनसी अंतर्बहिश्चैते परस्परम् ।।८।।

कदाचित् कोई कहे कि मन बुद्धि ये दोनों अंतःकरण रूप हैं, इससे मनोमय विज्ञानमय दो कोशों की कल्पना नहीं हो सकती, इस शंका की निवृत्ति के लिये कर्तृत्व करणत्व रूप से उनके भेद को कहते हैं कि एक भी अंतर इंद्रिय (अंतःकरण) कर्तारूप और करणरूप से विकार को प्राप्त होती है और ये दोनों कर्ता और करण विज्ञान और मन कहे जाते हैं और ये दोनों परस्पर अंतः (भीतर) बहिः (बाहिर) रूप से वर्तते हैं अर्थात् विज्ञानमय अंतः और मनोमय बहिः होता है इससे दो कोश हो सकते हैं। भावार्थ यह है कि कर्ता करणरूप से अंतःकरण के जो दो विकार हैं उनको विज्ञान और मन कहते हैं और ये दोनों अंतः बहिः रूप से परस्पर भिन्न हैं।।८।।

काचिदंतर्मुखा वृत्तिरानंदप्रतिबिंबभाक् ।।
पुण्यभोगे भोगशांतौ निद्रारूपेण लीयते ।।९।।

अब भोक्ता शब्द के अर्थ आनंदमय कोश का स्वरूप और आत्मा से भेद को कहते हैं कि पुण्यकर्म के फल भोगकाल में कोई बुद्धि की वृत्ति अंतर्मुख हुई आत्मा के स्वरूप आनंद के प्रतिबिंब को भजती है अर्थात् उस वृत्ति में आनंद का प्रतिबिंब पड़ता है

और वही वृत्ति पुण्यकर्म फल भोग की शांति के समय में निद्रारूप से लीन हो जाती है उस वृत्ति को आनंदमय कोश कहते हैं। भावार्थ यह है कि पुण्य भोग के काल में किसी अंतर्मुखी बुद्धि की वृत्ति में जो आनंद का प्रतिबिंब पड़ता है और उक्त भोग की शांति के समय वह वृत्ति निद्रारूप से लीन हो जाती है उसको आनंदमय कोश कहते हैं।।९।।

कदाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।।
बिंबूभूतो य आनंद आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः ।।१०।।

अब आनंदमय कोश को आत्मा से भिन्न कहते हैं कि यह आनंदमय भी मेघ आदि के समान कदाचित् ही होने से आत्मा नहीं है, कदाचित् शंका करो कि विद्यमान आनंदमय आदि सबको आत्मा न मानोगे तो जगत् में कोई आत्मा ही न रहेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि आदि में स्थित जो प्रतिबिम्ब प्रिय आदि शब्दों का अर्थ आनन्दमय उसको जो बिम्ब (कारण) रूप आनन्द वही आत्मा है क्योंकि वह सर्वदा स्थित (नित्य) है, यहां यह अनुमान है कि विवाद का आश्रय आनंद आत्मा होने योग्य है, नित्य होने से जो आत्मा नहीं वह नित्य भी नहीं जैसे देह आदि। इस अनुमान में आकाश आदि उत्पत्तिमान् होने से अनित्य हैं इससे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं। भावार्थ यह है कि कदाचित् होने से यह आनन्दमय भी आत्मा नहीं किंतु इसका बिम्ब जो आनन्द है वही नित्य होने से आत्मा है।।१०।।

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानंदांतवस्तुषु ।।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ।।११।।

यहां वादी शंका करता है कि देह से लेकर आनन्दमय निद्रामय पर्यंत कोशों को पूर्वोक्त कारणों से आत्मत्व नहीं घटता है तो मत घटो परंतु इनसे अन्य भी कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता अर्थात् इनसे अन्य कोई पदार्थ नहीं है।।११।।

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयंते न चेतरः ।।
तथाप्येतेऽनुभूयंते येन तं को निवारयेत् ।।१२।।

अब उक्त शंका का परिहार करते हैं कि निद्रा आदि देह पर्यंत जगत् में मिलते हैं और इनसे अन्य कोई अनुभव में नहीं आता, यह जो तुमने कहा सो सत्य है यहां निद्राशब्द से निद्रानन्द लेना। कदाचित् कहो कि उनसे भिन्न आत्मा की किस प्रकार सिद्धि होगी सो ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि देह आदि से अन्य कोई नहीं मिलता तथापि जिसके बल से ये आनन्दमय आदि जाने जाते हैं उस अनुभव (ज्ञान) का निवारण कौन कर सकता है अर्थात् वह मानना पड़ेगा अर्थात् वहीं आत्मा है,

भावार्थ यह है कि निद्रा आदि सबका अनुभव होता है इससे अन्य का नहीं यह यद्यपि सत्य है तथापि जिससे इनका ज्ञान होता है उसको कौन हटा सकता है।।१२।।

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।।
ज्ञातृज्ञानांतराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ।।१३।।

कदाचित् कोई शंका करे कि पूर्वोक्त देह आदि से अन्य आत्मा यदि होता तो मिलता जिससे नहीं मिलता है इससे जाना जाता है कि नहीं है, सो ठीक नहीं क्योंकि आनन्दमय आदिकों के साक्षी को स्वयम् अनुभवरूप होने से अनुभाव्यता नहीं है अर्थात् उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है, किन्तु वह स्वप्रकाशरूप है, कदाचित् शंका करो कि अनुभवरूप भी उसको ज्ञान का विषय क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं, क्योंकि वह अनुभव आत्मा अपने से अन्य ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से ज्ञान का विषय नहीं होता, कदाचित् शंका करो कि तुम कहते हो ज्ञाता आदि के अभाव से नहीं जाना जाता, हम कहते हैं अपनी असत्ता से नहीं जाना जाता, इन दोनों में निश्चय का कारण क्या है सो ठीक नहीं, क्योंकि असत्ता से नहीं कह सकते जब निद्रा आदि का वह साक्षी है तो असत् नहीं हो सकता। भावार्थ यह है कि उसको स्वयम् अनुभवरूप होने से ज्ञेयरूपता नहीं है और वह अपने से भिन्न ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से अज्ञेय है असत्रूप से नहीं।।१३।।

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ।।१४।।

अब अनुभवरूप आत्मा की अनुभाव्यता के अभाव में दृष्टांत देते हैं कि अन्य पदार्थों में अर्थात् चणक आदि में अपने माधुर्य्य (मिष्टता) आदि का अर्पण करनेवाले ज़ो माधुर्य्य वा अम्ल आदि स्वभाव के गुड़ आदि पदार्थ हैं उनको अपने गुड़ आदि स्वरूप में माधुर्य्य के अर्पण करने की अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह आकांक्षा नहीं है कि हममें कोई माधुर्य का संपादन करे और गुड़ आदि में मधुरता का संपादक कोई अन्य वस्तु भी जगत् में नहीं है।।१४।।

अर्पकांतरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।।
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ।।१५।।

जब कोई अन्य मधुरता का अपक (दाता) नहीं है और गुड़ आदि का स्वाभाविक माधुर्य्य आदि स्वभाव जैसे हैं वैसे ही आत्मा भी ज्ञान का विषय न हो परन्तु ज्ञानरूप आत्मा को कौन हटा सकता है अर्तात् आत्मा अनुभवरूप है।।१५।।

स्वयंज्योतिर्भवत्येषु परोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ॥
तमेव भांतमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६॥

अब पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण कहते हैं कि यह* आत्मा स्वयंज्योति है इस संपूर्ण जगत् से पहले प्रकाशित होता है और उसका प्रकाश होने पर उसी के प्रकाश से इस जगत् का प्रकाश होता है यह श्रुति आत्मा को स्वप्रकाश कहती है॥१६॥

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम् ॥
विज्ञातारं केन विंद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७॥

अब 'जिससे इन सबको जानता है उसको किससे जाने अरे गार्गी ! विज्ञता को किससे जाने' इस श्रुति** के अर्थ को श्लोक में पढ़ते हैं कि जिस चैतन्यरूप साक्षी आत्मा से संपूर्ण प्राणी इस जगत् को जानते हैं उस साक्षी आत्मा को कौन से जड़ पंदार्थ जानें अर्थात् नहीं जान सकते हैं, फिर इसी वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि इस दृश्य (देखने योग्य) जगत् के ज्ञाता को कौन से दृश्य पदार्थ से जाने अर्थात् किसी से भी नहीं जान सकते हैं। कदाचित् कहो कि मन से जान लेंगे सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान का साधन जो मन वह जानने योग्य विषय में समर्थ है ज्ञातारूप आत्मा में नहीं क्योंकि वाणी और मन से आत्मा नहीं जाना जाता यह श्रुति*** में लिखा है और आत्मा को भी ज्ञेय मानोगे तो उसी को कर्ता और उसी को कर्म मानने में विरोध होगा। भावार्थ यह है कि जिससे इस सबको जानते हैं उसको सम्पूर्ण प्राणी किस अन्य से जानें सबके ज्ञाता को किससे जाने क्योंकि ज्ञान का साधन मन जानने योग्य को जान सकता है, ज्ञाता को नहीं॥१७॥

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ॥
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

अब आत्मा के स्वप्रकाश होने में इन दो श्रुति**** वाक्यों को प्रमाण मानकर श्लोक में पढ़ते हैं कि वह आत्मा जो जो जानने योग्य है उस उस सबको जानता है, उस आत्मा का ज्ञाता आत्मा से अन्य कोई नहीं है और वह ज्ञानरूप ब्रह्म विदित (ज्ञान का विषय) और अविदित (अज्ञान से युक्त) इन दोनों से पृथक् (विलक्षण) बोधरूप है। भावार्थ यह है कि वह आत्मा सम्पूर्ण वेद्य को जानता है उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं इसी से ज्ञात और अज्ञात से विलक्षण वह आत्मा बोधरूप है॥१८॥

---

* अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतिअस्मात्सर्वस्यपुरतः सुविभाति । तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। ** येनेदंसर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन बिजानीयात् । *** 'नैव वाचा न मनसा' इति । **** स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ।।१९।।

कदाचित् कोई शंका करे कि* विदित और अविदित से भिन्न कोई बोध देखा ही नहीं सो ठीक नहीं, क्योंकि विदित (बोध का विषय) में विशेषण जो वेदन उसको ही बोध कहते हैं, बोध के अज्ञान में विदित का भी अज्ञान होगा। इससे बोध का अनुभव अवश्य मानना पड़ेगा इससे उस वादी को उपहास से उत्तर देते हैं कि जिस मंद को घट आदि के स्मरणरूप बोध में भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार भी नहीं होता, मनुष्य के समान है आकार जिसका ऐसे उस लोष्ट (डेला) अर्थात् जड़ को शास्त्र कैसे बोधन करावे अर्थात् उस मूर्ख को ज्ञान होना असंभव है।।१९।।

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ।।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ।।२०।।

अब बोध नहीं जाना जाता, इस उक्ति में व्याघात दोष देते हैं कि जैसे मेरे मुख में जिह्वा है कि नहीं यह उक्ति (वचन) केवल लज्जा के ही लिये हैं, बुद्धिमानी के लिये नहीं, क्योंकि जिह्वा के बिना भाषण ही नहीं हो सकता, इसी प्रकार मैं बोध को नहीं जानता अब से आगे जानूंगा, यह उक्ति भी लज्जा का ही हेतु हैं क्योंकि बोध के बिना वह व्यवहार ही नहीं होगा।।२०।।

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।।
यद्बोधमात्र तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ।।२१।।

कदाचित् कहो कि वह बोध ऐसा रहो, प्रकरण (यहां) के ब्रह्मविबोध को ऐसा न मानेंगे सो ठीक नहीं क्योंकि जगत् के विषे जिस जिस घटादि रूप पदार्थ में बोध (ज्ञान) है उस उस घट आदि विषय के उपेक्षण (अनादर) करने पर जो बोधरूप घट आदि सब विषयों में व्यापकरूप स्फुरता है वही ब्रह्म है इस निश्चयात्मक बुद्धि को ही ब्रह्म कहते हैं।।२१।।

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ।।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ।।२२।।

यदि घट आदि विषय की उपेक्षा करने पर उस उस अर्थ का ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाता है तो पंचकोश का विवेक करना वृथा है सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म की प्रत्यक्

---

* 'अन्यदेव तद्विदितादथों अविदितादधि, ।

रूपता के ज्ञान बिना संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती और पंचकोशविवेक भी प्रत्यक्रूप ज्ञान का हेतु है इससे व्यर्थ नहीं है कि अन्नमय आदि पंचकोशों के परित्याग अर्थात् बुद्धि से अनात्मा के निश्चय होने पर उनका साक्षीरूप बोध ही शेष रहता है वह साक्षीरूप बोध अपना स्वरूप ब्रह्म ही है, कदाचित् कहो कि अनुभव से सिद्ध अन्नमय आदि के परित्याग में शून्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि साक्षीरूप उस बोध को शून्यरूपता नहीं घट सकती। भावार्थ यह है कि पंचकोशों के परित्याग में जो साक्षीरूप बोध शेष रहता है वह निजरूप ब्रह्म ही है और उसको शून्यता नहीं हो सकती॥२२॥

अस्ति तावत्स्वस्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ॥
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

दुर्घटता को ही कहते हैं कि विवाद अविषय होने से संपूर्ण लौकिक वैदिकों के मत में कोहं स्वयं शब्द का अर्थ अपना रूप है और विवाद में दोष भी है कि अपने आत्मा में भी यदि विवाद होगा तो इसमें प्रतिवादी कौन होगा अर्थात् कोई भी नहीं होगा॥२३॥

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ॥
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥२४॥

कदाचित् अपना असत्त्ववादी ही प्रतिवादी हो जायगा सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अपनी असत्ता भ्रम के बिना किसी को भी नहीं रुचती अर्थात् भ्रांति के बिना अपने अभाव को कोई नहीं मानता जिससे किसी को भी नहीं रुचता इसी से श्रुति असत्त्व वादी के मत में बाध दोष को कहती है॥२४॥

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ॥
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५॥

अब उसी श्रुति के अर्थ को श्लोक में पढ़ते हैं कि यदि ब्रह्म को असत् जानेगा तो आप ही असत् हो जायगा इससे इस ब्रह्म का वेद्य मन मानो परंतु अपने स्वरूप का तो स्वीकार करो वही स्व ब्रह्म है॥२५॥

कीदृक् तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ॥
यदनीदृगतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६॥

अब आत्मा को स्वप्रकाश कहने की अभिलाषा से वेद्य न मानने में ब्रह्म के रूप में प्रश्न करते हैं कि वह ब्रह्म कैसा है ऐसा कोई पूछे तो यह उत्तर है कि आत्मा में ईदृशता नहीं है अर्थात् ईदृक्त्व आदि किसी रूप का आत्मा में संबंध मानोगे तो

उसी रूप से आत्मा वेद्य होगा वह न मानोगे तो शून्य हो जायेगा यह सत्य है ईदृशता के अंगीकार में वैसे ही वैद्यत्व को न मानेंगे, ऐसे ही तादृश रूप भी नहीं है कि उस ब्रह्म में ईदृक्ता नहीं है किंतु जो ईदृश (ऐसा) तादृश (वैसा) नहीं है वही ब्रह्मस्वरूप है, यह निश्चय करो। भावार्थ यह है कि ब्रह्म कैसा है यह पूछोगे तो ब्रह्म में ईदृशता नहीं हैं किंतु जो ईदृश और तादृश नहीं है अर्थात् जिसको ऐसा वैसा नहीं कह सकते उस ब्रह्म के स्वरूप को तू निश्चय कर।।२६।।

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते ।।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ।।२७।।

अब ईदृक् शब्द के अर्थ को कहते हुए ग्रंथकार यह कहते हैं कि ईदृक् तादृक् शब्दोंका ही अर्थ ब्रह्म नहीं है, क्योंकि नेत्र आदि इंद्रियों के परोक्ष (धर्म आदि) को तादृग् कहते हैं और सबका द्रष्टा आत्मा इंद्रियों के ज्ञान का अविषय होने से ईदृक् नहीं है और स्व (अपना) रूप होने से परोक्ष भी नहीं हो सकता इससे तादृक् नहीं है। भावार्थ यह है कि इंद्रियों को ईदृक् और परोक्ष को तादृक् कहते हैं आत्मा अविषय होने से इंद्रियों का विषय नहीं और स्व होने से परोक्ष नहीं है इससे न ईदृक् है न तादृक् है।।२७।।

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।।
सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ।।२८।।

अब फल दिखाते हुए शून्यरूप दूसरे पक्ष का खंडन करते हैं कि आत्मा अवेद्य होने से अपरोक्ष है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञान का अविषय होने पर भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप है इससे यह आत्मा स्वप्रकाशरूप है। यहां यह अनुमान है कि आत्मा स्वप्रकाश है ज्ञान का विषय न होने पर भी अपरोक्ष होने से ज्ञान के समान कदाचित् कहो कि ज्ञान का विषय है इससे तुम्हारा हेतु विशेषणाऽसिद्ध है सो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा को ज्ञान का विषय मानोगे तो आत्मा ही को कर्ता कर्म दोनों के मानने में विरोध होगा, कदाचित् कहो कि स्वस्वरूप से कर्ता और विशिष्टरूप से कर्म हो जायगा सो ठीक नहीं, क्योंकि गमनक्रिया में भी स्वस्वरूप से कर्त्ता और विशिष्टरूप से कर्म हो जायगा, कदाचित् कहो कि तुम्हारे ज्ञानरूप दृष्टांत में हेतु नहीं है अर्थात् ज्ञान, ज्ञान का विषय न होने पर अपरोक्ष नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान को भी अन्य ज्ञान की अपेक्षा मानोगे तो अनावस्था दोष हो जायगा कदाचित् शंका करो कि न्याय के मत मे घट का भाव घट के ज्ञान से और घटज्ञान का भान अनुव्यवसाय से इससे संवेदन के समान यह स्वप्रकाश दृष्टांत साधन से रहित है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि

ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भान नहीं है, इससे साधन से विकल (रहित) नहीं है। कदाचित् शंका करो कि स्वप्रकाश से सिद्ध भी आत्मा में ब्रह्म के लक्षण नहीं है इससे ब्रह्म की सिद्धि न होगी सो ठीक नही क्योंकि 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है' इस श्रुति में जो ब्रह्म का लक्षण कहा है वह आत्मा में विद्यमान होने से आत्मा ब्रह्मरूप है. भावार्थ यह है कि अवेद्य भी ब्रह्म अपरोक्ष है इससे यह स्वप्रकाश है और आत्मा में सत्य ज्ञान अनंतरूप ब्रह्म के लक्षण है।।२८।।

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ।।२९।।

अब आत्मा को सत्य कहने के लिये सत्य का लक्षण कहते हैं कि बाध से शून्य को सत्य कहते हैं क्योंकि पहिले आचार्यों ने यह कहा कि अबाध्य सत्य और बाध्य मिथ्या होता है यह सत्य असत्य का विवेक है। कदाचित् कहो कि ऐसा कहने से प्रकरण में क्या फल हुआ सो ठीक नहीं, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर आदि रूप जो जगत् उसके बाध अर्थात् स्वप्न सुषुप्ति आदि में न होना उसके साक्षीरूप से वर्तमान जो आत्मा उसके बाध में साक्षी कहो कौन होगा अर्थात् कोई भी साक्षी नहीं है। कदाचित् कहो कि साक्षी के बिना ही आत्मा का बाध क्यों न हो सो भी ठीक नहीं, क्योंकि साक्षी से रहित भी किसी बाध को मानोगे तो अनेक दोष होंगे इससे और जगत् के बाध का एक साक्षी जो आत्मा उसके बाध में कहो कौन साक्षी होगा और साक्षी के बिना बाध नहीं होता है।।२९।।

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।।
शक्येषु बाधितेष्वंते शिष्यते यत्तदेव तत् ।।३०।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि जैसे घट आदि मूर्त पदार्थों का अपनयन, अर्थात् घर से बाहर निकालने पर ले जाने के अयोग्य एक आकाश ही शेष रह जाता है इसी प्रकार आत्मा से भिन्न मूर्त अमूर्त अर्थात् देह इंद्रिय आदि जो निषेध करने योग्य हैं उनका जब 'नेति नेति' श्रुति से निराकरण कर दिया तब अंत में जो सबके निषेध का साक्षी बोधरूप शेष रहता है वही बाधरहित आत्मा है।।३०।।

सर्वबाधेन किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।।
भाषा एवात्र भिद्यंते निर्बाधं तावदस्ति हि ।।३१।।

कदाचित् कहो कि प्रतीत हुए सबके निषेध से किञ्चित भी शेष न रहेगा इससे कैसे कहते हो कि जो शेष रहे वह आत्मा है ? इसका उत्तर यह है कि कुछ शेष न रहेगा ऐसा कहनेवाले को भी सबके अभाव का ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा, इससे

ज्ञानरूप ही हमारे मत में आत्मा है, क्योंकि 'न किंचित्' इस शब्द से जो चैतन्य कहा जाता है वही ब्रह्म है, कदाचित् कहो कि अभाव से वाचक 'न किञ्चित' शब्द से चैतन्य कैसे कहा जाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि बाधका साक्षी तो अवश्य ही स्वीकार के योग्य है इससे वाचक शब्दों में ही विवाद है अर्थ में नहीं अर्थात् भाषाओं का ही वहाँ भेद है अर्थात् 'न किंचित्' साक्षी इत्यादि शब्द ही भिन्न हैं, बाध से रहित साक्षीरूप चैतन्य तो सर्वत्र विद्यमान है। भावार्थ यह है कि सबके बाध में 'न किंचित्' कहोगे तो जो 'न किंचित्' है वही आत्मा है और यहां भाषा (शब्द) ओं का ही भेद है बाधरहित आत्मा तो सर्वत्र है।।३१।।

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ।।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ।।३२।।

उक्त अर्थ को श्रुति के अनुकूल दिखाते हैं कि इसी से अर्थात् साक्षी चेतन को अबाध्य होने से (स एव नेति नेत्यात्मा) वही नेति नेति श्रुति बाध्य वस्तु का निषेध करके अर्थात् आत्मा से भिन्न वस्तु के निराकरण करने से इसी निषेध करने से अयोग्य प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्मं को शेष रखती है अर्थात् नेति नेति से जो शेष रहे वही आत्मा है।।३२।।

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्युक्तं शक्यतेऽखिलम् ।।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ।।३३।।

अब नेति नेति' श्रुति से बाध करने योग्य और बाध के अयोग्य इन दोनों को पृथक् पृथक दिखाते हैं। 'यह रूप है' इस प्रकार दृश्यरूप से दीखता जो संपूर्ण अर्थात् यह है इसं इदं रूप से ज्ञान के अयोग्य (साक्षी) रूप है वह त्यागने को अशक्य है, यहां 'हि' इस प्रसिद्ध के द्योतक और त्याग के कर्ता चैतन्यरूप निश्चय के बोधक निपात से त्याग की अयोग्यता सूचना की है और वही बाध से वर्जित अनिंद रूप आत्मा है। भावार्थ यह है कि जितना इदंरूप जगत् है उस सब का त्याग निषेध हो सकता है और जो अनिदंरूप है उसका त्याग नहीं हो सकता इससे बाधरहित वही आत्मा है।।३३।।

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ।।३४।।

कदाचित् कहो कि आत्मा अबाध्य रहो, प्रकरण में क्या आया सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म में जो सत्यत्व कहा है वह आत्मा में सिद्ध हो गया, कदाचित् कहो कि सत्यत्व रहेगा, ज्ञानत्व न रहेगा ? सो भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वयं अनुभवरूप होने से

आत्मा ज्ञानरूप है इत्यादि पूर्वोक्त वचनों से आत्मा को ज्ञानस्वरूप पहले कह आये हैं।।३४।।

न व्यापित्वाद्देशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः ।।
न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानंत्यं ब्रह्मणि त्रिधा ।।३५।।

कदाचित् कहो कि सत्यत्व ज्ञानत्व ये दोनों आत्मा में सिद्ध रहें, परंतु आनंत्य न घटेगा क्योंकि ब्रह्म में भी आनंत्य नहीं है यह आशंका करके प्रथम ब्रह्म में आनंत्य को सिद्ध करते हैं कि 'नित्य विभु सर्वगत अत्यन्त सूक्ष्म आकाश के समान सर्वगत नित्य नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन और जो यह सब है वह आत्मा है, यह संपूर्ण ब्रह्म है, ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि श्रुतियों* में व्यापक नित्यत्व सबका आत्मत्व आदि ब्रह्म के कहने से तीन प्रकार का भी आनंत्य कहा है अर्थात् देश, काल, वस्तु के लिये परिच्छेद (अभाव) से रहित आत्मा स्वरूप ब्रह्म स्वीकार करना, भावार्थ यह है कि ब्रह्म को होने से देशतः अंत नहीं अर्थात् यह नहीं है कि इस देश में है इसमें नहीं और नित्य होने से काल से भी अंत नहीं है और सबका आत्मा होने से वस्तु से भी अंत नहीं है इससे ब्रह्म में तीन प्रकार का आनंत्य है।।३५।।

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ।।
न देशादिकृतोऽतोऽस्ति ब्रह्मानंत्यं स्फुटं ततः ।।३६।।

केवल श्रुति से ही ब्रह्म का आनंत्य नहीं है किंतु युक्ति से भी आनंत्य है कि देश काल अन्य वस्तु ये सब माया से कल्पित हैं इससे गंधर्वनगर आदि से आकाश के समान देश आदिकों का किया ब्रह्म में वास्तविक परिच्छेद नहीं है जिससे इस कारण ब्रह्म के विषय आनंत्य प्रकट है कि 'वह यह आत्मा सत्य ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है, ऐसा संदेह नहीं करना कि आत्मा असत्य है, नृसिंहदेव ब्रह्म है यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि श्रुति** आत्माको ब्रह्मा से अभिन्न कहती है, इससे आत्मा भी अनंत सिद्ध हुआ, भावार्थ यह है कि देश, काल, वस्तु, माया से कल्पित है इससे देश आदि का किया अंत ब्रह्म में नहीं है इससे प्रकट है कि ब्रह्म अनंत है।।३६।।

सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ।।३७।।

---

* नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः । नित्यो नित्यानां चेतनचेतनानाम् इदं सर्वं हृदयमात्मा सर्वं ह्येतद् ब्रह्म ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।

** तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्यों सत्यमात्मैवं नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति अयमात्मा ब्रह्म।

कदाचित् शंका करो कि जड़रूप जगत् ब्रह्म में आरोपित है इससे ब्रह्म का परिच्छेद न हो परन्तु चेतन जीव ईश्वर तो आरोपित नहीं है इससे उनका किया परिच्छेदवाला होने से ब्रह्म अनंत न होगा ? सो ठीक नहीं, क्योंकि जो सत्य, ज्ञान, अनंत ब्रह्म है वही वस्तु है और वही उसका पारमार्थिक रूप है और जगत् में प्रसिद्धि ईश्वरत्व और जीवत्व ये दोनों वक्ष्यमाण दो उपाधियों से ब्रह्म में कल्पित हैं, इससे औपाधिक और कल्पित होने से पारमार्थिक (सच्चे) नहीं है, इससे जड़ के समान जीव ईश्वर भी ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं हो सकते। भावार्थ यह है कि जो ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतरूप है वह वस्तु है और वही पारमार्थिक है और ईश्वर जीव दो उपाधियों से ब्रह्म में कल्पित हैं।।३७।।

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।।
आनंदमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ।।३८।।

उन दोनों उपाधियों को दिखाते हुए प्रथम ईश्वर की उपाधिशक्ति का निरूपण करते हैं कि ईश्वर की उपाधि होने से ईश्वरसम्बंधिनी सत् असत् रूप से कहने के अयोग्य पृथ्वी आदि नियमन करने योग्य सब वस्तुओं की नियामक कोई शक्ति है और वह आनन्दमय आदि ब्रह्माण्डपर्यंत सब वस्तुओं में गूढ़ (छिपी) है इसमें प्रतीत नहीं हो सकती है।।३८।।

वस्तुधर्मा नियम्येरञ् शक्त्या नैव यदा तदा ।।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ।।३९।।

कदाचित् कहो कि वह शक्ति नियम से प्रतीत नहीं होगी तो उसकी असत्ता (अभाव) ही क्यों न हो जाय ? सो ठीक नहीं, क्योंकि पृथ्वी आदि वस्तुओं के जो काठिन्य द्रवत्व आदि धर्म हैं यदि उनकी व्यवस्था शक्ति न करे अर्थात् जिसका जो धर्म हो उसको उसमें न रखे तो परस्पर धर्मों का संकर होने से अर्थात् मिल जाने से जगत् अवश्य नष्ट हो जायगा अर्थात् व्यवहार का नियम न रहेगा।।३९।।

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ।।४०।।

कदाचित् कहो कि जड़रूप शक्ति जगत् का नियामक न होगी, सो ठीक नहीं। वह शक्ति चिदाभास के प्रवेश से चेतन के समान प्रतीत होती है, इससे नियामक हो सकती है और उस शक्तिरूप उपाधि के संयोग से सत्य आदि स्वरूप ब्रह्म ही ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है।।४०।।

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ।।४१।।

पूर्व कहे हुए अन्नमय आदि पंचकोशरूप जो जीव की उपाधि है उनकी विवक्षा विवेक करने पर सत्य आदि रूप वही ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त होता है, कदाचित् कहो कि एक ही ब्रह्म जीव ईश्वरभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है अर्थात् एक में विरुद्ध दो धर्मों का योग नहीं देखा है सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे एक ही देवदत्त एक ही समय में पुत्र के प्रति पिता और पौत्र के प्रति पितामह है इसी प्रकार ब्रह्म भी कोशरूप उपाधि की विवक्षा में जीव और शक्तिरूप उपाधि की विवक्ष में ईश्वर हो जाता है।।४१।।

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ।।४२।।

अब यह कहते हैं कि वस्तुतः ब्रह्म न जीव है न ईश्वर है जैसे पूर्वोक्त देवदत्त पुत्र आदि की अविवक्षता में न पिता है और न पितामह है इसी प्रकार शक्ति और कोश की अविवक्षा में ब्रह्म न ईश्वर है और न जीव है।।४२।।

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ।।४३।।

अब पूर्वोक्त ज्ञान के फल का वर्णन करते हैं कि जो चारों साधनों से संपन्न पुरुष इस उक्त प्रकार से पंचकोशों के विवेक द्वारा प्रत्यक्रूप ब्रह्म को जानता है अर्थात् साक्षात् करता है वह स्वयं ब्रह्म ही होता है और श्रुति* में भी कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है, ब्रह्म का ज्ञाता परमपद को प्राप्त होता है। कदाचित् कहो कि फिर उससे क्या होता है, इसका उत्तर देते हैं कि 'ज्ञानी न जन्मता है और न मरता है' इस श्रुति** के प्रमाण से ब्रह्मरूप का जन्म नहीं है इससे यह ज्ञानी भी फिर जन्म नहीं लेता है, क्योंकि ज्ञानी को भी ब्रह्मरूप अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाता है अर्थात् आत्मा को ब्रह्म समझता है। भावार्थ यह है कि जो इस प्रकार ब्रह्म को जानता है वह स्वयं भी ब्रह्म ही होता है और जिस प्रकार ब्रह्म का जन्म नहीं है इससे यह ज्ञानी भी फिर नहीं जन्मता है।।४३।।

इति पं० मिहिरचन्द्रकृतभाषोद्धृतिसहितविद्यारण्यस्वामिविरंचित-
पंचदश्यां पंचकोशविवेकः ।।३।।

इति पंचकोशविवेकप्रकरणम् ।।३।।

*** स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति—ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।**

**** न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।**

अथ द्वैतविवेकप्रकरणम् ४

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।।
विवेके सति जीवेन हेयो बंधः स्फुटीभवेत् ।।१।।

करने को इष्ट ग्रंथ की निर्विघ्न पूर्ति (पूरा होना) के लिये इष्ट देव का स्मरणरूप मंगल करते हुए आचार्य ग्रंथ का प्रारम्भ करते हैं कि कारणोपाधि अंतर्यामिरूप ईश्वर ने और कार्योपाधि अहंप्रतीति के विषे जीव ने रचा जो द्वैत (जगत्) उसका विवेक करते हैं अर्थात् पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं। कदाचित् कहो कि यह द्वैत का विवेक काक के दाँतो की परीक्षा के समान निष्प्रयोजन है सो ठीक नहीं, क्योंकि जीव ईश्वर के रचे द्वैतों के विवेक होने पर पूर्वोक्त जीव को त्यागने योग्य जो बंधक का हेतु द्वैत वह स्पष्ट हो जायगा अर्थात जीव को इतना त्यागने योग्य है, इसका निश्चय हो जायगा, भावार्थ यह है कि ईश्वर और जीव के रचे द्वैत का विवेक इसलिये करते हैं कि इस विवेक के अनंतर जीव का त्यागने योग्य बंधक स्पष्ट हो जायगा।।१।।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।।
स* मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ।।२।।

यहां यह शंका नहीं करनी कि अदृष्ट के द्वारा जीव ही जगत् का हेतु है इससे जगत् को ईश्वर का रचा कैसे कहते हो ? सो ठीक नहीं क्योंकि इसमें अनेक श्रुतियों का विरोध है, इससे श्वेताश्वर श्रुति* के वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं कि 'माया को ही प्रकृति जाने और मायी महेश्वर को जाने, वह मायी (ईश्वर) ही रचता है,' यह श्वेताश्वतरशाखावाले कहते हैं।।२।।

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ।।३।।

अब ऐतरेय उपनिषद् के वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं कि यह जगत् एक आत्मारूप ही सृष्टि से पहिले था अन्य कुछ नहीं, वह किंचित् ईक्षण (देखना) करता हुआ कि मैं

*** मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । मायी सृजते विश्वमेतत् ।**

लोकों को रचूं वह आत्मा अपने संकल्प (इच्छारूप) से इन लोकों को रचता हुआ इस वाक्य से बहवृच् शाखा के वेदपाठी परमात्मा को ही जगत् का स्रष्टा (रचनेवाला) कहते हैं॥३॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ॥
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥

अब ईश्वर ही जगत् को रचता है इसमें तैत्तिरीय श्रुति का भी प्रमाण के लिये उसके वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं कि आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी औषधि अन्न देह ये सब क्रम से इसी ब्रह्मरूप आत्मा से उत्पन्न हुए हैं॥४॥

बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

अब 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है' यह प्रारंभ करके उस इस आत्मा से आकाश हुआ इत्यादि और 'अन्न से पुरुष हुआ' यहां तक के वाक्यों से गुहा में छिपे प्रत्यक्रूप ब्रह्म से आकाश से देहपर्यंत जगत् की उत्पत्ति को कहकर पीछे जो यह कहा है कि उसने इच्छा की कि एक मैं बहुत प्रकार का होऊँ और जन्म धारण करूं इससे उसने तप किया। वह तप करके जो कुछ यह जगत् है इस सबको रचता हुआ इस वाक्य से उस ब्रह्म को ही इच्छापूर्वक जगत् का स्रष्टा तित्तिरि ने कहा है। भावार्थ यह है कि मैं बहुत हूँ और जन्म धारूँ इस इच्छा से वह तप करके सब जगत् को रचता हुआ, यह तित्तिरि ने कहा है॥५॥

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ॥
तेजोऽबन्नांडजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६॥

छांदोग्य उपनिषद् में भी ब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा कहा है कि 'हे सौम्य ! पहिले यह जगत् सत्रूप एक अद्वितीय हुआ' यह प्रारंभ करके कहा है कि 'उसने देखा कि मैं अनेक प्रकार का होऊँ और जन्म धारण करूँ फिर उसने तेज को रचा' इत्यादि वचनों से ब्रह्म को ही दर्शनपूर्वक तेज अन्न आदि का कर्त्ता कहकर उन इन सब भूतों के तीन ही बीज होते हैं कि अण्डज जीवज उद्भिज्ज इत्यादि ग्रंथ से अण्डजादि शरीरों के निर्माता भी ब्रह्म को सामगों ने वर्णन किया है। भावार्थ यह है कि 'यह जगत् सृष्टि से प्रथम सत्रूप रहा और ब्रह्म ने ही बहुत होने के लिये देखा और तेज जल अण्डज आदि को रचा' यह सामवेदी कहते हैं॥६॥

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायंतेऽक्षरतस्तथा ॥
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥७॥

अब मुण्डकोपनिषद् के वाक्य से जगत् की उत्पत्ति को कहते हैं कि 'जैसे भले प्रकार जलती हुई अग्नि से सहस्रों विस्फुलिंग सजातीय होते हैं उसी प्रकार अक्षयरूप ब्रह्म से हे सौम्य ! ये सब भाव पैदा होते हैं और उसमें ही सब लीन हो जाते हैं' यह अथर्वण वेद की श्रुति है। भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि से विस्फुलिंग (पतंगा) होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से अनेक प्रकार के चित् जड़रूप अनेक प्रकार के भाव पदार्थ हैं, यह अथर्वणवेद में लिखा है।।७।।

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ।।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ।।८।।
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।।
पिपीलिकावधिद्वंद्वमिति वाजसनेयिनः ।।९।।

इसी प्रकार बृहदारण्यक में भी अव्याकृतरूप ब्रह्म से नाम रूप जगत् की उत्पत्ति कही है कि वह यह जगत् पहले अव्याकृत रहा फिर नाम रूप से अनेक प्रकार का हुआ, उसके ये नाम रूप हैं, इस वाक्य से सृष्टि से पहले अप्रकट नाम रूप होने से अव्याकृत मायोपाधि ब्रह्म से नाम रूप स्पष्ट करना यह सृष्टि कही और वे नामरूप विराट् आदि में प्रकट हैं 'कि विराट् मनु नर गौ खर अश्व अजा भेड चेंटी पर्यंत यह सब द्वैत अनेक प्रकार के नाम रूप से उत्पन्न हुआ? यह वाजसनेयी कहते हैं अर्थात् जो कुछ यह पिपीलिका पर्यंत जगत् है वह सब सृष्टि से पहले नामरूप से रहित अव्याकृत जो ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ।।८।।९।।

कृत्वा रूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ।।१०।।

अब पूर्वोक्त श्रुतियों से द्वैतसृष्टि के अनंतर जीवरूप से ब्रह्म का जो प्रवेश देह आदि में कहा है उसका वर्णन करते हैं कि जीवसम्बन्धी भिन्नरूप अर्थात् अविकारी ब्रह्म से विलक्षण विकारी रूप को करके वह ईश्वर देह में प्रविष्ट हुआ और प्राण आदिकों की प्रेरणा करने से उसे जीव कहते हैं, यह श्रुति कहती है।।१०।।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ।।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ।।११।।

लिंगदेह का अधिष्ठान चैतन्य और लिंगदेह और लिंगदेह में वर्तमान चित् की छाया (चिदाभास) अर्थात् प्रतिविम्ब—इन तीनों के समूह को जीव कहते हैं।।११।।

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ।।१२।।

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि ईश्वर ही जीवरूप से प्रविष्ट है तो वह अज्ञता और दु:ख आदि विरुद्ध धर्मों का आश्रय कैसे हो गया सो ठीक नहीं, क्योंकि महेश्वर की जो माया है उसमें जैसे रचने का सामर्थ्य है इसी प्रकार मोहन करने की भी सामर्थ्य है, वह माया की मोहनशक्ति इस जीव को मोहित कर देती है अर्थात् चिदानंदरूप ब्रह्म के ज्ञान से रहित करती है।।१२।।

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वापुषि शोचति ।।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ।।१३।।

फिर यह जीव मोह से अनीश होकर अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति में असमर्थ होकर देह में मग्न हुआ शोचता है अर्थात् देहोऽहम् (देह मैं हूं) इस अभिमान से दु:खी होता है। ईश्वर का रचा हुआ जो द्वैत (जगत्) वह सम्पूर्ण संक्षेप से यहां तक वर्णन किया।।१३।।

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपंचितम् ।।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ।।१४।।

अब जीव को द्वैत के स्रष्टा होने में प्रमाण को कहते हैं कि सप्तान्न ब्राह्मण में अर्थात् द्वैतसृष्टि के बोधक ब्राह्मण में जीव के रचे द्वैत का विस्तार से वर्णन किया है कि पिता अर्थात् अपने अदृष्ट द्वारा जगत् की उत्पत्ति से सब लोक का पालक जीवं सात भेद से कर्म के द्वारा अन्नों को पैदा करता हुआ।।१४।।

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ।।१५।।

अब सातों अन्नों के अधिकारियों का वर्णन करते हैं—एक अन्न मर्त्यों (मनुष्य) का, दो अन्न देवताओं के, चौथा अन्न पशुओं का और शेष तीन अन्न आत्मा के लिये इस प्रकार उन सात अन्नों का विनियोजन (विभाग) किया अर्थात् बाँट दिये।।१५।।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ।।१६।।

वे सात अन्न ये हैं कि व्रीहि आदि, दर्श, पूर्णमास, क्षीर, मन, वाणी, प्राण उन सात अन्नों को जानें।।१६।।

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ।।१७।।

कदाचित् कोई शंका करे कि ये सातों अन्न जगत् के अंतर्गत हैं इससे जीवों के निर्मित कहना अयुक्त है सो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर ने स्वरूप से रचे हैं और जीव के भाग्यरूप से इससे कुछ दोष नहीं अर्थात् यद्यपि ईश्वर ने ये अन्न स्वरूप से रचे हैं तथापि जीव ने विहित और निषिद्ध देवता और परस्त्री के ध्यानरूप ज्ञान और विहित और निषिद्ध यज्ञ हिंसादिरूप कर्म इनके द्वारा व्रीहि आदि प्राणपर्यन्त अन्नों को रचा है।।१७।।

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्टताम् ।।१८।।

यह जगत् अर्थात् सात व्रीहि आदि रूप अन्न ईश्वर का कार्य और जीव का भोग्य इस प्रकार इष्ट है अर्थात् ईश्वर इसको रचता है और जीव भोगता है, जैसे एक ही स्त्री पिता को जन्य (पैदा की) है और भर्ता की भोग्य (भोग के योग्य) है।।१८।।

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ।।१९।।

अब ईश्वर और जीव की जगत् सृष्टि के हेतु को कहते हैं कि मायावृत्ति रूप ईश्वर का संकल्प उत्पत्ति का साधन है और मनोवृत्तिरूप जीव का संकल्प भोग का साधन है।।१९।।

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ।।२०।।

कदाचित् कहो कि ईश्वर की रची वस्तु से भिन्न कोई भोग्य का ऐसा आकार ही नहीं जिसको जीव रचे, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे ईश्वर की रची और एकरूप से स्थित मणि आदि वस्तु में भोक्ताओं की बुद्धि को नाना वृत्तियों के अनुसार उसका भोग अनेक प्रकार का इष्ट है इसी प्रकार यहां भी उपयोग भोग्य के भेद को जनाता है।।२०।।

दृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न दृष्यति न कुप्यति ।।२१।।

कदाचित् शंका करो कि भोग के भेद बिना भोग्य का भेद है सो ठीक नहीं, क्योंकि भोग के भेद से भोग्य का भेद देखते हैं कि मणि का अभिलाषी एक पुरुष मणि को पाकर आनंदित होता है और अन्य को न मिलने से क्रोध होता है और इस मणि के विषय जो विरक्त है वह मणि को देखता है पर उसे न क्रोध होता न आनंद होता है अर्थात् मिलने न मिलने से उसे हर्ष क्रोध नहीं होते।।२१।।

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगस्त्रयः ।।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ।।२२।।

अब जीव के रचे आकार के भेद जो भोग के भेद से होते हैं उनको कहते हैं कि प्रिय अप्रिय उपेक्ष्य अर्थात् प्यारी, कुप्यारी, न प्यारी, न कुप्यारी ये तीन आकार मणि में जीव के रचे हैं और ईश्वर का रचा जो मणि का रूप है वह तीनों में साधारण है।।२२।।

भार्या स्नुषा ननांदा च याता मातेत्यनेकधा ।।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ।।२३।।

अब जीव के रचे आकार का भेद दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—जैसे भार्या स्नुषा ननंदा याता माता आदि अनेक प्रकार से प्रतियोगी (सम्बन्धी) की बुद्धि के अंनुसार एक ही स्त्री का भेद होता है और स्वरूप से भेद नहीं है अर्थात् पति की अपेक्षा भार्या, श्वशुर की अपेक्षा स्नुषा, भौजाई की अपेक्षा ननंद, दौरानी की अपेक्षा याता और पुत्र की अपेक्षा माता होती है।।२३।।

ननु ज्ञानानि भिद्यंतामाकारस्तु न भिद्यते ।।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ।।२४।।

कदाचित् कहो कि स्त्री है विषय जिनका ऐसे ज्ञानों का भेद रहो स्त्री के आकार का कोई भेद नहीं इससे प्रतियोगी की बुद्धि से स्त्री का भेद अयुक्त है सो ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि ज्ञानों का भेद है आकार का नहीं क्योंकि स्त्री के शरीर में जीव की रची कोई अधिकता नहीं देखी तथापि।।२४।।

मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ।।
मांसमय्यां अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ।।२५।।

ज्ञेय की विलक्षणता के बिना ज्ञान की विलक्षणता नहीं हो सकती इससे ज्ञेय के आकार का भेद अवश्य मानना पड़ेगा, इस आशय से उत्तर देते हैं कि ऐसा मत कहो कि विषय का भेद नहीं, क्योंकि एक स्त्री तो मांसमयी है और दूसरी मनोमयी है उनमें यद्यपि मांस की स्त्री का भेद नहीं परंतु मनोमयी का भेद है।।२५।।

भ्रांतिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ।।२६।।

कदाचित् कहो कि भ्रांति स्वप्न मनोराज्य स्मृति आदि मे बाह्य विषय के अभाव से मनोमय पदार्थ रहे जाग्रत् अवस्था में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण में बाह्य वस्तु के विद्यमान रहते प्रमेय पदार्थ मनोमय नहीं हो सकता।।२६।।

बाढं माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ।।
भाष्यवार्तिककारास्यामयमर्थ उदीरितः ।।२७।।

सो ठीक नहीं, क्योंकि यह सत्य है कि प्रमिति के स्थल में बाह्य विषय रहता है तथापि मान में मेय पदार्थ के सबंध से उस ज्ञान का विषय जो मेय है व मनोमय और विषयाकार हो जाता है और यही अर्थ भाष्य और वार्त्तिककारों ने कहा है कुछ कल्पित नहीं है।।२७।।

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चितं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ।।२८।।

प्रथम भाष्यकार के वचन को ही कहते हैं कि जैसे मूषा (कठोठी आदि पात्र) में डाला हुआ द्रुत (गलाया) सुवर्ण वा ताम्र आदि द्रव्य मूषा के आकार के तुल्य हो जाता है उसी प्रकार रूप आदि में प्राप्त हुआ चित्त भी निश्चय से रूप आदि के आकार का हो जाता है।।२८।।

व्यंजको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियत् ।।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ।।२९।।

कदाचित् कोई कहे कि अग्नि में तपाने से द्रुत हुए ताम्र आदि को मूषा में सींचने से कठिन मूषा में पड़ने के वश शीतल होने पर मूषा का आकार हो जावे और ताम्र आदि से विलक्षण अमूर्तिमान् पदार्थरूप बुद्धि विषयाकार कैसे हो सकती है यह शंका करके अन्य दृष्टांत देते हैं कि जैसे प्रकाशक आलोक (धूप आदि) व्यंग्य अर्थात् प्रकाश करने योग्य घट आदि के आकार को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार संपूर्ण पदार्थों की प्रकाशक बुद्धि भी पदार्थ के आकार को प्राप्त हो जाती है यह भी भले प्रकार देखते हैं।।२९।।

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ।।३०।।

अब वार्त्तिककार के वचन को कहते हैं कि अधिष्ठानसहित बुद्धि में स्थिंत चिदाभासरूप जो प्रमाता (ज्ञाता) उससे मान की निष्पत्ति अर्थात् आभाससहित अंतःकरण की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न हुआ वह मेय मान में प्राप्त हो जाता है अर्थात् घट आदि रूप हो जाता है और वह मान भी मेय (प्रमेय) से संबद्ध हुआ मेय के समान आकार का प्रतीत होता है।।३०।।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटो मृन्मयधीमयौ ।।
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभास्यस्तु धीमयः ।।३१।।

इस प्रकार होने से दो प्रकार के विषय हुए एक मृन्मय (मिट्टीका) दूसरा धीमय (बुद्धिस्थ) उन दोनों में मृन्मय घट प्रमाण से मेय होता (ज्ञात) है और जो घट धीमय है वह साक्षी से भासने योग्य होता है अर्थात् उसे साक्षी जानता है। इससे यहां यह शंका न करनी कि मिट्टीके घट के तुल्य मनोमय घट को वही मन ग्रहण नहीं कर सकता और दूसरा कोई ग्राहक है नहीं इससे मनोमय की सिद्धि न होगी।।३१।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबंधकृत् ।।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ।।३२।।

कदाचित् कहो कि इस प्रकार दो प्रकार का द्वैत रहो इनमें कौन त्यागने योग्य है और कौन अत्याज्य है यह ज्ञान नहीं हो सकता, यह शंका करके जीव के रचे द्वैत को त्याज्य मानकर उसे बंध का हेतु कहते हैं कि अन्वय और व्यतिरेक से धीमय जगत् जीव को बंधन का कर्ता है क्योंकि इस जीव के रचे मानस प्रपंच के विद्यमान होते सुख दुःख होते हैं और इसके न होने पर सुख दुःख दोनों नहीं होते इसका ही नाम अन्वयव्यतिरेक है।।३२।।

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ।।३३।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक के बाह्य अर्थ के विषे ही मानेंगे सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न और स्मृति आदि के विषय बाह्य अर्थ के अर्थात् अनुकूल स्त्री और प्रतिकूल व्याघ्र आदि के पारमार्थिक (सच्चे) न होने पर भी मनुष्य बंधन को प्राप्त होता है अर्थात् उनके सुख दुःख का भोक्ता होता है और समाधि सुषुप्ति मूर्च्छाओं में बाह्य विषय के होने पर भी सुखदुःखरूप बंधन को प्राप्त नहीं होता, इससे बाह्य अर्थ के अन्वयव्यतिरेक नहीं हो सकते।।३३।।

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ।।
विप्रलंभकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ।।३४।।

अब मनोमय प्रपंच को ही बंधक होने से अन्वयव्यतिरेकों को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि दूर देश में गया हुआ पुत्र वहां जीवता भी है और किसी मिथ्यावादी के 'तेरा पुत्र मर गया' इस मिथ्यावचन से अपने पुत्र को मरा मानकर अपने घर में स्थित उसका पिता रोदन करता है अर्थात् पिता के मन में स्थित वह मन के रोदन का जनक हुआ, बाह्य पुत्र जीवता परदेश में विद्यमान है।।३४।।

मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ।।
अतः सर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ।।३५।।

और उस पुत्र के परदेश में मरने पर भी पिता मरने की वार्ता न सुने तो रोदन न करेगा इससे संपूर्ण जगत् को मानस जगत् ही बंध का कर्ता है।।३५।।

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत् ।।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षिततत्त्वतः ।।३६।।

कदाचित् कहो कि मानस जगत् को ही बंध का हेतु मानेंगे तो बाह्य जगत् का सर्वथा अपलाप ही हो जायगा इससे सिद्धांत का ही भंग होगा सो ठीक नहीं कि बाह्य अर्थ के व्यर्थ होने से यहां विज्ञानवाद (ज्ञानरूप जगत् मानना) हो जायगा सो भी नहीं, क्योंकि यद्यपि मानस प्रपंच ही बंध का हेतु है तथापि उस मानस प्रपंच को बाह्य अर्थ की भी अपेक्षा है इससे विज्ञानवाद का प्रसंग नहीं हो सकता।।३६।।

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ।।
प्रयोजनमपेक्षंते न मानानीति हि स्थितिः ।।३७।।

कदाचित् कहो कि हृदय में आकार समर्पण करने के लिये बाह्य पदार्थों की अपेक्षा करनी योग्य नहीं क्योंकि पूर्व पूर्व मानस प्रपंच का संस्कार ही उत्तर उत्तर मानस प्रपंच का हेतु मानने से कार्यसिद्धि हो जायगी सो ठीक नहीं, क्योंकि बाह्य अर्थ चाहे व्यर्थ भी हो परंतु उसका हम वारण (निषेध करने को समर्थ नहीं जैसे कि विज्ञानवादी बाह्य अर्थ का निषेध करते हैं। कदाचित् कहो कि प्रयोजनशून्य बाह्य अर्थ का मानना ही वृथा है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि मान (प्रमाण) प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करते यह मर्यादा है अर्थात् प्रमाण के अधीन वस्तु की सिद्धि है, प्रयोजन के अधीन नहीं, मान से सिद्ध हुआ पदार्थ प्रयोजनशून्य होने से कुछ असत् नहीं हो जाता यह लौकिकवादी मानते हैं। भावार्थ यह है कि बाह्य व्यर्थ हो हम वारण नहीं कर सकते परंतु यह मर्यादा है कि मान प्रयोजन की अपेक्षा वस्तु की सिद्धि में नहीं करते।।३७।।

बंधश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ।।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ।।३८।।

यहां वादी शंका करता है कि यदि मानस द्वैत (प्रपंच) बंधन का हेतु है तो उस मन के निरोधरूप योग से ही उसकी शांति (निवृत्ति) हो जायगी इससे योग का ही अभ्यास करे। ब्रह्मज्ञान से क्या फल होगा यह तुम कहो अर्थात् ब्रह्मज्ञान निरर्थक है।।३८।।

तात्कालिकद्वैतशांतावप्यागामिजनिक्षयः ॥
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदांतडिंडिमः ॥३९॥

योग से द्वैत की शांति तात्कालिक होगी वा आत्यंतिकी (सर्वथा) इस विकल्प में प्रथम का स्वीकार करके दूसरे पक्ष में दूषण देते हैं कि तत्काल के द्वैत की शांति होने पर भी भविष्यत्काल के द्वैत की उत्पत्ति का नाश ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं हो सकता यह वेदांतका डिंडिम (घोष वा ढंडोरा) है क्योंकि ये श्रुति ब्रह्मज्ञान से ही बंध का नाश अन्वय व्यतिरेक से कहती है कि देव* (ब्रह्म) को जानकर सब बंधनों से छूटता है, शिव (सुखरूप ब्रह्म) को जानकर अत्यंत शांति को प्राप्त होता है और जो चर्म के समान आकाश को मनुष्य लपेटते हैं तब (मरण के समय में) देव के बिना ज्ञान भी दुःख का अंत हो जायगा अर्थात् मरने पर संसार के दुःख प्रतीत न होंगे परंतु सर्वथा दुःख का नाश ब्रह्मज्ञान से ही होता है। भावार्थ यह है कि योग से तत्काल के द्वैत का नाश भी हो जाय पर भविष्यकाल के द्वैत का नाश ब्रह्मज्ञान बिना नहीं होता, यह वेदांत का सिद्धांत है॥३९॥

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ॥
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बौद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥४०॥

कदाचित् कहो कि बाह्य द्वैत की निवृत्ति के बिना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान नहीं होगा सो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के रचे द्वैत की निवृत्ति के बिना भी उसको मिथ्या रूप जानकर अद्वैतवादी अर्थात् एक वस्तुरूप ब्रह्म का ज्ञाता अद्वितीय ब्रह्म को जान सकता है। सिद्धांत यह है कि ब्रह्मज्ञान में द्वैत का मिथ्यात्व निश्चय हेतु है सर्वथा निवृत्ति नहीं॥४०॥

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ॥
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

कदाचित् कहो कि द्वैत का मिथ्यात्वज्ञान ब्रह्म (अद्वैत) ज्ञान का हेतु नहीं किन्तु द्वैत का निषेध ही है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रलय अवस्था में द्वैत की निवृत्ति होने पर भी अद्वैत का विरोधी जो द्वैत उसका अभाव अर्थात् निवारण होने पर गुरु और शास्त्र आदि जो ज्ञान के साधन हैं उनके अभाव से अद्वैत वस्तु को कोई नहीं जान सकता इससे द्वैत का निवारण अद्वैत ब्रह्मज्ञान का हेतु नहीं हो सकता॥४१॥

---

* ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञात्वा शिवं शांतिमत्यंतमेति ॥ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयति हि मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यांतो भविष्यति।

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ।।४२।।

कदाचित् कहो कि द्वैत के रहते किस प्रकार अद्वैत का नाश होगा सो ठीक नहीं, ईश्वर का रचा हुआ द्वैत अबाधक है क्योंकि उसके मिथ्यात्वज्ञान से ही अद्वैत मान हो सकता है इससे उसके मानने में कोई बाधा नहीं और गुरु शास्त्र आदिरूप जो द्वैत है वह ज्ञान का साधन होने से आकाश आदिरूप साधक द्वैत दूर करने को अशक्य है इससे अबाधक और साधकरूप ईश्वर का रचा दो प्रकार का जो द्वैत है उसका द्वेष क्यों करते हो अर्थात् उसके रहने से हमारी कुछ हानि नहीं, हमें ब्रह्मज्ञान से प्रयोजन है।।४२।।

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।।
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्त्वस्यावबोधनात् ।।४३।।

अब जीव के रचे द्वैत का विभाग करते हैं कि जीव का रचा शास्त्रोक्त और अशास्त्रोक्त भेद से दो प्रकार का द्वैत है। उन दोनों में शास्त्रीय द्वैत को तो तब तक स्वीकार कर ले जब तक अद्वैत का ज्ञान न हो।।४३।।

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ।।४४।।

अब शास्त्रीय द्वैत को कहते हैं कि आत्मस्वरूप ब्रह्म का जो श्रवण आदि विचार वह शास्त्रीय मानस जगत् है तत्वज्ञान होने पर वह भी श्रुति की आज्ञा से त्यागने योग्य है कदाचित् कोई कहे कि शयन और मरणपर्यंत के काल को वेदान्त की चिन्ता से व्यतीत करे—इस वाक्य की क्या गति होगी सो ठीक नहीं क्योंकि इसी वाक्य का पूर्व* अर्द्ध जो किंचित् भी काम आदिक अवसर देने का निषेध करता है उसके लिये ही यह वाक्य है, कुछ इसलिये नहीं कि अद्वैत अवस्था में भी वेदान्त का त्याग न करे।।४४।।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ।।४५।।
ग्रंथमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथमशेषतः ।।४६।।
तमेव धीरो विज्ञा प्रज्ञांय कुर्वीत ब्रह्मणः ।।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ।।४७।।

---

* दद्यान्नावसरं किंचित्कामादीनां मनागपि । आतृप्तेरामृतेः कालत्रये वेदान्तचिन्तया ।

बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रों को पढ़कर और वारंबार उनका अभ्यास करके परब्रह्मज्ञान के अनन्तर उनको उल्का के समान त्याग दे, ज्ञान विज्ञान में तत्पर बुद्धिमान् मनुष्य उन सब ग्रन्थों को इस प्रकार त्याग दे कि जैसे धान्य का अर्थी पलाल को त्याग देता है, धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्म को जानकर स्थिर बुद्धि करे और बहुत शब्दों का उच्चारण न करे क्योंकि वह वाणी का विग्लापन (नाशन) है। ये सब श्रुतियाँ तत्त्वज्ञान के अनन्तर शास्त्र के त्याग को कहती हैं।।४५।।४६।।४७।।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुंचथ ।।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ।।४८।।

क्योंकि उसी एक ब्रह्म को तुम जानो और अन्य वाणियों को छोड़ दो, बुद्धिमान् मनुष्य वाणी और मन इन दोनों को वश में रखे इत्यादि श्रुतियों में प्रकट रीति से शास्त्रों का ज्ञान के अनन्तर त्याग लिखा है।।४८।।

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मंदमिति द्विधा ।।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ।।४९।।

और अशास्त्रीय भी द्वैत तीव्र और मन्द भेद से दो प्रकार का है—उनमें काम क्रोध आदि तीव्र (भयानक) और मनोराज्य मंदरूप है।।४९।।

उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ।।५०।।

ये दोनों भी द्वैत—बोध (ज्ञान) सिद्धि के लिये तत्त्वज्ञान से पहले निवारण करने योग्य हैं, क्योंकि नित्यानित्यविवेकरूप जो ब्रह्मज्ञान के साधन हैं, उनमें शांति और समाधि दोनों कारण भी सुने हैं अर्थात् इनसे भी ब्रह्मज्ञान होता है।।५०।।

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।।
कामादिक्लेशबंधेन युक्तस्य नहि मुक्तता ।।५१।।

कदाचित् कोई कहे कि बोध से पहले त्यागने योग्य हैं तो उत्तरकाल में इनका स्वीकार हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि बोध के अनन्तर भी ये जीवन्मुक्ति के लिये त्यागने योग्य हैं क्योंकि काम क्रोध आदि क्लेश से जो बँधा मनुष्य है वह मुक्त नहीं हो सकता।।५१।।

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहंकृती ।।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ।।५२।।

कदाचित् शंका करो कि जन्म आदि संसार से जिसका उद्विग्न चित्त है वह

आत्यंतिक पुरुषार्थरूप विदेहमुक्ति से ही पूर्ण हो जायगा तो देहपातपर्यन्त जो स्थिर रहे उस जीवन्मुक्ति का क्या प्रयोजन है अर्थात् जीवन्मुक्ति मत हो, जन्म के अभाव में ही कृतार्थ हैं, ऐसा कहोगे तो इस लोक के भोगों की निवृत्ति के भय से तुमने जीवन्मुक्ति का त्याग किया तो परलोक के भोगों की निवृत्ति के भय से विदेहमुक्ति भी आपको त्यागने योग्य हो जायगी, इससे आपको तो जन्म का भी स्वीकार रहे और स्वर्गमात्र की प्राप्ति से ही अपने आपको कृतार्थ मानो।।५२।।

क्षायातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।।
स्वयं दोषतमात्माऽयं कामादिः किं न हीयते ।।५३।।

कदाचित् कहो कि क्षय और अतिशय के दोष से अर्थात् नष्ट होना और आधिक्यरूप से स्वर्ग त्यागने योग्य है तो स्वयम् अत्यंत दूषितरूप काम आदि को त्यागने योग्य क्यों नहीं मानते।।५३।।

तत्त्व बुद्ध्वाऽपि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ।।५४।।

कदाचित् कहो कि वैराग्य के संपादन में अत्यन्त अनर्थ के हेतु काम आदि का त्याग है, इस लोक में भोग के हेतु काम आदि के स्वीकार में क्या दोष है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि आप तत्त्व को जानकर भी निश्शेष (सर्वथा) काम आदि को नहीं त्यागोगे तो कर्मशास्त्र (विधिनिषेध) के अतिलंघनकर्ता आपका यथेष्टाचरण (इच्छानुसार) होगा।।५४।।

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।।५५।।

और जाना है अद्वैत ब्रह्म का तत्त्व जिसने ऐसा मनुष्य भी यदि यथेष्टाचरण करे तो श्वान और तत्त्वज्ञानी इन दोनों का अशुद्ध पदार्थों के भक्षण में कौन भेद होगा अर्थात् यथेष्टाचारी भी अशुद्ध पदार्थ का भक्षण करे तो उसका कुत्ते से कौनसा अन्तर है।।५५।।

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाऽधुना ।।
अशेषलोकनिंदा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ।।५६।।

ज्ञान से पूर्व काम क्रोध आदि चित्त के दोषों का ही आपको क्लेश था और अब तो संपूर्ण जगत् की निंदा को भी सहोगे यह आपके बोध का वैभव ! आश्चर्य है।।५६।।

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ।।५७।।

जिससे तू तत्त्व का ज्ञाता है इससे विड्वराह आदि के तुल्य होने की आकांक्षा मत

करे किन्तु संपूर्ण बुद्धि के भली प्रकार त्याग से जगत् में देवताओं के समान पूजा को प्राप्त हो।।५७।।

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ।।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ।।५८।।

अब उनके त्याग का उपाय कहते हैं कि कामना के विषय स्रक् चंदन आदि जो हैं उनके जो अनित्यत्व आदि दोष उनके दोषों का दर्शन है आदि जिनके ऐसे जो कोपस्वरूप के विचारआदि हैं वे काम आदि के त्यागने में हेतु हैं ये सब मोक्षशास्त्र (वेदांत) में प्रसिद्ध हैं उनकातू अन्वेषण (ढूंढ़ना) कर और सुख को प्राप्त हो।।५८।।

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ।।
अशेषदोषवीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ।।५९।।

कदाचित् कहो कि इस काम आदि को त्याग दो मनोराज्य तो निर्दोष है इससे उसके स्वीकार करने में क्या हानि है सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण दोषों का बीज होने से मनोराज्य के मानने में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने हानि कही है अर्थात् वह यद्यपि साक्षात् अनर्थ का हेतु नहीं है तथापि परंपरा से अनर्थ का हेतु होने से त्यागने योग्य है।।५९।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६०।।

जिससे परंपरा से मनोराज्य अनर्थ का हेतु है उस भगवान् के वाक्य को कहते हैं कि विषयों का ध्यान करते हुए पुरुष का विषयों में संग हो जाता है और संग से कामना होती है और कामना से क्रोध हो जाता है।।६०।।

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ।।६१।।

निर्विकल्प समाधि से मनोराज्य को जीत सकते हैं और वह निर्विकल्प समाधि अर्थात् अद्वैत ब्रह्म में चित्त की स्थिरता भी सविकल्प ब्रह्म में समाधि से भले प्रकार हो सकती है।।६१।।

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकांतवासिना ।।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ।।६२।।

कदाचित् कोई कहे कि अष्टांगयोग से जो युक्त है अर्थात् धारणा आदि योग के अंगो में प्रवीण है उसको मनोराज्य का जय रहे जो अष्टांगयोगी नहीं है उसकी क्या गति (उपाय) है, सो ठीक नहीं क्योंकि जिसने तत्त्व को जान लिया अर्थात् आत्मा और ब्रह्म की एकता का निश्चय कर लिया और काम क्रोध आदि बुद्धि के दोषों से

जो रहित है और एकांत स्थान का निवासी हो, ऐसा पुरुष दीर्घस्वर से ओंकार का उच्चारण करके मनोराज्य को जीत लेता है।।६२।।

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठिति मूकवत् ।।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ।।६३।।

अब मनोराज्य के जय का फल कहते हैं कि मनोराज्य के जीतने पर मन वृत्तियों से शून्य होकर मूक के समान टिकता है अर्थात् वाणी के सब व्यवहारों से रहित हो जाता है, यही पद अर्थात् मनोराज्य के जीतने के प्रकार वसिष्ठजी ने रामचंद्र के प्रति बहुधा वर्णन किया है।।६३।।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ।।६४।।

अब वसिष्ठजी के वचन को ही कहते हैं कि दृश्य जगत् नहीं है इस बोध से अर्थात् (नेह नानास्ति किंचन) इस श्रुति से पैदा हुए ज्ञान के बल से जब दृश्य के अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म से भिन्न जगत् के अभाव का ज्ञान भले प्रकार हो गया तो उस ज्ञान से परम निर्वाण सुख की प्राप्ति जो सबसे उत्तम है वह हो जाती है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ मोक्षसुख हुआ यह ज्ञान हो जाता है।।६४।।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।।
संत्यक्तवानान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ।।६५।।

और चाहे अद्वैतशास्त्र का पूर्ण रीति से विचार किया हो और चाहे गुरु शिष्य आदि परंपरा से चिरकाल तक उपदेश किया हो उन सबके करने से यही निश्चय होता है कि त्याग दी है वासना जिसने ऐसे मन के मौन रहने से दूसरा पद उत्तम नहीं है अर्थात् मौन सर्वोत्तम है।।६५।।

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ।।६६।।

इस प्रकार संपन्न हुए चित्त का कदाचित् प्रारब्धवश जो विक्षेप उसके न होने में उपाय को कहते हैं यदि बुद्धि भी कदाचित भोग के दाता कर्म से विक्षेप को प्राप्त हो जाय अर्थात् डिग जाय तो उसी समय अभ्यास की दृढ़ता से समाहित (स्थिर) हो जाती है।।६६।।

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ।।६७।।

अब जिसका चित्त सदैव विक्षेप से रहित रहता है वह यथार्थ ब्रह्मज्ञानी भी नहीं

है इस बात को दिखाते हैं कि जिसको विक्षेप नहीं है उसको ब्रह्मज्ञानी नहीं मानते किंतु यह ब्रह्म ही है इस प्रकार उस (ब्रह्मज्ञानी) को पारदर्शी अर्थात् वेदांतशास्त्र के पारगामी आचार्य ब्रह्मज्ञानी जन कहते हैं।।६७।।

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ।।६८।।

इसमें भी वसिष्ठजी के वचन का उदाहरण देते हैं कि जो मनुष्य मैं ब्रह्म को जानता हूं, मैं ब्रह्म को नहीं जानता, इन दोनों व्यवहारों को त्यागकर स्वयम् अद्वितीय ब्रह्म रूप से टिकता है वह स्वयं ब्रह्म ही है, ब्रह्म का ज्ञाता नहीं है अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न है।।६८।।

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदशमीशद्वैताद्विवेचितम् ।।६९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्य-मुनिवर्यकृतद्वैतविवेकः समाप्तः ।।४।।

यह पूर्वोक्त प्रकार की जो जीवन्मुक्ति की पराकाष्ठा है अर्थात् सबसे उत्तम अंतभूमि है वह जीव का जो द्वैत (मनोमय प्रपंच) उसके त्यागने से प्राप्त होती है, इस कारर यहां जीवद्वैत का ईश्वर के रचे द्वैत से विवेक किया है अर्थात् दोनों पृथक् पृथक् दिखा दिये हैं।।६९।।

इति पं० मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितविद्यारण्यमुनिरचित
पंचदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः ।।४।।

इति द्वैतविवेकप्रकरणम् ।।४।।

अथ महावाक्यविवेकप्रकरणम् ५

येनक्षते श्रृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ।।१।।

मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्मज्ञान की सिद्धि के लिये प्रसिद्ध जो चारो महावाक्य हैं उनका क्रम से अर्थ निरूपण करने के लिये परमदयालु आचार्य प्रथम ऐतरये आरण्य का जो "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह महावाक्य उसके प्रज्ञानशब्द का अर्थ कहते हैं कि जिस चक्षु आदि इंद्रिय के द्वारा बाहर निकले अंतःकरण की वृत्ति से उपहित (युक्त) चैतन्य से दर्शन के योग्य रूप आदि को पुरुष देखता है और वैसे ही श्रोत्र के द्वारा निकले जिस पूर्वोक्त चैतन्य से शब्दों को सुनता है और वैसे ही घ्राण के द्वारा निकले जिस पूर्वोक्त चैतन्य से गंध के समूह को सूँघता है और जिस वाक् इंद्रिय से युक्त चैतन्य से शब्दों के समूह को उच्चारण करता है और रसना इंद्रिय द्वारा बाहर निकले जिस चैतन्य से स्वादु और अस्वादु रस को जानता है, यहां चशब्द अनुक्तके भी ग्रहण के लिये हैं अर्थात् संपूर्ण इंद्रिय और अंतःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित (जानने योग्य) जो चैतन्य है उसको ही यहां प्रज्ञान कहते हैं। इस श्लोक से (येन वा पश्यति सर्वाणि) इस तक का अर्थ संक्षेप से कहा। भावार्थ यह है कि जिससे देखे, सुने, सूँघे, उच्चारण करे और स्वादु अस्वादु रस को जाने उसे प्रज्ञान कहते हैं।।१।।

चतुर्मुखेंद्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ।।२।।

अब पूर्वोक्त प्रकार से प्रज्ञानशब्द के अर्थ को कहकर ब्रह्मशब्द का अर्थ करते हैं कि ब्रह्म, इंद्र और देवता जो उत्तम हैं और जो मनुष्य आदि मध्यम हैं और अश्व गौ आदि जो अधम हैं उन सब देहधारियों में और आकाश आदि भूतों में जो जगत् के जन्म आदि का हेतु एक चैतन्य पूर्ण है वही ब्रह्म है, इस श्लोक से 'एष ब्रह्म एष इंद्रः' इत्यादि और 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा" इस पर्यंत का अर्थ संक्षेप से दिखाया। इस प्रकार पदार्थ को कहकर वाक्यार्थ को कहते हैं कि जिससे संपूर्ण पदार्थों में स्थित प्रज्ञान ब्रह्म है मुझमें स्थित भी प्रज्ञान ब्रह्म ही है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मरूप तत्त्व में कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ यह है कि जब ब्रह्मा, इंद्र, देवता, अश्व, गौ आदि में एक

चैतन्य ब्रह्म है तो मुझमें भी प्रज्ञान रूप ब्रह्म है॥२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ॥
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

इस प्रकार ऋग्वेद की शाखा के महावाक्य का अर्थ निरूपण करके यजुःशाखाओं के मध्य में बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखे "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य का अर्थ प्रगट करने के लिये अहं शब्द का अर्थ कहते हैं कि इस माया से कल्पित जगत् में और विद्या का अधिकारी अर्थात् शम दम आदि से युक्त होकर विद्या (ब्रह्मज्ञान) संपादन करने योग्य और श्रवण मनन आदि जिसमें हो सकें ऐसे इस मनुष्य आदि शरीर में बुद्धि अर्थात् बुद्धि से उपलक्षित सूक्ष्मशरीर का साक्षी होकर अर्थात् विकारी रूप से प्रकाशक होकर टिका हुआ जो परिपूर्णरूप परात्मा प्रकाशमान है वह अहं शब्द का अर्थ है अर्थात् उसको ही लक्षणावृत्ति से अहं शब्द कहता है। भावार्थ यह है कि इस ज्ञान के अधिकारी देह में जो व्यापक रूप परमात्मा बुद्धि के साक्षीरूप से टिककर प्रकाशमान है वही अहंशब्द का अर्थ है॥३॥

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ॥
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

अब ब्रह्म शब्द के अर्थ को कहते हैं कि स्वरूप से जो पूर्ण अर्थात् देश, काल, वस्तु इनके परिच्छेद से शून्य पूर्वोक्त परमात्मा है वही इस पूर्वोक्त महावाक्य में ब्रह्म शब्द से कहा जाता है अर्थात् लक्षण से वर्णन किया है और इसी वाक्य के (अस्मि) पद से दोनों पदों के सामानाधिकरण भाव (एक अर्थ को ही कहना) से जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है इससे 'मैं ब्रह्म हूं' यह उक्त महावाक्य का अर्थ है॥४॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ॥
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

अब छांदोग्य श्रुति में पढ़े (तत्त्वमसि) इस महावाक्य का अर्थ प्रकाश करने के लिये तत्पद का लक्ष्य अर्थ कहते हैं कि 'हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टि से पहले एक अद्वितीय ब्रह्मरूप रहा' इस वाक्य से सृष्टि से पहले स्वगत आदि भेदों से शून्य नाम रूप रहित जो सत् वस्तु कही है उस सत् वस्तु को अब अर्थात् सृष्टि के अनंतर भी तथात्व है अर्थात् वह स्वगत आदि भेद से शून्य सत्‌रूप ही है इसको लक्षणावृत्ति से तत्पद कहता है। भावार्थ यह है कि जो सत् ब्रह्म सृष्टि से पहले एक अद्वितीय नाम रूप से विवर्जित है अब सृष्टि के समय भी वह वैसा ही नान रूप से रहित है यह तत पद का अर्थ है॥५॥

श्रोतुर्देहेंद्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ।।६।।

अब त्वंपद का लक्ष्य अर्थ कहते हैं कि श्रोता के अर्थात् श्रवण आदि के द्वारा महावाक्य के अर्थ का जो ज्ञाता उसके देह इंद्रियों से अतीत और स्थूल आदि तीनों शरीरों का साक्षी जो विलक्षण सत्रूप वस्तु है उसको ही लक्षणावृत्ति से त्वंपद कहता है और इसी वाक्य का 'असि' पद 'तत्, त्वम्' इन दोनों पदों की समानाधिकरण से सिद्ध हुई जो एकता है अर्थात् दोनों पदों का एक ब्रह्मरूप अर्थ है उसको मुमुक्षु के प्रति बोधन करता है इस प्रकार उन दोनों पदों की एकता को मुमुक्षु जाने भावार्थ यह है कि श्रोता के देह इंद्रियों से अतीत वस्तु को त्वंपद ने कहा है और असि पद दोनों पदों की एकता को ग्रहण करता है इस प्रकार दोनों की एकता जाननी।।६।।

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।।
अहंकारादिदेहांतात्प्रत्यगात्मेति गीयते ।।७।।

अब क्रम से प्राप्त अथर्वण वेद के– "अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्य के अर्थ का व्याख्यान करने की इच्छा से प्रथम (अयम्, आत्मा) इन दो पदों के अर्थ को क्रम से कहते हैं कि अयम् यह कहने से स्वप्रकाश होने से अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) मत (माना) है अर्थात् स्वप्रकाश अपरोक्ष ये दोनों विशेषण इसलिये हैं कि अदृष्य के समान नित्य परोक्ष नहीं है और घट आदि के समान दृश्य नहीं है कदाचित् कहो कि देह आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग देखते हैं इससे आत्मा पद के अर्थ को कहते हैं कि अहंकार प्राण मन इंद्रिय देहपर्यंत संघात का जो प्रत्यगात्मा अर्थात् साक्षीरूप अंतरात्मा है उसको आत्मा कहते हैं, भावार्थ यह है कि अयम् इस पद का अर्थ स्वप्रकाश अपरोक्ष है और अहंकार से लेकर देहपर्यंत का जो साक्षी आंतर (भीतर) है वह आत्मा पद का अर्थ है।।७।।

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृत
महावाक्यविवेकः समाप्तः ।।

ब्रह्मशब्द का प्रयोग ब्राह्मण आदि में भी देखते हैं उसके निषेधार्थ ब्रह्म शब्द का

अर्थ कहते हैं कि दीखने के योग्य जो मिथ्यारूप आकाश आदि संपूर्ण जगत् उसका जो तत्त्व है अर्थात् सबका अधिष्ठान और निषेध की अवधि होने से पारमार्थिक (सच्चा) सत् चित् आनंदरूप है वह ब्रह्म शब्द से कहा जाता है और वह पूर्वोक्त ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है। भावार्थ यह है कि दीखते हुए संपूर्ण जगत् का जो तत्त्व है उसको ब्रह्म शब्द कहता है और वह ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मारूप है॥८॥

इति श्री पं०मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितश्रीविद्यारण्यमुनिरचित-
पंचदश्यां महावाक्यविवेकः समाप्तः ॥५॥

इति महावाक्यविवेकप्रकरणम् ॥५॥

अथ चित्रदीपप्रकरणम् ६

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ।।१।।

करने को इष्ट ग्रंथ की निर्विघ्नसमाप्ति के अर्थ "परमात्मनि" इस पद से इष्टदेवता के स्मरणरूप मंगल को करता हुआ आचार्य मन में यह विचार करके इस ग्रंथ को वेदांत का प्रकरण होने से वेदांत में जो विषय आदि चार अनुबंध होते हैं उनसे ही काम चल जायगा, यह समझकर अर्थात् चारों अनुबंधों का वर्णन छोड़कर अध्यारोप अपवाद निष्प्रपंच (जगत् से भिन्न ब्रह्म) का प्रपंच (वर्णन) कहते हैं इस न्याय के अनुसार'परमात्मा में आरोप किये जगत् के दृष्टांतसहित स्थिति के प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं कि जैसे चित्रपट (वस्त्र) में वक्ष्यमाण (जो कहेंगे) चार अवस्था देखी हैं, इस प्रकार परमात्मा में भी वक्ष्यमाण चार अवस्था जाननी।।१।।

यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः ।।
चिदतर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ।।२।।

अब उन अवस्थाओं को ही दिखाते हैं कि जैसे पट धौत घट्टित लांछित रंजित अर्थात् धुला घुटा चिह्नसहित रंगा होता है अर्थात् एक ही वस्त्र में चार अवस्था प्रतीत होती हैं, इसी प्रकार परमात्मा में भी चित्त, अंतर्यामी, सूत्रात्मा, विराट् ये चार अवस्था जाननी।।२।।

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतःस्याद्धट्टितोऽन्नविलेपनात् ।।
मष्याकारैर्लांछितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात् ।।३।।

अब वस्त्ररूप दृष्टांत की चारों अवस्थाओं का स्वरूप क्रम से दिखाते हैं कि स्वतः शुभ्र (शुक्ल) जो हो उसे धौत और अन्न का लेप (मावा) जिसमें हो वह घट्टित और मषी (स्याही) के आकार के जिसमें चिह्न हों वह लांछित और यथोचितं वर्णों से जो पूर्ण हो वह रंजित होता है।।३।।

स्वतश्चिदंतर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ।।४।।

अब दार्ष्टांतिक (आत्मा) में चारों अवस्था दिखाते हैं कि परमात्मा स्वतः अर्थात् माया और माया के कार्य से रहित होने से चित् (चेतन) रूप है और माया के संबंध में अंतर्यामी कहाता है और सूक्ष्म दृष्टि से अर्थात् पंचीकरणरहित भूतों के कार्य समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर के संबंध से सूत्रात्मा कहाता है और स्थूल दृष्टि से अर्थात् पंचीकरण किये भूतों के कार्य समष्टिरूप स्थूल शरीररूप उपाधि के संबंध से विराट् कहाता है।।४।।

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यन्ताः प्राणिनोत्र जडा अपि ।।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ।।५।।

अब चित्र वस्त्ररूप परमात्मा के चित्रों को वर्णन करते हैं कि इस परमात्मा में उत्तम अधम रूप से ब्रह्मा आदि स्तंबपर्यंत चेतनरूप प्राणी और गिरि नदी आदि जड़ पदार्थ चित्रपट के समान वर्तते हैं अर्थात् ये सब आत्मा के चित्र हैं।।५।।

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ।।६।।

ब्रह्मा आदि जगत् का स्थान चेतन है इसका कारण कहने के लिये दृष्टांत कहते हैं कि जैसे चित्र में लिखे हुए मनुष्यों के शरीरों पर नाना प्रकार के वस्त्र पृथक् पृथक् लिखे जाते हैं और चित्र का आधार जो वस्त्र उसके समान ही कल्पित किये जाते हैं इससे वस्त्राभास (दीखनेमात्र) कहाते हैं क्योंकि उन रंगों से शीत आदि की निवृत्ति नहीं हो सकती।।६।।

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।।
कल्प्यंते जीवनामानो बहुधा संसरंत्यमी ।।७।।

अब दार्ष्टांतिक कहते हैं कि इसी प्रकार परमात्मा में आरोप किये जो देव आदि देहधारी हैं उनके शरीरों के जो जीव नाम के चिदाभास हैं वे भी प्रत्येक शरीर में कल्पित हैं और पर्वत आदि के शरीर में नहीं और ये जीव अनेक प्रकार से अर्थात् देव मनुष्य आदिरूप शरीरों की प्राप्ति से जन्म मरणरूप संसार को भोगते हैं, परमात्मा नहीं क्योंकि वह विकाररहित है।।७।।

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।।
वदंत्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ।।८।।

संपूर्ण वादी और लौकिक आत्मा को ही संसार होता है यह जो कहते हैं उसमें अज्ञान ही कारण है इस बात को दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि जैसे मूर्ख अज्ञानी पुरुष वस्त्राभासों में स्थित वर्णों को चित्र के आधार वस्त्र में स्थित कहते हैं, ऐसे ही

जीव के संसार को भी अज्ञानी पुरुष चैतन्य में मानते हैं।।८।।

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ।।९।।

अब गिरी नदी आदिकों में चिदाभास की कल्पना के अभाव को दृष्टांतपूर्वक वर्णन करते हैं कि जैसे चित्र में स्थित पर्वत आदिकों का प्रयोजन के अभाव से वस्त्राभास नहीं लिखा जाता है इसी प्रकार सृष्टि में स्थित मृत्तिका आदिकों में भी चिदाभास नहीं होता।।९।।

संसारः परमार्थोऽयं सँल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ।।
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ।।१०।।

अब आत्मा में आरोपित संसार, ज्ञान से निवृत्त होता है इसकी सिद्धि के लिये संसार की मूल जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह संसार परमार्थ (सच्चा) है और आत्मा में लग रहा है इस भ्रांति को अविद्या कहते हैं और यह अविद्या विद्या से निवृत्त होती है।।१०।।

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ।।११।।

अब विद्या और उसके लाभ का उपाय वर्णन करते हैं कि आत्मा का आभास (चिदाभास) जो जीव उसको संसार है वस्तुरूप आत्मा को नहीं है उस ज्ञान को विद्या कहते हैं, इस विद्या का लाभ विचार से होता है।।११।।

सदा विचारयेत्तस्माद्जगज्जीवपरात्मनः ।।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ।।१२।।

अब जिसका विचार करे उसका वर्णन करते हैं कि इससे जगत्, जीव, परमात्मा इनका सदैव विचार करे कदाचित् कहो कि मोक्षअवस्था में फलरूप आत्मा रहता है इसमें आत्मा का विचार तो उचित है और जीव और जगत् के विचार का क्या प्रयोजन हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जीवभाव और जगत्भाव का बाध (निषेध) होने पर परमात्मा ही शेष रह जाता है। भावार्थ यह है कि इसे जगत् जीव परमात्मा इनको सदा विचारे क्योंकि जगत् जीव इनके निषेध होने पर परमात्मा ही शेष रह जाता है।।१२।।

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ।।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ।।१३।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त विचार से जीव जगत् की प्रतीति न होगी तो व्यवहार

का लोप हो जायगा इस शंका के दूर करने के लिये बाधशब्द का अर्थ और उस अर्थ के मानने में दंड कहते हैं कि कुछ जगत् और जीव की अप्रतीति का नाम बाध नहीं किंतु उनके मिथ्यात्व के निश्चय को बाध कहते हैं, ऐसे नहीं मानेंगे तो सोने और मूर्च्छा में स्वतः ही द्वैत की प्रतीति नहीं होती इससे तत्त्वज्ञान के बिना ही मनुष्य मुक्त हो जायगा।।१३।।

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ।।१४।।

और आत्मा ही शेष रह जाता है इस पूर्वोक्त परमात्मा के शेष में भी परमात्मा का सत्यत्वनिश्चय अर्थात् परमात्मा सत्य है यह ज्ञान ही लेना कुछ जगत् का विस्मरण नहीं ऐसा न मानेंगे तो जीवन्मुक्ति न होगी।।१४।।

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ।।१५।।

सदा विचारे इस पूर्वोक्त वचन से मरणपर्यंत विचार पाया इससे विचार को अवधि को कहते हैं कि विचार से पैदा हुई विद्या परोक्ष अपरोक्ष भेद से दो प्रकार की है उन दोनों में अपरोक्ष विद्या से जो विचार प्राप्त होता है वहां यह विचार समाप्त हो जाता है अर्थात् पुनः विचार की अपेक्षा नहीं रहती।।१५।।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ।।१६।।

अब विचार से उत्पन्न परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों विद्याओं के स्वरूप को क्रम से कहते हैं कि यदि यह जान लिया कि ब्रह्म है तो वह परोक्ष ज्ञान है और यदि अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह ज्ञान हो गया तो उसको साक्षात्कार कहते हैं।।१६।।

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ।।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ।।१७।।

अब पूर्वोक्त आत्मा के साक्षात्कार का असाधारण कारण जो आत्मतत्त्व का विवेक उसकी प्रतिज्ञा करते हैं कि जिस आत्मा के साक्षात्कार से पुरुष शीघ्र ही मुक्त होता है उस साक्षात्कार की सिद्धि के लिये आत्मतत्त्व का विवेक करते हैं।।१७।।

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ।।१८।।

चिदात्मा की वास्तविक एकता के निश्चयार्थ व्यवहारदशा में प्रतीत जो चैतन्य

का भेद उसको कहते हैं कि जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश, मेघाकाश भेद से एक ही आकाश चार प्रकार का है इसी प्रकार कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश भेद से एक चित् भी चार प्रकार का है।।१८।।

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ।।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ।।१९।।

अब घटावच्छिन्न (युक्त) घटाकाश और घट से अनवच्छिन्न महाकाश इन दोनों प्रसिद्धों को छोड़कर अप्रसिद्ध जलाकाश का वर्णन करते हैं कि घटावाच्छिन्न आकाश में जो जल है उसमें प्रतिबिंबित जो मेघ नक्षत्रों सहित आकाश उसको जलाकाश कहते हैं।।१९।।

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमंडलमीक्ष्यते ।।
प्रतिबिंबतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ।।२०।।

अब अभ्राकाश को कहते हैं कि महाकाश के मध्य में जो मेघों का मंडल (समूह) दीखता है उस मंडल में जो जल है उसमें प्रतिबिंबरूप से जो स्थित है उसको मेघाकाश कहते हैं।।२०।।

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।।
तत्र खप्रतिबिंबोऽयं नीरत्वादनुमीयते ।।२१।।

कदाचित् कहो कि मेघ का जल अप्रत्यक्ष है उसमें आकाश का प्रतिबिंब कैसे जाना जायगा सो ठीक नहीं क्योकि यद्यपि मेघ का जल अप्रकट है तो भी वृष्टिरूप कार्य से मेघ में वृष्टि के उपादान कारण सूक्ष्म अवयवरूप जल का अनुपान किया जाता है और उदकरूप ही हेतु से उसमें आकाश का प्रतिबिंब भी अनुमित हो जायगा कि विवाद का आश्रय जल आकाश के बिंबवाला होने योग्य है जल होने से घट के जल के तुल्य इस अनुमान से मेघ के अंशरूप जल में भी आकाश का प्रतिबिंब हो सकता है। भावार्थ यह है कि बिंदुओं के आकार से स्थित जो मेघ का अंशरूप जल है उसे जल में भी यह आकाश का प्रतिबिंब जल होने से अनुमान किया जाता है।।२१।।

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ।।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ।।२२।।

इस प्रकार दृष्टांतरूप चारों आकाशों का वर्णन करके दार्ष्टांतिक में सबसे प्रथम जो कूटस्थ उसका वर्णन करते हैं कि पंचीकरण किये पांचों भूतों के कार्य जो स्थूलसूक्ष्म रूप और अविद्या से कल्पित दोनों शरीर उनका आधार होने से उन

दोनों से अवच्छिन्न जो आत्मा उसको इससे कुटस्थ कहते हैं कि वह कूट के समान निर्विकार रूप से स्थित है। भावार्थ यह है कि अधिष्ठान होने से स्थूल सूक्ष्म देहावच्छिन्न जो चेतन है कूट के समान निर्विकारता से स्थित उसको कूटस्थ कहते हैं।।२२।।

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिंबकः ।।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ।।२३।।

इस प्रकार कूटस्थ को कहकर कूटस्थ में कल्पित जो बुद्धि उसके प्रतिबिंब जीव का वर्णन करते हैं कि कूटस्थ में कल्पित बुद्धि में पड़ा जो चित्त का प्रतिबिंब उसको जीव कहते हैं और प्राणों के धारण से उसको जीव कहते हैं और अविकारी कूटस्थ को तो संसार होने का असंभव है इससे वह जीव ही जन्ममरणरूप संसार से युक्त होता है।।२३।।

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ।।२४।।

कदाचित् कहो कि जीव से भिन्न कूटस्थ है तो भासता क्यों नहीं, सो ठीक नहीं, क्योकि जैसे जल के आकाश से संपूर्ण घटाकाश तिरोहित (ढका हुआ) होता है इसी प्रकार जीव से कूटस्थ भी आच्छादित होता है इसीको वेदांतशास्त्र में अन्योन्याध्यास कहते हैं।।२४।।

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ।।२५।।

अब पूर्वोक्त अध्यास का कारण जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह जीव कूटस्थ से कदाचित् भी पृथक् नहीं होता है, इस अनादि अविवेक (अज्ञान) को अर्थात् संसारदशा में दोनों के भेद को मूलविद्या जानो।।२५।।

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यपादानमावृतिः ।।२६।।

अब अविद्या से कल्पित जीव को स्पष्ट करने के लिये अविद्या का विभाग करते हैं कि विक्षेप और आवृत्तिरूप से दो प्रकार की अविद्या व्यवस्थित है, उनमें कूटस्थ न भासता है और न है इस कथन को आवृति (आवरण) कहते हैं, यह आवरण ही विक्षेप का हेतु है।।२६।।

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ।।२७।।

अब अविद्या और उसके लिये आवरण के होने में लोक के अनुभव को प्रमाण कहते हैं क्या तू कूटस्थ को जानता है इस प्रकार विद्वान् का पूछा हुआ अज्ञानी उस कूटस्थ को मैं नहीं जानता इस प्रकार अज्ञान को जान (समझ) कर कहता है और यह अविद्या का अनुभव है और केवल अज्ञान के अनुभव को हीं नहीं कहता अपितु कूटस्थ नहीं है न भासता है इस प्रकार कूटस्थ के अभाव और अभान दोनों को जान कर अज्ञानी पूर्वोक्त वचन को कहता है यह आवरण का अनुभव है, इससे अविद्या और आवरण के प्रत्यक्ष में अनुभव ही प्रमाण है। भावार्थ यह है कि विद्वान का पूछा हुआ अज्ञानी कूटस्थ को मैं नहीं जानता इस उत्तर को जो देता है वह कुटस्थ नहीं भासता और न है इसको जानकर ही देता है।।२७।।

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां बिना कथमावृतिः ।।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ।।२८।।

कदाचित् कोई शंका करे कि तुम्हारे मत में आत्मा स्वप्रकाश है तो उसमें अविद्या न होगी क्योंकि तेज और अंधकार के समान विरुद्धस्वभाव होने से उन दोनों का संबंध नहीं हो सकता और अविद्या के अभाव में अविद्या के लिये आवरण को नहीं कह सकते और आवरण के अभाव में आवरण है मूल जिसका ऐसा विक्षेप न होगा और विक्षेप के अभाव में वह अनर्थ न होगा जिसकी ज्ञान से निवृत्ति मानते हो। इससे ज्ञान भी व्यर्थ है फिर ज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र भी अप्रमाण हो जायगा सो ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्रकाश में अविद्या कहां और अविद्या के बिना आवरण कहां इत्यदि तर्कों के समूह को पूर्वश्लोक में कहा हुआ जो अनुभव है वह ग्रस लेता है क्योंकि दृष्ट पदार्थ में कुछ अनुपपत्ति नहीं होती ऐसा न्याय है।।२८।।

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ।।२९।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तर्क के विरोध से अनुभव को आभासमात्र मानेंगे तो उससे तत्त्व का निश्चय न होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि अनुभव को प्रमाण तार्किक न मानेगा तो केवल निश्चय का अजनक तर्क जो अपने आप स्वीकार किया है उससे तार्किक को कदाचित् भी तत्त्व का निश्चय न होगा। भावार्थ यह है कि यदि अपने अनुभव में ही विश्वास नहीं है तो तर्क की स्थिति नहीं होगी इससे अपनेको तार्किक माननेवाला किस प्रकार तत्त्वनिश्चय को प्राप्त होगा अर्थात् नहीं होगा।।२९।।

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ।।३०।।

कदाचित् कहो कि अनुभव से तत्त्व का निश्चय होता है और अनुभव किये पदार्थ की यथार्थता के लिये तर्क भी मानने योग्य है सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि बुद्धि में आरोह (स्थिति) के लिये तर्क की अपेक्षा है तो अपने अनुभव के अनुसार तर्क करो कुतर्क मत करो।।३०।।

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ।।३१।।

अब तर्क के अनुसारी पूर्वोक्त अनुभव का स्मरण दिलाते हैं कि अविद्या और आवरण में जो अपना अनुभव (अविद्या और आवरण में जो दिखा आये हैं) उस अनुभव से यह तर्क करो कि कूटस्थ और चैतन्य इनका परस्पर विरोध नहीं।।३१।।

तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।।
विवेकस्तु विरोध्यस्तास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ।।३२।।

यदि कूटस्थ और चैतन्य का विरोध हो तो इस आवरण का कौन अनुभव करे अर्थात् अविद्यारूप आवरण का चैतन्य ही विरोधी हो तो अविद्या की प्रतीति ही न हो और इस अविद्या का विरोधी विवेक है उस विवेक को तुम तत्त्वज्ञानी में देखो अर्थात् उपनिषदों के विचार से जो ज्ञानवान् है उसका उससे ही अविद्या का नाश होता है।।३२।।

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ।।३३।।

इस प्रकार अविद्या को और आवरण को दिखाकर विक्षेपाध्यास को दिखाते हैं कि अविद्या से आवृत (ढके) कूटस्थ के विषे जो स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास है शुक्ति में रूप्य (चांदी) के समान उस अध्यास को विक्षेपाध्यास कहते हैं अर्थात् प्रत्यग् आत्मा में आरोपण किये स्थूल सूक्ष्म शरीरसहित कूटस्थ के चिदाभास का नाम विक्षेपाध्यास है।।३३।।

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ।।
स्वंयत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ।।३४।।

अब इस विक्षेप को अध्यास सिद्धि के लिये शुक्तिरजत का जो अध्यास उसकी तुल्यता दिखाते हैं कि जैसे शुक्ति का इदम् (यह) अंश अर्थात् नेत्रों के अग्रिम देश में

स्थित और सत्यत्व ये दोनों शुक्ति के रूप रूप्य में अर्थात् चांदी में मनुष्यों को दीखते हैं इसी प्रकार कूटस्थ के स्वयंत्व (अपनारूप) और वस्तुत्व (वस्तुता) ये जो दो धर्म हैं ये चिदाभास में दीखते हैं यहां विक्षेपशब्द से चिदाभास लेते हैं।।३४।।

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।।
असंगानंदताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ।।३५।।

अब सामान्य अंश की प्रतीति को दिखाकर विशेष अंशों की अप्रतीति से तुल्यता दिखाते हैं कि जिस प्रकार शुक्ति के नील पृष्ठ और त्रिकोण ये दो धर्म तिरोहित (छिपे) हैं इसी प्रकार कूटस्थ के भी असंग और आनन्दरूप दोनों धर्म तिरोहित हैं अर्थात् चिदाभास में प्रतीत नहीं होते।।३५।।

आरोपितस्य दृष्टांते रूप्यं नाम यथा तथा ।।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ।।३६।।

अन्य भी तुल्यता को दिखाते हैं जैसे शुक्तिरूप दृष्टांत में आरोप किये पदार्थ का रूप्य (चांदी) यह नाम है इसी प्रकार कूटस्थ में अध्यास किये चिदाभासरूप विक्षेप का भी अहं यह नाम है यह शास्त्र का निश्चय है।।३६।।

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ।।३७।।

कदाचित् कहो कि दृष्टांत में नेत्रों के आगे स्थित शुक्ति के खण्ड में नेत्र का संबंध होनेपर जैसे यह रजत है यह शुक्ति से भिन्न रजत का अभिमान देखते हैं वैसे दार्ष्टांतिकम तो आत्मा से भिन्न वस्तु का अभिमान नहीं देखते सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे मनुष्य स्वयम् इदम् अंश को देखता हुआ यह रजत है, यह मानता है इसी प्रकार स्वयम् अपने रूप को देखता हुआ अहम् यह अभिमान करता है इससे स्वप्रकाश चिदात्मा के विषय भी उससे भिन्न अहम् यह अभिमान देखते हैं इससे दृष्टांत दार्ष्टांतिक की विषमता नहीं।।३७।।

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहंते तथेष्यताम् ।।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ।।३८।।

कदाचित् कहो कि स्वयम् अहं शब्द का एक अर्थ है तो दृष्टांत और दार्ष्टांतिक की तुल्यता कैसे होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे इदम् और रूप्य ये दोनों अंश भिन्नं हैं इसी प्रकार स्व और अहं को भी भिन्न मानो क्योंकि सामान्य विशेषभाव की प्रतीति दोनों स्थानों में तुल्य है अर्थात् वहां इदम् सामान्य और रूप्य विशेष है ऐसे

ही यहां स्व सामान्य और अहं विशेष है।।३८।।

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ।।३९।।

अब स्वयं शब्द को सामान्यरूप दिखाने के लिये लौकिक प्रयोग को दिखाते हैं कि देवदत्त स्वयं जावे, तू स्वयं देख मैं स्वयं समर्थ नहीं, इस प्रकार लोक में प्रयोग देखते हैं अर्थात् सामान्यरूप एक ही स्वयं शब्द का देवदत्त आदि विशेषों के साथ अन्वय देखते हैं।।३९।।

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ।।४०।।

कदाचित् कहो कि लोक में इस प्रकार रहे इससे किस प्रकार स्वयं शब्द का अर्थ सामान्य होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे इदं रूप्यम्, इदं वस्त्रम् अर्थात् यह रूप्य है, यह वस्त्र है यहां इदंरूप सामान्य है इसी प्रकार असौ, त्वम्, अहम् (यह तू, मैं) इनमें भी स्वयम् इस शब्द का प्रयोग मानते हैं। इससे इदम् अर्थ के समान, स्वयं शब्द का अर्थ भी सामान्यरूप है।।४०।।

अहंत्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ।।४१।।

कदाचित् कहो कि स्वयम् और अहं शब्द का भेद आत्मा में रहे तथापि कूटस्थ आत्मा में क्या आया इस आशय से वादी पूछता है कि अहं शब्द से स्वशब्द का भेद रहे उससे तेरे कूटस्थ में क्या सिद्ध होगा ? सिद्धांती उत्तर देता है कि मेरे मत में यह होगा कि स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ है उससे भिन्न नहीं।।४१।।

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ।।४२।।

कदाचित् कहो कि भेद का निषेधक स्वत्वरूप धर्म है वह कूटस्थ का बोधन न करेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि भेद का निवारक स्वत्व है तो भेद की निवृत्ति जो कूटस्थ को आत्मा कहता है उसके मत में वह इष्ट ही हो जायगा अर्थात् जो भेद निवृत्ति उसको इष्ट थी वह अनायास से सिद्ध हो जायगी।।४२।।

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ।।४३।।

कदाचित् शंका करो कि स्वयं और आत्मा इन दोनों शब्दों के स्वयंत्व और आत्मस्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न हैं इसमें 'गौः अश्व' आदि शब्दों के समान

इनका एक अर्थ नहीं है और एक अर्थ होने से स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ आत्मा कैसे होगा सो ठीक नहीं स्वयं आत्मा ये दोनों शब्द हस्त और कर के समान पर्याय हैं, इसी से लोक में इनका संग प्रयोग नहीं होता, इससे स्वत्व और आत्मत्व ये दोनों अन्य के निषेधक हैं।।४३।।

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।।
अचेतनेषु दृष्टं चेत् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ।।४४।।

कदाचित् कहो कि घट स्वयं नहीं जानता इस प्रकार अचेतन घट आदिकों में भी स्वत्व को देखता है इससे स्वयम् आत्मा दोनों एक नहीं हो सकते सो ठीक नहीं क्योंकि घट आदिकों में भी प्रकाशमान चैतन्य है उसकी सत्ता से अचेतनों में भी देखा है तो देखो उसके देखने में कोई विरोध नहीं।।४४।।

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता नहि ।।
किंतु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ।।४५।।

कदाचित् कहो कि घट आदिकों में भी जों आत्मचैतन्य को मानेंगे तो चेतन अचेतन के विभाग का हेतु कौन होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि चेतन और अचेतन का भेद कूटस्थ और आत्मा का किया हुआ नहीं किंतु बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास का किया है इसको तुम जानो।।४५।।

यथाचेतन आभासः कूटस्थे भ्रांतिकल्पितः ।।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ।।४६।।

कदाचित् कहो कि चेतन अचेतन का विभाग चिदाभास की सत्ता और असत्ता से मानोगे तो अचेतनों में आत्मा की सत्ता का स्वीकार निष्प्रयोजन हो जायगा इस आशंका का उत्तर यह है कि चेतन अचेतन के विभाग का हेतु कूटस्थ को न मानें तो भी अचेतन की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ मानना पड़ेगा, इस अभिप्राय से कूटस्थ में घट आदि की कल्पना और दृष्टांतो को कहते हैं कि जैसे कूटस्थ में ही भ्रम से चेतन का आभास कल्पित है इसी प्रकार अचेतन घट आदि में भी चेतन में ही कल्पित हैं।।४६।।

तत्तेदंते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।।
सर्वात्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ।।४७।।

स्व और आत्मा को एक मानने में शंका करते हैं कि तत्ता और इदंता (वह और यह) भी स्वत्व के समान त्वम् अहम् (तू मैं) आदि में सर्वत्र अनुगत प्रविष्ट हैं इससे उन दोनों को आत्मत्व हो जायगा अर्थात् वे भी आत्मा मानने

चाहिये।।४७।।

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदंते ततस्तयोः ।।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ।।४८।।

पूर्वोक्त शका का उत्तर यह है कि तत्ता और इदंता को आत्मत्व से अधिक वृत्ति होने से आत्मत्व नहीं हो सकता किन्तु वे तत्ता और इदंता स्वत्व के समान त्वम् अहम् आदि में अनुगत हैं अर्थात वर्तमान हैं तथापि वे दोनों जैसे त्वम् अहम् आदि में अनुगत हैं, ऐसे ही आत्मत्व में भी अनुगत हैं क्योंकि तद् आत्मत्वम् इदम् आत्मत्वम् (वह आत्मत्व यह आत्मत्व) यह व्यवहार होता है इससे तत्ता इदंता को आत्मत्व की अपेक्षा अधिक में वर्तमान होने से इस प्रकार आत्मारुप नहीं हो सकते जैसे सम्यक्त्व अर्थात् यह आत्मा सम्यक् (श्रेष्ठ) है और यह असम्यक् है यहां आत्मा में अनुवर्तमान भी सम्यक्त्व आत्मा नहीं हो सकते इसी प्रकार तत्ता और इदंता भी आत्मा नहीं हो सकते। भावार्थ यह है कि वे तत्ता इदंता आत्मत्व में भी वर्तमान है इससे वे दोनों सम्यक्त्व आदि के समान आत्मा नहीं हो सकते।।४८।।

तत्तदंते स्वतान्यत्वे त्वंताहंते परस्परम् ।।
प्रतिद्वंद्वितया लोक प्रसिद्धे नास्ति संशयः ।।४९।।

अब प्रसंग की बात को समाप्त करके फलित दिखाने के लिये लोकप्रसिद्धि को कहते हैं कि तत्ता के प्रतिद्वंद्वी (प्रतियोगी) इदंता का जैसे वह यह है और स्वत्व के प्रतिद्वंद्वी अन्यत्व का जैसे स्वयम् अन्य है और त्वत्ता के प्रतिद्वंद्वी अहंता का जैसे तू मैं हैं, इस प्रंकार जगत् में प्रतिद्वंद्वीभाव से प्रयोग देखते हैं अर्थात् इन दो दो का मेल देखते हैं, इसमें संशय नहीं।।४९।।

अन्यतायाः प्रतिद्वंद्वी स्वय कूटस्थ इष्यताम् ।।
त्वंतायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ।।५०।।

कदाचित् कहो कि जगत् में यह प्रसिद्धि रहे प्रकरण में (यहां) क्या सिद्ध हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि अन्यता के प्रतिद्वंद्वी स्वयं शब्द का अर्थ और त्वता के प्रतिद्वंद्वी अहं शब्द का अर्थ जो चिदाभास है वह कूटस्थ आत्मा के विषय कल्पित है यह तुम मानों कि स्वयं कूटस्थ है यह मैं हूं।।५०।।

अहंतास्वत्वयोर्भेद रूप्यतेदंतयोरिव ।।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ।।५१।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकार से जीव कूटस्थ का भेद होने पर भी सबको इस प्रकार ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस शंका का उत्तर कहते हैं कि बुद्धि का साक्षी जो

कूटस्थ उसका प्रत्यक्ष बुद्धि से नहीं हो सकता, इससे अहम् (मैं) इस प्रतीति से भासते हुए जो जीव और कूटस्थ हैं उनकी एकता भ्रांति से प्रतीत होती है कि जैसे शुक्ति के विषय इदं रजतम् (यह रजत है) यहां रजतपना और इदंपना की मोह से एकता प्रतीत होती है, उसी प्रकार अहंता और स्वत्व के भेद की स्पष्टता होने पर भी मोह को प्राप्त हुए पुरुष एकता को स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् दोनों को एक मान मोह को प्राप्त हुए पुरुष एकता को स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् दोनों को एक मान लेते हैं।।५१।।

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ।।५२।।

अब जीव और कूटस्थ को एक मानने के भ्रम में जो कारण उसको कहते हैं कि जो तादात्म्य(एकता का) अध्यास है वही पूर्वोक्त अनादि अविद्या का किया है और ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर अविद्या के कार्य पूर्वोक्त अध्यास की भी निवृत्ति हो जाती है।।५२।।

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ।।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ।।५३।।

कदाचित् कहो कि अविद्या का काय जो अध्यास उसकी निवृत्ति अविद्या की निवृत्ति से होती है यह नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर भी देह आदि प्रतीत होती हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि एक अविद्या ही है कारण जिनका ऐसे आवरण और तादात्म्य ये दोनों तो विद्या से ही नष्ट हो जाते हैं और कर्मसहित अविद्या से पैदा हुआ जो विक्षेप (संसार) उसका स्वरूप तो प्रारब्ध के क्षय को देखता है अर्थात् देह आदि संसार अपने प्रारब्धकर्म तक रहता है।।५३।।

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत् ।।५४।।

कदाचित् कहो कि प्रारब्ध निमित्त कारण है केवल उससे अविद्यारूप उपादान कारण के नाश होने पर कार्यरूप देह आदि की स्थिति नहीं हो सकेगी सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्य शास्त्रवाले तार्किक (नैयायिक) जैसे यह कहते हैं कि उपादान कारण की निवृत्ति होने भर क्षणमात्र कार्य की अनुवृत्ति (स्थिति) देखते हैं अर्थात् क्षणभर कार्य वना रहता है इसी प्रकार हमारे मत में भी देह आदि कार्य बने रहेंगे।।५४।।

तंतूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ।।५५।।

कदाचित् कहो कि नैयायिक कार्य की स्थिति क्षणमात्र मानते हैं चिरकाल तक नहीं सो भी ठीक नहीं, क्योंकि कितनेक दिनों की है संख्या (अल्प) जिनकी ऐसे तंतुओं का क्षण भी उतना ही कहा है और असंख्या कल्पों तक है स्थिति जिसकी ऐसा जो भ्रम इसके योग्य ही उसका क्षण यहां मानना इष्ट है अर्थात् अनादि काल से चला आया जो संसार उसके संस्कार के अधीन चिरकाल तक अनुवृत्ति इस प्रकार होती है जैसे कुलाल के चक्र का भ्रमण होता रहता है।।५५।।

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नु दुःशकम् ।।५६।।

कदाचित् कहो कि तार्किक ने जैसा युक्त कहा वैसा ही आपने कहा सो ठीक नहीं, क्योंकि हमारे और उनके कथन में यह भेद है कि वे तार्किक तो विचार के सहने योग्य मान (प्रमाण) के विना वृथा ही कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभव से कहनेवाले जो हम (वेदांती) हैं उनको कौन बात अशक्य है अर्थात् हमारे मन में 'उसको तब तक ही विलंब है जब तक मोक्ष नहीं होता फिर तो वह ब्रह्मरूप हो जाता है,' यह श्रुति और चक्र के भ्रमणरूप युक्ति और विद्वानों का अनुभव ये तीन प्रमाण हैं और तार्किकों के मत में कोई भी प्रमाण नहीं है। भावार्थ यह है कि तार्किक विचार सहित प्रमाण के बिना वृथा कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभव सहित कहनेवाले हमारे मत में कौन वस्तु अशक्य है अर्थात् नही हो सकती है।।५६।।

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादःप्रकृत ब्रुव ।।
स्वाहमोः सिद्धिमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ।।५७।।

दुष्ट जो तर्क उसके कर्ता तार्किकों के संग विवाद रहे अब प्रकरण की बात करते हैं कि स्व और अहं जो कूटस्थ के परिणामी हैं उनकी एकता भ्रम से सिद्ध है अर्थात् अज्ञान से दोनों एक प्रतीत होते हैं।।५७।।

भ्राम्यंते पंडितंमन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ।।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ।।५८।।

कदाचित् शंका करो कि कूटस्थ जीव की एकता भ्रम से सिद्ध है तो यह भ्रांत है इसको कोई भी नहीं जानते सो भी ठीक नहीं, क्योंकि मूर्खता से श्रुति के तात्पर्य का अनादर करके और अपने को पंडित मानते हुए संपूर्ण लौकिक और तैर्थिक अर्थात्

जगत् के मनुष्य और शास्त्रों के ज्ञाता केवल युक्ति के ही बल से भ्रम को प्राप्त हो जाते हैं।।५८।।

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।।
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयंत्यप्यलज्जया ।।५९।।

कदाचित् कहो कि श्रुतियों के अर्थ के वक्ता भी कोई कोई ऐसे (इस प्रकार) क्यों नही जानते सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व और अपर के विचार में व्याकुल हुए कोई वेद के ज्ञाता भी उसमें अपने अपने पक्ष में वाक्यों के आभासों (नाम के वाक्य) को निर्लज्ज होकर युक्त करते हैं अर्थात् घटाते हैं और संपूर्ण श्रुतियों के अर्थ को नहीं देखते।।५९।।

कूटस्थादिशरीरांतसंघातस्यात्मतां जगुः ।।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ।।६०।।

अब प्रत्यक्षप्रमाण माननेवाले स्थूलबुद्धि जो लोकायत उनके पक्ष को ही प्रथम कहते हैं कि लोकायत (नास्तिक) और पामर मनुष्य केवल प्रत्यक्षाभास प्रमाण के आश्रय से कूटस्थ और शरीरपर्यंत संघात को ही आत्मा कहते हैं।।६०।।

श्रौतीकतु स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ।।
विरोचनस्य सिद्धांतं प्रमाण प्रतिजज्ञिरे ।।६१।।

और वे प्रत्यक्षप्रमाण के वादी भी अन्यों के मोहनार्थ अपने मत को श्रुतिसिद्ध करने के लिये यह वाक्य भी कहते हैं कि वह यही पुरुष (ईश्वर) है जो अन्नरस मय (देह) है इस श्रुति के वाक्य को कहते हैं और विरोचन को जो यह सिद्धांत है कि आत्मा ही देहमय है इसको ही प्रमाण मानते हैं। भावार्थ यह है कि प्रमाण की प्रतिज्ञामात्र करते हैं उपपादन (कथन) नहीं कर सकते।।६१।।

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ।।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः पर ।।६२।।

अब इस पक्ष में दोष को दिखाकर अंन्य मत को कहते हैं कि जीवरूप आत्मा के निकलने पर देह का मरना जगत् में देखते हैं, इससे देह से भिन्न ही आत्मा है यह अपर (अन्य) लोकायत कहते हैं।।६२।।

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ।।
गमयेदिंद्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ।।६३।।

अब वह देह से भिन्न कैसा आत्मा है और किस प्रमाण से जाना जाता है यह दिखाते हैं कि मैं कहता हूं, मैं देखता हूं इत्यादि प्रयोग से प्रत्यक्ष दीखती हुई जो

अहंबुद्धि है वहं देह से भिन्न इंद्रियरूप आत्मा को जनाती है इससे देह से भिन्न इंद्रिय ही आत्मा है।।६३।।

वागादीनामिंद्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ।।६४।।

कदाचित् कहो कि अचेतन इंद्रियों को आत्मत्व कैसे होगा क्योंकि श्रुतियों में इंद्रियों को अचेतन कहा है सो ठीक नहीं, क्योंकि वाक आदि इंद्रियों का कलह श्रुतियों मे सुना है, इससे ये इंद्रिय चेतन हैं और चेतन होने से ही आत्मरूप हैं यह मत उनका है जो इंद्रियों को ही आत्मा मानते हैं।।६४।।

हरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ।।६५।।

प्राणों को ही जो आत्मा कहते हैं वे हैरण्यगर्भ तो ऐसे वर्णन करते हैं कि नेत्र आदि इंद्रियों के नष्ट होने पर भी प्राणों की सत्ता से मनुष्य जीता है इससे प्राण ही आत्मा है।।६५।।

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपंचितः ।।६६।।

अब प्राण को आत्मा मानने में श्रुति के प्रमाण देते हैं कि सोने के समय में इस देह में प्राण ही जागता है और प्राण के आश्रय से उठता है इससे प्राण ही उक्थ है, इस श्रुति से प्राण की ही श्रेष्ठता सुनी है और अन्य अन्तर (भीतर) प्राणमय आत्मा है इत्यादि से प्राणमय कोश का विस्तार से वर्णन किया है और प्राण का संवाद प्रवेश आदि भी देखते हैं इससे प्राण ही आत्मा है।।६६।।

मन आत्मेति मन्यंत उपासनपराः जनाः ।।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ।।६७।।

अब प्राण से भी आंतर मन को आत्मा माननेवालों के मत को कहते हैं कि प्राण भोक्ता नहीं है यह बात स्पष्ट है इससे सुख दुःख का भोक्ता मन ही हो सकता है और वही आत्मा है।।६७।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ।।६८।।

अब मन को आत्मा मानने में युक्ति का बोधक श्रुति को कहते हैं मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है और उस इस प्राणमय से अन्य आंतर आत्मा मनोमय है यह श्रुति में मनोमयकोश सुना है इससे मन ही आत्मा है यह श्रुति में

कहा है।।६८।।

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ।।६९।।

अब मन से भी अंतर विज्ञानमय कोश को आत्मा माननेवाले बौद्ध के मत को कहते हैं कि अन्य क्षणिकवादी विज्ञान ही आत्मा है यह कहते हैं जिससे इस संपूर्ण जगत् का मूल विज्ञान ही स्पष्ट है।।६९।।

अहंवृत्तिरिदवृत्तिरित्यतः करणं द्विधा ।।
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ।।७०।।

अब विज्ञान मनरूप अंतःकरण एक है इससे मन और विज्ञान इनका कार्यकारणभाव कैसे होगा, यह शंका करके उनका भेद कहने के लिये रीति को कहते हैं कि अहंवृत्ति और इदंवृत्ति से अंतःकरण दो प्रकार का है उनमें अहंवृत्ति को विज्ञान और इदंवृत्ति को मन कहते हैं।।७०।।

अहप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ।।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ।।७१।।

अब अहं प्रतीति और इदं प्रतीति कार्यकारणभाव को कहते हैं कि इदं (यह है) प्रतीति का बीज (कारण) अहं प्रतीति है क्योंकि अपनी आत्मा के बिना जाने कदाचित् भी बाह्य विषय को नहीं जान सकता अर्थात् अहंवृत्ति के पैदा हुए बिना इदंवृत्ति नहीं हो सकती, इससे इन दोनों का कार्यकारण भाव है।।७१।।

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मतौ यतः ।।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ।।७२।।

अब विज्ञान क्षणिक (अनित्य) है इससे अनुभव प्रमाण को कहते हैं कि जिससे अहंवृत्ति का जन्म और नाश क्षण क्षण में माने हैं इससे विज्ञान क्षणिक है और अपने आप ही उसका ज्ञान होता है इससे वह स्वप्रकाश रूप है अर्थात् उसका अन्य कोई ज्ञाता नहीं है।।७२।।

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ।।७३।।

अब विज्ञान को आत्मारूप होने में वेद का प्रमाण देते हैं कि इस आत्मा से अन्य अंतर आत्मा है जो विज्ञानमय है, विज्ञान ही यज्ञ का विस्तार करता है इस आगम (वे) से विज्ञानमय कोश ही जीव हैं और संपूर्ण संसार इसके ही जन्मनाश से सुख दुःख आदि को भोगता है।।७३।।

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ।।७४।।

अब बौद्धों के शून्यवादियों का मत कहते हैं कि बिजली मेघ निमेष इनके समान क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं है और अन्य कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता, इससे शून्य है यह माध्यमिक कहते हैं।।७४।।

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रांतिप्रकल्पितम् ।।७५।।

उसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं यह संपूर्ण असत् ही है इत्यादि श्रुतियों में शून्य ही सुना है और यह ज्ञान ज्ञेयरूप प्रतीत होता है यह सब भ्रांति से कल्पित है।।७५।।

निरधिष्ठानविभ्रांतेरभावादात्मनोऽस्तिता ।।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्यते ।।७६।।

अब शून्यवादी के मत में दोष देते हैं कि आकार से रहित जो शून्य वह भ्रम का अधिष्ठान नहीं हो सकता और अधिष्ठान के विना भ्रम हुआ नहीं करता, इससे जगत् की कल्पना का अधिष्ठान जो आत्मा उसकी सत्ता मानना चाहिये और शून्यवादी को भी शून्य का साक्षी आत्मा अवश्य मानना पड़ेगा अन्यथा (न मानो तो) इस शून्य का कहना तेरे (बौद्ध) मत में सिद्ध न होगा।।७६।।

अन्यो विज्ञानमयत आनंदमय आंतरः ।।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ।।७७।।

विज्ञानमय से भी अन्य आंतर आत्मा आनन्दमय है और वही तत्त्वरूप होने से ज्ञानी को प्राप्त होने योग्य है, यह वेदशास्त्र का सिद्धांत है कि उस इस विज्ञानमय आत्मा से अन्य आन्तरात्मा आनन्दमय है और वही तत्त्वरूप से प्राप्त होने योग्य है।।७७।।

अणुर्महान्मध्यमो वेत्येव तत्रापि वादिनः ।।
बहुधा विवदंते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ।।७८।।

उस आनन्दमय कोश को भी कोई कोई वादी अणु, कोई महान्, कोई मध्यम कहकर अनेक प्रकार से विवाद करते हैं और अपने अपने मत में श्रुति और युक्तियों का प्रमाण देते हैं।।७८।।

अणुं वदंत्यांतरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ।।७९।।

अब अणुवादियों के मत को कहते हैं कि सूक्ष्म सूक्ष्म नाड़ियों में गमन करने से आंतराल इसको अणु कहते हैं क्योंकि रोमों के सहस्रों भागों से सूक्ष्म सूक्ष्म तुल्य नाड़ियों में यह आनन्दमय विचरता है अर्थात् सूक्ष्म सूक्ष्म नाड़ियों में विचरना सूक्ष्म (अणु) के बिना नहीं हो सकता।।७९।।

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ।।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ।।८०।।

अब अणुत्व में प्रमाण को कहते हैं कि यह अणु से भी अत्यन्त अणु और महान् (बड़े) से अत्यन्त महान् है और यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है इत्यादि सैंकड़ों और सहस्रों श्रुति इसे अणु कहती हैं और यह भी श्रुति है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म नित्य आत्मा है।।८०।।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ।।८१।।

अब अन्य श्रुति को प्रमाण देते हैं कि एक बाल के अग्रभाग के जो सौ भाग उनमें से एक भाग के सौवें भाग की कल्पना करो तो उतना अणु जीव जानना, यह अन्य श्रुति कहती है।।८१।।

दिगंबरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ।।८२।।

अब मध्यमपरिमाणवादी के मत को दिखाते हैं कि पाद से मस्तकपर्यंत और नख के अग्रभाग से लेकर चैतन्य की व्यापकता को देखते हैं कि वह यह नख के अग्रभाग से प्रविष्ट आत्मा है, इससे दिगंबर मध्यमपरिमाण आत्मा को कहते हैं।।८२।।

सूक्ष्मनाड़ीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कंचुकप्रतिमोकवत् ।।८३।।

कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाण मानने में सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश न बनेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे स्थूल देह के अवयव जो हस्त उनके कंचुक में प्रवेश से देह का कंचुक में प्रवेश होता है वैसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का ही प्रवेश होने से आत्मा का भी प्रवेश माना जाता है। भावार्थ यह है कि कंचुक (चोली) में हाथों के द्वारा स्थूल देह के प्रवेश के तुल्य आत्मा का भी सूक्ष्म अवयवों से सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश हो जायगा।।८३।।

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।।
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ।।८४।।

कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाण का नियम मानेगे तो कर्मों के वश से आत्मा का न्यून अधिक शरीरों में प्रवेश न घटेगा सो ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के अंशों का गमन और आगमन से न्यून अधिक शरीरों में प्रवेश भी विरुद्ध नहीं है, इससे आत्मा का देह के समान मध्यमपरिमाण निश्चित है।।८४।।

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।।
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ।।८५।।

कदाचित् कहो कि आत्मा को सावयव मानने में घट आदि के समान अनित्य होने से नाश हो जायगा सो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा का भी नाश मानेंगे तो किये हुए पुण्यों का भोग के विना नाश और नहीं किये हुए फल के दाता पुण्य पापों की प्राप्ति हो जायगी, इस कृतनाश और अकृत का आगमरूप दोनों दोष आत्मा को अनित्य मानने में हो जायँगे, इससे मध्यमपरिमाण होने पर भी आत्मा नित्य है।।८५।।

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ।।८६।।

इससे आत्मा महान् है न अणु है न मध्यम है और आकाश के समान सर्वव्यापी निरवयव श्रुतियों में कहा है कि आकाश के समान सर्वगत नित्य कला और क्रियारहित आत्मा है।।८६।।

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ।।८७।।

इस प्रकार आत्मा को विभु सिद्ध करके चिद्रूप निश्चय करने के लिये वादियों के विवाद को दिखाते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा को महान् कहकर कोई कोई मनुष्य कलह करते हैं कि आमा अचित् रूप है वा चित् रूप है अथवा चित् अचित् रूप है।।८७।।

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ।।८८।।

अब अचित्रूपवादी के मत को दिखाते हैं कि प्राभाकर और तार्किक तो आत्मा को अचित् (अचेतन) कहते हैं और आत्मा आकाश के समान द्रव्य है और शब्द के समान उसका चित्ति गुण है इसी से वह पृथ्वी आदि से भिन्न है यहां ये दो अनुमान हैं कि आत्मा द्रव्य होने योग्य है, गुणवान् होने से आकाश के समान और आत्मा पृथ्वी आदि से भिन्न है क्योंकि उसका गुण ज्ञान है जो पृथ्वी आदि से भिन्न नहीं उसमें

ज्ञानगुण भी नहीं जैसे घट। भावार्थ यह है कि प्रभाकर और तार्किक आत्मा को अचेतन और आकाश के समान द्रव्य मानते हैं और उसका शब्द के समान चैतन्य गुण है।।८८।।

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ।।८९।।

और चित्ति के समान उस आत्मा के ये भी गुण कहते हैं कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, असुख और भावना नाम का संस्कार।।८९।।

आत्मनो मनसा योगे स्वदृष्टवशतो गुणाः ।।
जायंतेऽथ प्रलीयंते सुषुप्ते दृष्टसंक्षयात् ।।९०।।

मन के संग आत्मा का योग होने पर अपने अपने अदृष्ट के वश से पूर्वोक्त गुण पैदा हो जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में संपूर्ण दृष्ट का नाश देखते हैं।।९०।।

चित्तिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ।।९१।।

कदाचित् शंका करो कि आत्मा को अचित्‌रूप मानने में चेतनता न होगी सो ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त चितिगुणवान् होने से यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष प्रयत्नवाला है और दुःख आदिवाला होने से धर्म और अधर्म का कर्त्ता और भोक्ता है, इसी से ईश्वर से विलक्षण है।।९१।।

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।।
तथा लोकांतरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ।।९२।।

कदाचित् कहो कि आत्मा को विभु (व्यापक) मानेंगे तो लोकांतर में गमन आदि न घटेंगे सो ठीक नहीं है क्योंकि इस देह में कर्म के वश इच्छा आदि की उत्पत्ति होने पर इस देह में जैसे आत्मा की स्थिति का व्यवहार होता है, इसी प्रकार कर्म के अधीन लोकांतर में अन्य देह की उत्पत्ति होने पर उसमें आत्मा के प्रवेश से सुख आदि की उत्पत्ति के अधीन व्यापक भी आत्मा के गमनागमन व्यवहार को गौणरूप से मानते हैं। भावार्थ यह है कि जैसे इस देह में कर्मवश कभी कभी सुख दुःख आदि होते हैं, इसी प्रकार लोकांतर के देह में कर्म के वश इच्छा आदि पैदा होते हैं।।९२।।

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।।
कर्मकांडः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ।।९३।।

इस प्रकार सर्वव्यापी आत्मा के भी गमन और आगमन होते हैं अर्थात आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है और इसमें संपूर्ण कर्मकाण्ड को वे प्रमाण कहते हैं।।९३।।

आनंदमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।।
षष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ।।९४।।

कदाचित् कहो कि विज्ञानमय से अन्य आंतर आनन्दमय आत्मा है' यहां तो आनन्दमय को आत्मा कहा और अव इच्छादिमान् को आत्मा कहते हैं, इससे पूर्व और उत्तर का विरोध होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि जिसमें चेतनता स्पष्ट नहीं ऐसा आनन्दमय सुषुप्ति में जो शेष रहता है, श्रुति में कहे हुए पांच कोशों में पहला वह इन प्राभाकरादिकों का आत्मा है और उसी आत्मा के ये ज्ञान इच्छा आदि गुण हैं।।९४।।

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थिस्मृतेः ।।९५।।

इसी आत्मा को भाट्ट चित्त और अचित् रुप कहते हैं, क्योकि वे भाट्ट आत्माके चैतन्य को अप्रकट मानकर चेतन और जड़ दोनों रूप कहते हैं और सुषुप्ति से उठे हुए मनुष्य को जो स्मरण होता है उससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति में चैतन्य था।।९५।।

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाडचस्मृतिस्तदा ।।
विना जाडचानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ।।९६।।

अब चेतनकी उत्प्रेक्षाके प्रकार को कहते हैं कि उस सुषुप्तिके समयमें जड़ होकर सोया यह जो जगे हुए मनुष्य को जड़ता का स्मरण है वह जड़ता के अनुभव (ज्ञान) विना नहीं हो सकता, इससे सुषुप्ति के समय जड़ता के ज्ञान की कल्पना होती है।।९६।।

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ।।९७।।

अब सुषुप्ति में चैतन्य का लोप नहीं होता है इससे प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्तिमें द्रष्टा (ईश्वर) की दृष्टि का लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है इससे यह आत्मा प्रकाश और अप्रकाशरूप से खद्योत के समान युक्त है और जो आत्मा के ज्ञान का लोप भी मानता है वह भी साक्षी के बिना नहीं हो सकता और सुषुप्ति में चैतन्य के लोप का अभाव सुना है इससे भी यह आत्मा पूर्वोक्तरूप है। भावार्थ यह है कि द्रष्टा के ज्ञान का श्रुति में लोप का अभाव सुना है इससे यह आत्मा स्फुरण और अस्फुरण से युक्त खद्योत के समान है।।९७।।

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते ।।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ।।९८।।

अब इस भाट्टों के मत में दूषण करते हुए सांख्यों के मत को कहते हैं कि अवयवों से रहित आत्मा के चित् अचित् दोनों रूप नहीं घट सकते, इससे आत्मा चित् रूप ही है यह विवेक सांख्य कहते हैं।।९८।।

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ।।९९।।

अब सुषुप्ति में जड़ता के स्मरण की गति को कहते हैं कि जड़ता का जो अंश है वह प्रकृति का रूप और विकारी और त्रिगुण है। वह प्रकृति चेतन पुरुष के भोग के लिये प्रवृत्त होती है।।९९।।

असंगायाश्चितेर्बंधमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।।
बंधमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ।।१००।।

चेतन असंग है और प्रकृति पुरुष दोनों भिन्न हैं, प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष को भोग और मोक्ष कैसे हो सकते हैं ? इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि असंग भी चिति को प्रकृति के परस्पर भेद के अज्ञान से बंध और मोक्ष दोनों का व्यवहार पुरुष में माना जाता है और तार्किकों के समान सांख्य भी बंध और मुक्ति की व्यवस्था के लिये चैतन्य का भेद मानते हैं।।१००।।

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ।।
श्रुतावसंगता तद्वदसंगो हीत्यतः स्फुटा ।।१।।

प्रकृति की सत्ता और पुरुष के असंग होने में श्रुति का उदाहरण देते हैं कि महात्तत्व से परे जो अव्यक्त उसको ही प्रकृति कहते हैं, वैसे ही 'यह पुरुष असंग है, इस श्रुति में असंगता स्पष्ट है।।१।।

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ।।२।।

इस प्रकार जीव के विषय–वादियोंके विवाद को दिखाकर ईश्वरके विषय विवाद दिखाने के लिये प्रथम ईश्वर के स्वरूप को स्थापन करते हैं कि चित् के समीप में प्रवृत्त हुई जो प्रकृति उसके नियामक को योगीजन ईश्वर कहते हैं और वह ईश्वर जीवों से परे सुना है इससे यह भी शंका नहीं हो सकती कि प्रकृति पुरुष से भिन्न ईश्वर में कोई प्रमाण नहीं है।।२।।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।।
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यंतर्याम्युपपादितः ।।३।।

अब ईश्वरकी सत्ताकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि तीनों गुणों की तुल्य अवस्थारूप

प्रधान और क्षेत्रज्ञ जीव इनका पति और सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणों का नियामक ईश्वर है, यह श्रुति ईश्वर के होने में प्रमाण है और कुछ यही श्रुति प्रमाण नहीं है किन्तु अंतर्यामी ब्राह्मण भी प्रमाण है कि आरण्यक उपनिषद् में स्पष्टरीति से अंतर्यामी का वर्णन किया है।।३।।

अत्रापि कलहायंते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरंति हि ।।४।।

इस अंतर्यामी के सिवाय भी वहुत से वादी कलह करते हैं और अपनी अपनी युक्तियों से बुद्धि के अनुसार दृढ़ता के लिये वेद के वाक्यों को कहते हैं।।४।।

क्लेशकर्मविपाकस्तदाशयैरप्यसंयुतः ।।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसंगचित् ।।५।।

अव 'क्लेश, कर्म, विपाक और इनके आशयों से जिसका स्पर्श नहीं ऐसे पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है' इस पतंजलि के कहे सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं कि अविद्या आदि पांच क्लेश अर्थात् अज्ञान, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, न शुक्ल, न कृष्ण, रूप कर्म, योगियों के और अन्यों के तीन प्रकार के कर्म और मूल होने पर उनके जाति आयु भागरूप विपाक अर्थात् फलविशेष और उनके आशय (संस्कार) इन संपूर्ण क्लेश आदि से असंयुक्त जो पुरुषविशेष वह ईश्वर है और जीव के समान वह भी असंग और चेतन है। भावार्थ यह है कि क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे रहित जो पुरुष विशेष है वह ईश्वर है और वह जीव के समान असंग चित्रूप है।।५।।

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियंतृता ।।
अव्यवस्थौ बंधमोक्षावापतेतामिहान्यथा ।।६।।

कदाचित् कहो कि असंग मानोगे तो वह नियामक न होगा सो ठीक नहीं कि तो भी पुरुष विशेष होने से उसमें नियामकता घट सकती है क्योंकि ईश्वर को नियामक न मानोगे तो बिना व्यवस्था के ही बंध मोक्ष हो जायँगे।।६।।

भीषास्मादित्येवमादावसंगस्य परात्मनः ।।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ।।७।।

अब असंग ईश्वर को नियामक मानने में प्रमाण देते हैं कि इस परमेश्वर के भय से पवन चलता है इत्यादि श्रुतियों में असंग परमात्मा में नियामकता सुनी है और क्लेश कर्म आदि जीवधर्मों के असंगम से ईश्वर में नियामकता युक्त भी है।।७।।

जीवानामप्यसंगत्वात् क्लेशादिर्नह्यथाऽपि च ।।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ।।८।।

कदाचित् कहो कि जीव भी असंग चित्तरूप हैं इससे क्लेश आदि से रहित हैं फिर उनकी अपेक्षा ईश्वर में क्या विशेषता है सो ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि जीवों को भी असंग होने से क्लेश आदि नहीं है तथापि विवेक के अज्ञान से अर्थात् बुद्धि से पृथक् अपने को न समझकर क्लेश कर्म आदि का सबंध पहले कह आये हैं।।८।।

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।।
असंगस्य नियंतृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ।।९।।

तार्किक तो असंग की नियामकता को न सहते हुए जीव से विलक्षणता के लिये यह कहते हैं कि नित्य ज्ञान प्रयत्न इच्छा से ये गुण ईश्वर के हैं और असंग को नियामक मानना अयुक्त है यह तार्किक (नैयायिक) मानते हैं।।९।।

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रुतिर्जगौ ।।११०।।

कदाचित् कहो कि इच्छा आदि गुणों से युक्त वह कैसे जीव से विलक्षण है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह पुरुष विशेष भी नित्य जो इच्छा आदि गुण उनसे ही पुरुष विशेष है अन्यथा नहीं क्योंकि श्रुति में यह कहा है कि सत्यकाम सत्यसकल्परूप ईश्वर है।।११०।।

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ।।
हिरण्यगर्भे ईशोऽतो लिंगदेहेन संयुतः ।।११।।

उसमें भी दोष होने से पक्षांतर को कहते हैं कि यदि परमेश्वर को नित्य ज्ञानवान् मानोगे तो सदैव सृष्टि हो जायगी इससे लिंगदेह से युक्त जो हिरण्यगर्भ वही ईश्वर है अर्थात मायोपाधि परमात्मा लिंगशरीर समष्टि के अभिमान से हिरण्यगर्भ कहाता है।।११।।

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ।।
लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ।।१२।।

अब हिरण्यगर्भ को ईश्वर मानने में प्रमाण कहते हैं कि उद्गीथ ब्राह्मण में उस हिरण्यगर्भ का माहात्म्य अत्यंत विस्तार से कहा है और वह अविद्या काम कर्म आदि के अभाव से लिंगदेह के संबंध से भी जीव नहीं हो सकता।।१२।।

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ।।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ।।१३।।

स्थूल देह के बिना केवल लिंगशरीर कहीं भी नहीं मिलता इससे स्थूल शरीरों का समष्टि अभिमानी जो विराट् देह वही ईश्वर है और उसके मस्तक आदि संपूर्ण शरीरों के जो हैं वे ही हैं।।१३।।

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिंतकाः ।।१४।।

अब उसके होने से श्रुति प्रमाण कहते हैं कि सहस्रों उस पुरुष के शिर हैं, और सब ओर उसके नेत्र हैं, यह वाक्य श्रुतियों में सुना है। यह रात्रि दिन विश्वरूप के चिंतक अर्थात् विराट् के उपासक कहते हैं।।१४।।

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ।।१५।।

इसमें भी दोष दीखता है इससे अन्य देवता को ही ईश्वर कहते हैं कि सब और उसके हाथ और चरण मानोगे तो कृमि आदि भी ईश्वर हो जायँगे इससे चतुर्मुख (ब्रह्मा) देव ही ईश्वर है अन्य कोई पुरुष नहीं।।१५।।

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ।।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरंत्यमी ।।१६।।

पुत्र के लिये उसकी उपासना करते हुए ऐसे कहते हैं और वे श्रुति के वाक्य के उदाहरण देते हैं कि प्रजापति (ब्रह्मा) ने संपूर्ण प्रजाओं को रचा है।।१६।।

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ।।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ।।१७।।

अब भागवतों का मत कहते हैं कि विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ जो कमल उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, इससे विष्णु ही ईश्वर है, जगत् में जो जन भागवत हैं वे कहते हैं।।१७।।

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्गर्यशक्तस्ततः शिवः ।।
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ।।१८।।

अब शैवों का मत कहते हैं कि विष्णु शिवजी के चरणों की अन्वेषणा (ढूंढ़ना) करने को भी समर्थ न हुआ, इससे शिव ही ईश्वर है विष्णु नहीं, यह आगम (पाशुपतशास्त्र) के मारनेवाले शैव कहते हैं।।१८।।

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ।।१९।।

अब गाणपत्यों का मत कहते हैं कि तीनों पुरों को दग्ध (भस्म) करने के लिये शिवजी ने भी गणेशजी का पूजन किया, इससे विनायक (गणेश) ही ईश्वर हैं यह गाणपत्य मत में जो रत हैं वे कहते हैं।।१९।।

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ।।
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ।।१२०।।

इस प्रकार भैरव मैराल आदि के उपासक भी अपने अपने पक्ष के अभिमान से अन्यथा अन्यथा वर्णन करते हुए मंत्रों के अर्थवादों को मानकर ईश्वर को भिन्न भिन्न मानते अर्थात् अपनी अपनी बुद्धि से अनेक ईश्वर मानते हैं।।१२०।।

अंतर्यामिणमारभ्य स्थावरांतेशवादिनः ।।
संत्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ।।२१।।

अतंर्यामी से लेकर स्थावरपर्यंत ईश्वर को कहते हुए अनेक ईश्वरवादी हैं क्योंकि कहीं कहीं पीपल आक वंश आदि को भी कुल का देवता देखते हैं इससे किसी किसी के मत में स्थावर भी ईश्वर हैं।।२१।।

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साऽप्यत्र स्फुटमुच्यते ।।२२।।

इस प्रकार मतों के भिन्न भिन्न होने पर कौन स्वीकार करने योग्य है और कौन नहीं, यह शंका करनी, क्योंकि तत्त्व के निश्चय की कामना से युक्ति और आगम (वेद) के विचार में जिनका शील है ऐसे पुरुषों को एक ही ईश्वर को प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाती है और उसको भी यहां प्रकट रीति पर कहते हैं।।२२।।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।२३।।

उसी निश्चय के कहने से लिये उसके अनुकूल श्रुति को कहते हैं कि जगत् का उपादान कारण माया को जाने और उस माया का अधिष्ठाता जो अंतर्यामी उसको महेश्वर जाने अर्थात् जगत् का निमित्तकारण ईश्वर है और इस अंतर्यामी के अवयव (अंश) जो जीव उनसे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त (भरा) है।।२३।।

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरांतेशवादिनाम् ।।२४।।

इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के विषय का निर्णय युक्त है, ऐसा होने पर जो स्थावरपर्यंत ईश्वर को कहते हैं उन सबका विरोध भी न होगा अर्थात् इसको सब मानते हैं।।२४।।

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ।।२५।।

अब जगत् की प्रकृति जो माया उसके रूप को कहते हैं कि यह माया तमः (अज्ञान)

रूप है यह तापनीय उपनिषद् मे कहा है और उस माया के तमोरूप होने में श्रुति ने स्वयम् अनुभव को ही प्रमाण कहा है।।२५।।

जडं मोहत्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानंत्यं तस्य साऽब्रवीत् ।।२६।।

अब माया के तमोरूप होने में अनुभव को कहते हैं कि वह यह जड़रूप और तमोस्वरूप है, यह श्रुति ही अनुभव कराती है और यह बात बालक गोप आदि सबको स्पष्ट है कि प्रकृति का कार्य जड़ मोहरूप है और उसी श्रुति ने उस जड़ मोहरूप को अनंत कहा है।।२६।।

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।।
यत्र कुंठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ।।२७।।

अचेतन घट आदि का जो स्वरूप है वह जड़ ही है और जिसमे बुद्धि कुंठित हो जाय अर्थात् न चले वह जड़ ही होता है।।२७।।

इत्थं लौकिकदृष्टचैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।।
युक्तिदृष्टचा त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ।।२८।।

पूर्वोक्त प्रकार से सबके अनुभव से सिद्धरूप आनंत्य को कहते हैं कि इस प्रकार यह जड़ मोहस्वरूप तमोरूपता लोकदृष्टि से सिद्ध हुई, कदाचित् कहो कि इस प्रकार माया को सबके अनुभव से सिद्ध मानोगे तो उसकी मान से निवृत्ति न होगी सो ठीक नहीं, क्योंकि युक्ति की दृष्टि से देखो तो माया का रूप अनिर्वाच्य है अर्थात् न उसे सत् कहते हैं न असत् कह सकते हैं क्योंकि श्रुति में यह कहा है 'न सत् हुआ न असत् हुआ'। भावार्थ यह है कि इस प्रकार लोकदृष्टि से इसको संपूर्ण जड़ जानते हैं और युक्ति से तो अनिवर्चनीय है और श्रुति में यह कहा है कि असत् सत्रूप माया नहीं है।।२८।।

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।।
विद्यादृष्टचा श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ।।२९।।

अब पूर्वोक्त श्रुति के अभिप्राय को कहते हैं कि जगत् को प्रकाशमान होने से तो माया असत्रूप नहीं और 'यहां किंचित् भी नाना (माया) नहीं', इस श्रुति से माया का बाध (निषेध) देखते हैं, इससे सत्रूप भी नहीं और विरुद्ध होने से सत् असत् रूपता भी युक्त नहीं, इस प्रकार युक्तिदृष्टि से अनिर्वचनीय दिखाकर यह इस माया का रूप तुच्छ है इस श्रुति और विद्वानों के अनुभव से उस माया की तुच्छता ही ज्ञानदृष्टि से सुनी है क्योंकि वह ज्ञान से सदैव निवृत्त होती है। भावार्थ यह है कि प्रकाशमान होने से असत् और बाध होने से सत् नहीं कह सकते और सदैव निवृत्ति

होने से ज्ञानदृष्टि से देखो तो माया तुच्छ है।।२९।।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ।।१३०।।

श्रुति के बोध से देखो तो माया तुच्छ है अर्थात् तीनों कालों में असत् है और युक्ति से देखो तो अनिर्वचनीय है और लोक से बोध से देखो तो वास्तवी (सत्) है, इस प्रकार श्रुति युक्ति जगत् के बोधों से माया तुच्छ, अनिर्वचनीय, वास्तवी तीन प्रकार की है अर्थात् बोधों के भेद से माया के भेद प्रतीत होते हैं।।१३०।।

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ।।३१।।

यह माया ही इस जगत् के सत्त्व और असत्त्व को दिखाती है जैसे प्रसारण (फैलाना) से और संकोच से वस्त्र चित्र प्रतीत होता है और नहीं होता है।।३१।।

अस्वतंत्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।।
स्वतंत्राऽपि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृते ।।३२।।

अब माया के अस्वतंत्र और स्वतंत्र दोनों रूप वर्णन करते हैं कि चेतन की सत्ता के बिना माया प्रतीत नहीं हो सकती, इससे तो अस्वतंत्र (पराधीन) है और चेतन (ईश्वर) असंग को भी अन्यथा (जीव) कर देती है इससे स्वतंत्र (स्वाधीन) है।।३२।।

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ।।३३।।

अब अन्यथा करने को ही वर्णन करते हैं कि वह माया कूटस्थ असंग आत्मा को जगत्‌रूप कर देती है और चिदाभासरूप से जीव ईश्वर को भी वह माया ही करती है।।३३।।

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।।
दुर्घटकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ।।३४।।

कदाचित् कहो कि असंग के अन्यथा करने से कूटस्थ न रहेगा सो ठीक नहीं कारण कि वह माया कूटस्थ में किसी प्रकार के भी उपद्रव को न करके जगत् आदि को करती है। कदाचित् कहो कि कूटस्थता के विघात किये बिना जगत् की रचना असंभव है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि दुर्घट कार्य को करनेवाली माया में संपूर्ण चमत्कार बन सकता है अन्यथा उसका मायात्व ही नष्ट हो जायगा। यह माया का

ही चमत्कार है कि कूटस्थ के बिना बिगाड़े जगत् को रच सके॥३४॥

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ॥
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥३५॥

अब माया के दुर्घट करने रूप स्वभाव को कहते हैं कि जैसे जल में द्रवत्व (बहना) अग्नि में उष्णता और पत्थर में कठिनता आदि स्वभाव से प्रतीत होते हैं, ऐसे ही माया स्वतः ही दुर्घट है अन्य से नहीं है॥३५॥

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ॥
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥३६॥

कदाचित् कहो कि माया को दुर्घट करना आश्चर्य का हेतु नहीं यह नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् में माया को चमत्कार का हेतु देखते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि जब तक जगत् उस माया को साक्षात् नहीं जानता तब तक ही मन में चमत्कार को धारण करता है और ज्ञान के पीछे तो यह माया है यह समझकर शांति को प्राप्त हो जाता है॥३६॥

प्रसरंति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ॥
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥३७॥

जगत् को सत्य कहनेवाला जो नैयायिक आदि वादी है उन पर ही ऐसे २ चोद्य (तर्क) चल सकते हैं और मायावादी के ऊपर ऐंसे तर्क न करने चाहिये, क्योंकि वह माया ही स्वयं चोद्यस्वरूप है॥३७॥

चोद्येऽपि यदि चोद्य स्यात् त्वच्चोद्ये चोद्यते मया
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥३८॥

मायावादी के प्रति तर्क करने में दोष कहते हैं कि यदि तर्क के योग्य में भी तर्क हो तो तेरे तर्क किये में हम तर्क करेंगे इससे तर्क का परिहार करे उसमें प्रतितर्क न करे॥३८॥

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ॥
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥३९॥

विस्मय (आश्चर्य) ही है एक शरीर जिसका ऐसी माया को चोद्यरूप होने से उसके परिहार (नाश) का बुद्धिमान् मनुष्य यत्न से अन्वेषण करे॥३९॥

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ॥
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

कदाचित् कहो कि माया के निश्चय होने पर उसका परिहार ढूंढने योग्य है प्रथम

तो माया के स्वरूप का निश्चय नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि मायात्व का निश्चय करना है तो निश्चय करो और जगत् में प्रसिद्ध माया का जो लक्षण है उसको ही यहां देख लो।।१४०।।

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।।
समायेतींद्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ।।४१।।

उसका यह लक्षण है कि जिसका निरूपण (कथन) न कर सके और जो स्पष्ट प्रकाशमान हो वही माया इन्द्रजाल आदि में लोकों ने मानी है।।४१।।

स्पष्ट भाति जगच्चेदमशक्य तन्निरूपणम् ।।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ।।४२।।

यह जगत् स्पष्ट दीखता है और उसके निरूपण को नहीं कर सकते इससे मायामय है इस बात को पक्षपात छोड़कर तू देख अर्थात् विचार कर।।४२।।

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पंडितैः ।।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ।।४३।।

अब जगत् के निरूपण का अशक्यत्व दिखाते हैं कि जब संपूर्ण पंडितजन जगत् के निरूपण (वर्णन) करने का प्रारंभ करते हैं तब उन पंडितों के आगे किसी न किसी कथा (अंश) में अज्ञान भासता है।।४३।।

देहेंद्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।।
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ।।४४।।

अब अशक्य निरूपण को ही उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि देह इन्द्रिय आदि भाव पदार्थों को माता पिता का वीर्य कैसे पैदा कर देता है और उस देह में चेतनता कैसे हो जांती है ऐसा कोई प्रश्न करे तो मेरे मत में क्या उत्तर है?।।४४।।

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ।।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वंध्यवीर्यतः ।।४५।।

स्वभाववादी शंका करता है कि यह वीर्य का ही स्वभाव है तो तुमने यह कैसे जाना कि यह वीर्य का स्वभाव है। कदाचित् कहो कि अन्वयव्यतिरेक से जानते हैं सो भी ठीक नहीं, क्योंकि वंध्या स्त्री में वीर्य को व्यर्थ होने से, जो अन्वयव्यतिरेक हैं वे नष्ट हो गये अर्थात् यह नियम नहीं घट सकता कि जहां २ वीर्य वहां २ देह आदि होते हैं।।४५।।

न जानामि किमप्येतदित्यते शरण तव ।।
अत एव महांतोऽस्य प्रवदतींद्रजालताम् ।।४६।।

इस प्रकार वारंवार प्रश्न करने में अंत में तेरा यही उत्तर होगा कि मैं नहीं जान सकता कि यह क्या है इसीसे महान् २ पुरुष इस जगत् को इन्द्रजालरूप वर्णन करते हैं।।४६।।

एतस्मात्किमिवेंद्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं रेतश्चेति हस्तमस्तंकपदप्रोद्भूतनानांकुरम्। पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं पश्यत्यत्ति श्रृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ।।४७।।

पूर्वोक्त माया के अनिर्वचनीय होने में सबकी संमति दिखाते हैं कि इससे परे और क्या इन्द्रजाल होगा कि गर्भ में है वास जिसका ऐसा वीर्य चेतन होता है और उसमें हाथ मस्तक चरण आदि अंकुर पैदा होते हैं और क्रम २ से वह बालक यौवन जरा (आदि) अनेक वेषों से युक्त होकर देखता है, खाता है, सुनता है, सूंघता है, गमन और आगमन करता है।।४७।।

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।।
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ।।४८।।

कुछ केवल देह ही निर्वचनीय नहीं किन्तु वटवृक्ष आदि में भी ऐसे ही है, देह के समान वट और अन्न आदि में भी भले प्रकार विचार कर देखो कहां धान है और कहां वृक्ष है इससे यही निश्चय कर लिया कि माया है।।४८।।

निरूक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खंडनादौ सुशिक्षिताः ।।४९।।

कदाचित् कहो कि हम निरूपण नहीं कर सकते तो उदयनाचार्य आदि निरूपण कर सकते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि जो तार्किक जो तार्किक आदि निरुक्ति (कथन) में अभिमान करते हैं अर्थात् माया को सत्य कहते हैं उनको श्रीहर्षमिश्र आदिकों ने खंडन आदि ग्रंथों में भले प्रकार शिक्षा की है अर्थात् उनका खंडन किया है।।४९।।

अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।।
अचिंत्यरचनारूपं मनसाऽपि जगत्खलु ।।५०।।

अब उक्त अर्थ में सांप्रदायिकों के वाक्यों को कहते हैं कि जो भाव (पदार्थ) चिंता करने के योग्य हैं उनको तर्क से युक्त न करे, क्योंकि यह जगत् मन से भी

अचिंत्य रचना रूप निश्चय से है।।५०।।

अचिंत्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ।।५१।।

कदाचित् कहो कि जगत् की अचिंत्य रचना हो इससे माया के विषय क्या आया सो ठीक नहीं क्योंकि अचिंत्य रचना की शक्ति का बीज (कारण) माया है यह निश्चय करो और वह अचिंत्य रचना का मायारूप बीज सुषुप्ति में जाना गया है।।५१।।

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ।।५२।।

अब जैसे माया जगत् का बीज है उसी रीति को कहते हैं कि सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्नरूप संपूर्ण जगत् इस प्रकार लीन (छिपा) रहता है जैसे बीज में वृक्ष, जिससे जगत् का कारण माया है इससे सम्पूर्ण जगत् की वासना माया में स्थित है।।५२।।

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिंबति ।।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ।।५३।।

जो बुद्धि की वासना हैं उनमें चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ता है और वह मेघ के आकाश के समान अस्पष्ट चिदाभास है और अनुपान से प्रतीत होता है।।५३।।

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ।।५४।।

कदाचित् कहो कि मेघ के अंश जल में आकाश का यद्यपि अस्पष्ट प्रतिबिंब हो परन्तु उसको सजातीय जो घट का जल है उसमें तो आकाश का प्रतिबिंब स्पष्ट है इससे मेघ के आकाश का अनुमान घट सकता है यहां कोई वैसा दृष्टान्त है नहीं इससे कैसे अनुमान हो सकता है सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां भी वैसा ही दृष्टान्त हो सकता है कि आभाससहित जो माया का बीज है वही बुद्धिरूप से जमता है अर्थात् चिदाभास विशिष्ट अज्ञान ही बुद्धिरूप से परिमाण को प्राप्त हुआ स्पष्ट चिदाभास के तुल्य हो जाता है, इससे यहां यह अनुमान है कि विषाद का आस्पद बुद्धि की वासना चेतन के प्रतिबिंबवाली है, बुद्धि की अवस्था होने से बुद्धि का वृत्ति के समान, भावार्थ यह है कि आभाससहित उसका बीज बुद्धिरूप से जमता है इससे बुद्धि में चिदाभास स्पष्टरूप से भासता है।।५४।।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ॥
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥५५॥

इस प्रकार श्रुति में कही जीव ईश्वर की मायिकता का उपसंहार (समाप्ति) करते हैं कि माया आभास (प्रतिबिंब) से जीव ईश्वर को करती है यह वेद में सुना है और वे दोनों मेघाकाश और जलाकाश के समान भले प्रकार व्यवस्थित हैं॥५५॥

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ॥
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥५६॥

अब ईश्वर को मेघाकाश की समानता को स्पष्ट करते हैं कि मेघ के समान माया बढती है और मेघ में स्थित तुषार के समान बुद्धि की वासना है और तुषार में स्थित आकाश के समान चिदाभास है॥५६॥

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ॥
अंतर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥५७॥

अब मायाप्रतिबिंब के ईश्वर होने में श्रुतिप्रमाण कहते हैं कि माया के अधीन चिदाभास है और मायावी महेश्वर सुना है और वहीं अंतर्यामी सर्वज्ञ है और वही जगत् का योनि (कारण) है॥५७॥

सौषुप्तमानंदमयं प्रक्रम्यैव श्रुतिर्जगौ ॥
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥५८॥

अब बुद्धि की वासना में प्रतिबिंब ईश्वर होना श्रुति से सिद्ध है यह वर्णन करनेवाली श्रुति को कहते हैं कि सुषुप्ति के समय एकरूप प्रज्ञानघन ही है यह श्रुति प्रारंभ से धीवासना में प्रतिबिंबित आनंदमय को ईश्वर कहती है, यह सर्वेश्वर है और सोई यह वेदोक्त ईश्वर है॥५८॥

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ॥
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥५९॥

कदाचित् कहो कि वह आनन्दमय सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो ठीक नहीं उस आनन्दमय की सर्वज्ञता में विवाद न करना चाहिये क्योंकि श्रुति से सिद्ध जो अर्थ वह तर्क के अयोग्य है और माया में सब संभव है॥५९॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ॥
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥६०॥

कदाचित् कहो कि युक्ति के अभाव में श्रुति भी पत्थर के तरने के वाक्य के तुल्य

अर्थवाद हो जायगी सो ठीक नहीं, क्योंकि यह सर्वज्ञ जिस जाग्रत् आदि विश्व को रचता है उसको अन्यथा करने की कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है इससे यह वेद में सर्वेश्वर कहा है॥६०॥

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ॥
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥६१॥

अब ईश्वर कीं सर्वज्ञता का वर्णन करते हैं कि उस सुषुप्तिकाल के अज्ञानरूप कारण में कार्यरूप जो संपूर्ण प्राणियों की बुद्धि उनकी वासना स्थित हैं अर्थात् वसती है उन वासनाओं ने संपूर्ण जगत् का विषय कर रखा है इससे संपूर्ण बुद्धियों की वासनावाले अज्ञानरूप उपाधि से यह सर्वज्ञ कहा है॥६१॥

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते ॥
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥६२॥

कदाचितख कहो कि सर्वज्ञ है तो जाना क्यों नहीं जाता सो ठीक नहीं क्योंकि उसकी उपाधिरूप वासनाओं को परोक्ष होने से उसकी सर्वज्ञता नहीं दीखती और संपूर्ण बुद्धियों में वर्तमान जो सर्वज्ञत्व है उसका वासनाओं में भी अनुमान करो। वह अनुमान यह है कि संपूर्ण बुद्धियों को सर्वज्ञत्व अपनी कारणरूप वासना से आये सर्वज्ञत्वपूर्वक होने योग्य है कार्य में वर्तमान धर्म विशेष होने से पट में वर्तमान रूप आदि के समान। भावार्थ यह है कि वासनाओं के प्रकट न होने से सर्वज्ञता नहीं दीखती किन्तु संपूर्ण बुद्धियों में सर्वज्ञता को देखकर वासनाओं में अनुमान करो॥६२॥

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ॥
अंतस्तिष्ठन् यमयति तेनांतर्यामिता व्रजेत् ॥६३॥

अब सर्वज्ञ को कहकर अंतर्यामि रूप वर्णन करते हैं कि विज्ञानमय कोश है मुख्य जिनमें ऐसे कोशों में और पृथिवी आदि में अंतः (भीतर) टिककर जो सबको यमन (शिक्षा) देता है इससे वह अंतर्यामी कहाता है॥६३॥

बुद्धौ तिष्ठन्नांतरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ॥
धियमंतर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥६४॥

अब इस अर्थ में संपूर्ण अंतर्यामी ब्राह्मण का प्रमाण देते हैं कि जो बुद्धि में टिककर बुद्धि के भी अंतर (भीतर) है और जो बुद्धि से देखने के अयोग्य और बुद्धि जिसकी शरीर है और बुद्धि के अंतःप्रविष्ट होकर जो बुद्धि का नियामक है वह अंतर्यामी परमेश्वर है यह वेद ने कहा है॥६४॥

तंतुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।।
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः ।।६५।।

अब अंतर्यामी ब्राह्मण के सब पर्यायों के व्याख्यान में तो ग्रंथ के बढ़ने को भय है इससे व्याख्यान के सब पर्यायों में संचार की सिद्धि के लिये जो सब भूतों में टिककर सबका अंतर है इस पर्याय की व्याख्या करते हुए जो सब भूतों में टिककर इसका अर्थ दृष्टांत से कहते हैं कि जैसे उपादानरूप से तंतु (सूत) वस्त्र में स्थित है इसी प्रकार सबका उपादानरूप होने से अंतर्यामी ईश्वर भी सर्वत्र स्थित है।।६५।।

पटादप्यांतरस्तंतुस्तंतोरप्यंशुरातरः ।।
आंतरत्वस्य विश्रांतिर्यत्रासावनुमीयताम् ।।६६।।

कदाचित् कहो कि उपादानरूप से यह सर्वत्र स्थित है तो सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि पट से आंतर तंतु है और तंतु से भी आंतर उसके अंशु (रोम) है इसीसे आंतर जहां विश्रांति है वहां यह है ऐसा अनुमान करो।।६६।।

द्वित्रांतरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमांतरः ।।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ।।६७।।

कदाचित् कहो कि सबका आंतर आत्मा को मानोगे तो अंशु आदि के समान वह दीखना चाहिये सो ठीक नहीं, क्योंकि दो तीन श्रेणियों के दर्शन में भी यह आंतर है अर्थात् बाह्य नहीं है और इसका निर्णय श्रुति और युक्तियों से ही होता है उनमें श्रुति तो पूर्वोक्त है और युक्ति यह है कि चेतनरूप अधिष्ठान के बिना अचेतन की प्रवृत्ति असंभव है।।६७।।

पटरूपेण संस्थानात् पटस्तंतोर्वपुर्यथा ।।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ।।६८।।

अब जिसके संपूर्ण भूत शरीर हैं इसका अर्थ कहते हैं कि वस्त्ररूप से स्थित होने से जैसे पट तंतु का रूप है इसी प्रकार संपूर्ण रूप से स्थित होने से सब इस आत्मा के शरीर हैं अर्थात् उस तंतु की स्थिति जैसे पटरूप से है ऐसे ही आत्मा की स्थिति सब रूप से है।।६८।।

तंतोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ।।
अवश्यमेव भवति न स्वातंत्र्यं पटे मनाक् ।।६९।।

अब जो सब भूतों के आंतर होकर नियामक है इसका तात्पर्य दृष्टांतसहित दो श्लोकों से कहते हैं कि जैसे तंतु के संकोच विस्तार चलन आदि में पट अवश्य

विद्यमान और किंचित् भी स्वतंत्रता पट में नहीं है।।६९।।

तथांतर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ।।७०।।

जैसे तंतु के संकोच आदि से पटका संकोच आदि होता है इसी प्रकार पृथ्वी आदि में उपादानरूप से स्थित अंतर्यामी जिस २ प्रकार की वासना जैसे २ घट आदिरूप कार्यभाव को प्राप्त होता है उसी २ रूप से वह कार्य का समूह होता है इसमें संशय नहीं है।।७०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।।
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।।७१।।

अब अंतर्यामी की बोधक श्रुति को कहकर स्मृति को कहते हैं कि 'हे अर्जुन, ईश्वर सब भूतों के हृदयरूप देश में यंत्र पर टिके हुए भूतों को माया से भ्रमाते हुए टिकते हैं'।।७१।।

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ।।७२।।

अब 'सर्वभूतानाम्' इस पद के अर्थ को कहते हैं कि विज्ञानमय (रूप) वे संपूर्ण भूत हृदय में स्थित हैं और उनका उपादानभूत ईश्वर वहां विकार को प्राप्त होता है अर्थात् हृदय में स्थित अंतर्यामी का विज्ञानमयरूपसे परिमाण हो जाता है इससे वे भूत हृदय में स्थित हैं।।७२।।

देहादि पंजरं यंत्रं तदारोहोऽभिमानिता ।।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ।।७३।।

अब यंत्ररूढ शब्द का अर्थ लिखते हैं कि देह आदि पंजर को यंत्र कहते हैं और उस देह को अभिमान को आरोह (बैठना) कहते हैं और शास्त्र से विहितों में जो निषिद्ध हैं उनमें प्रवृत्ति को भ्रमण कहते हैं।।७३।।

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ।।७४।।

विज्ञानमयरूप से उस आत्मा की प्रवृत्ति के स्वरूप से ईश्वर अपनी शक्तिरूप माया से विकार को प्राप्त होता है उसको ही भ्रामण (भ्रमण कराना) कहते हैं।।७४।।

अंतर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ।।७५।।

अंतः स्थित होकर जो नियमन करे यह कहने से श्रुति में यही अर्थ अंतर्यामी पद का सुना है, यही न्याय अपनी बुद्धि से पृथिवी आदि सब पर्यायों में युक्त करना।।७५।।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।।
केनापि देवेन हृदि स्थितेनयथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।।७६।।

अब संपूर्ण प्रवृत्ति ईश्वर के अधीन है इसमें अन्य वाक्य का भी प्रमाण देते हैं कि 'मैं धर्म को जानता हूं परन्तु मेरी प्रवृत्ति धर्म में नहीं है और मैं अधर्म को जानता हूं परन्तु मेरी अधर्म से निवृत्ति नहीं है इससे हृदय में स्थित किसी देव ने जैसे नियुक्त मुझे कर दिया है उसी प्रकार मैं करता हूं'।।७६।।

नार्थः पुरुषकारेणेत्येव मा शंक्यतां यतः ।।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ।।७७।।

कदाचित् कहो कि प्रवृत्ति को परमेश्वर के अधीन मानने से मनुष्य का प्रयत्न वृथा हो जायगा सो ठीक नहीं कि पुरुषार्थ निरर्थक है यह शंका न करनी क्योंकि पुरुषार्थरूप से भी ईश्वर ही विवर्तरूप को प्राप्त होता है अर्थात् पुरुषार्थ भी ईश्वररूप है और राज्य के सर्प के समान अतात्त्विक (झूठे) अन्यथाभाव को विवर्त कहते हैं।।७७।।

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।।
तथाऽपिशस्य बोधेन स्वात्मासंगत्वधीजनिः ।।७८।।

कदाचित् कहो कि पुरुष के प्रयत्न को भी ईश्वर मानोगे तो नियामक और भ्रामण शब्दों से कही जो अंतर्यामी की प्रेरणा वह वृथा हो जायगी सो ठीक नहीं, क्योंकि पुरुषार्थरूप से स्थिति के ज्ञान से अंतर्यामी की प्रवृत्ति (प्रेरणा) का कारण निषेध मत करो क्योंकि ईश्वर को जो अपने असंग होने का ज्ञान उससे ईश्वर में प्रेरणा बन सकती है।।७८।।

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ।।७९।।

अब आत्मा की असंगता के ज्ञान का फल कहते हैं कि श्रुति और स्मृतियों ने असंग के ज्ञान से ही मुक्ति कही है और यह भी ईश्वर ने ही कहा है कि श्रुति स्मृति ये दोनों मेरी ही आज्ञा हैं इसीसे श्रति का कथन लंघन करने को आरोग्य

है।।७९।।

आज्ञया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम् ।।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादंतर्यामित्वतः पृथक् ।।८०।।

श्रुति में भी ईश्वर को भीतिका हेतु कहा है कि इस ईश्वर के भय से पवन चलता है इस श्रुति में आज्ञा से ईश्वर को भय का कारण कहा है इससे सर्वेश्वर अंतर्यामी से पृथक् (भिन्न) है।।८०।।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।।
अंतःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ।।८१।।

इस अक्षर (अविनाशी) ईश्वर के शासन में जगत् है यह श्रुति है और यह परमेश्वर जनों के अंतःप्रविष्ट होकर सबका शिक्षक है इन दो श्रुतियों से बाहर और भीतर ईश्वर को ही नियामक कहा है।।८१।।

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ।।८२।।

अब यह ईश्वर जगत् का योनि है इस श्रुति का अर्थ कहते हैं कि उत्पत्ति और प्रलय का कर्त्ता होने से यह जगत् का योनि (कारण) है और यहां उत्पत्ति और प्रलय शब्द से आविर्भाव (प्रकटना) और तिरोभाव (छिपना) समझने।।८२।।

आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् ।।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ।।८३।।

यह परमेश्वर लय को प्राप्त हुए संपूर्ण जगत् का प्रकार प्राणियों के कर्मवश आविर्भाव करता है जैसे प्रसारित (फैलाया) पट अपने चित्रामों को प्रगट करता है।।८३।।

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।।
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ।।८४।।

अब प्रलय का हेतु दिखाते है कि फिर इस प्रकार संपूर्ण जगत् का प्राणियों के कर्माधीन अपने में तिरोभाव (छिपाना) करता है जैसे संकोच करने से पट अपने चित्रों को छिपा लेता है।।८४।।

रात्रिघस्त्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।।
तूष्णीं भावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ।।८५।।

अब आर्विभाव तिरोभाव के अन्य भी दृष्टांतों को कहते हैं कि जैसे रात्रि दिन सोना जागरण उन्मीलन (खुलना) निमीलन (मिचना) और तूष्णींभाव और

मनोराज्य हैं ऐसे ही सृष्टि और प्रलय ये दोनों भी होते हैं।।८५।।

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ।।
आरंभपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ।।८६।।

कदाचित् कहा कि ईश्वर जगत् का योनि आरंभ (रचना) करने से वा जगत् आकार परिणाम होने से है सो ठीक नहीं क्योंकि आविर्भाव तिरोभाव शक्तियों का आश्रय होने से आरम्भ परिणाम आदि तर्कों का यहां सम्भव नहीं है क्योंकि अद्वितीय आरंभक नहीं हो सकता और निरवयव का परिणाम नहीं हो सकता।।८६।।

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ।।८७।।

कदाचित् कहो कि एक ईश्वर चेतन अचेतनों का उपादान कैसे होगा सो ठीक नही क्योंकि जाड्य अंश से अर्थात् उपाधि की प्रधानता से अचेतनों का उपादान और चिदाभास अर्थात् चित् प्राधान्य (मुख्यता) से जीवों का उपादान कारण होता है।।८७।।

तमः प्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ।।८८।।
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ।।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ।।८९।।

मायावी ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि सुरेश्वराचार्यों ने परमात्मा को ही जगत् का कारण कहा है यह शंका दो श्लोकों से करते हैं कि तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी मायारूप उपाधिवाला परमेश्वर शरीर आदिकों के भावनाख्य संस्कार ज्ञान देवयान आदि और धर्म अधर्मरूप कर्म इनसे चित्प्रधान भी वह चिदात्मारूप जीवों का कारण होता है इस पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा का ही जड और चेतन की हेतुता कही है ईश्वर को नहीं ऐसी शंका के उत्तर को सुनो।।८८।।८९।।

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ।।९०।।

जैसे त्वंपद के अर्थ में अन्योन्याध्यास कहा है इसी प्रकार तत्पद के अर्थ में भी अधिष्ठान और आरोप का अन्योन्य अध्यास इष्ट है कि जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास कहा है इसी प्रकार ईश्वर और ब्रह्म के भी अन्योन्याध्यास

को सिद्ध करके सुरेश्वर आचार्य पूर्वोक्त शंका का उत्तर कहते हैं।।९०।।

सत्य ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ।।
खवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ।।९१।।

अब जिस श्रुति के बल से सुरेश्वराचार्यों ने ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास सिद्ध किया उस श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं कि सत्य ज्ञान अनंत जो ब्रह्म है उससे ही आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी ओषधि अन्न देह इन सबका उदय हुआ यह श्रुति है।।९१।।

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ।।९२।।

कदाचित् कहो कि इस श्रुति से अन्योन्याध्यास कैसे जाना गया सो ठीक नहीं क्योंकि उस श्रुति में सत्य आदिरूप निर्गुण ब्रह्म को जगत् की कारणता कही है और जगत् के कारण मायाधीन चिदाभास को खण्डन (बाध) पर्यंत प्रतीत होता जो सत्यत्व है वह अन्योन्याध्यास के बिना नहीं घट सकता इससे अन्योन्याध्यास इष्ट है। भावार्थ यह है कि आपातदृष्टि से श्रुति से ब्रह्म को हेतुता कही है और हेतु सत्य है इससे अन्योन्याध्यास इष्ट है।।९२।।

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रांत्यैकतां गतः ।।९३।।

अब अन्योन्याध्यास से सिद्ध ईश्वर ब्रह्म की एकता को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं कि यह अन्योन्याध्यास अन्न से लिपा वस्त्र जैसे घुटकर ऐक्य को प्राप्त होता है उसी प्रकार भ्रांति से एकता को प्राप्त होता जाता है।।९३।।

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यंत्यापातदर्शिनः ।।९४।।
उपक्रमादिभिर्लिंगैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।।
असंगं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ।।९५।।

अब भ्रांति से एकता में दृष्टांत को देकर भेद की अप्रतीति में अन्य दृष्टांत को दिखाते हैं कि जैसे पामर मनुष्य मेघाकाश और महाकाश और महाकाश के पृथक् २ नहीं जान सकते इसी प्रकार आपातदर्शी मनुष्य ब्रह्म और ईश की एकता को देखते हैं अर्थात् भ्रांत मनुष्य दोनों का पृथक् २ विवेक नहीं कर सकते अब जिससे ब्रह्म और ईश के भेद का ज्ञान होता है उसका वर्णन करते हैं, उपक्रम* उपसंहार अभ्यास

१–उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ।।

अपूर्वफल अर्थवाद उपपत्ति इन छः लिंगों से तात्पर्य के विचार करने से असंग यह ब्रह्म मायावी महेश्वर होकर रचता है यह प्रतीत होता है॥९४॥९५॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ॥
यतो वाचो निवर्तंत इत्यसंगत्वनिर्णयः ॥९६॥

अब श्रुति में उपक्रम और उपसंहार से अर्थात् प्रारंभ और समाप्ति से कही जो ब्रह्म की असंगता उसको स्पष्ट करते हैं कि सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है उसका उपक्रम करके उपसंहार किया है कि जिस परमेश्वर को प्राप्त न होकर वाणी भी निवृत्ति को प्राप्त होती है, इससे निश्चय होता है कि ब्रह्म असंग है॥९६॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ॥
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥९७॥

अब जिस श्रुति से मायावी ईश्वर से जगत् की रचना प्रतीत होती है उस श्रुति को दिखाते हैं–मायावी ईश्वर विश्व को रचता है और अन्य (जीव) वहां माया से निरुद्ध हैं यह दूसरी श्रुति कहती है इससे ईश्वर रचता है॥९७॥

आनंदमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ॥
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिःस्वप्नो यथा भवेत् ॥९८॥

अब इस पूर्वोक्त प्रकार से आनंदमय ईश्वर को जगत् का कारण कहकर उससे जगत् की उत्पत्ति के प्रकार को कहते हैं कि यह आनंदमय ईश्वर एक मैं बहुत प्रकार का होऊं यह देखता हुआ उस देखने से ही इस प्रकार हिरण्यगर्भरूप हो गया जिस प्रकार शयन में स्वप्न होता है॥९८॥

क्रमेण युगपद्वाषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ॥
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥९९॥

कदाचित् कहो कि उस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु आदि हुए इस श्रुति में क्रम से और उसने इस सब जगत् को रचा इस श्रुति में एक बार इन दोनों मार्गों में कौन स्वीकार करने योग्य है और कौन त्यागने योग्य है किंतु श्रुति और युक्ति से दोनों ग्रहण करने योग्य है यह कहते हैं कि यह जगत् की सृष्टि दोनों प्रकार की श्रुतियों के मिलने से श्रुतियों के अनुसार क्रम से वा युगपत् सृष्टि इस प्रकार जाननी जैसे शयन में क्रम से और बिना क्रम से स्वप्न को देखते हैं॥९९॥

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ॥
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥१००॥

अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप का वर्णन करते हैं पट के विषे सूत्र के समान जगत् में व्यापक है आत्मा जिसका और सूक्ष्मदेहरूप और संपूर्ण लिंगशरीरोपाधि जीवों का घनात्मक अर्थात् समष्टिरूप वह ईश्वर सबके अहंमान को धारण करने से क्रिया ज्ञान आदि शक्तिवाला होता है।।१००।।

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मंदे तमस्ययम् ।।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ।।१।।

अब हिरण्यगर्भ अवस्था में जगत् की प्रतीति में दृष्टांत को कहते हैं कि जैसा प्रत्यूष (प्रातःकाल) और प्रदोष के समय मंद मंद अंधकार में डूबा हुआ यह जगत् स्पष्ट नहीं दीखता इसी प्रकार हिरण्यगर्भ अवस्था से प्रथम पश्चात् भी यह जगत् स्पष्ट नहीं दीखता अर्थात् हिरण्यगर्भ अवस्था में स्पष्ट दीखता है।।१।।

सर्वतो लांछितो मष्या यथा स्याद्धट्टितः पटः ।।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लांछितम् ।।२।।

इस प्रकार लोकसिद्धि दृष्टांत को कहकर 'यथा धौत' इस पूर्वोक्त श्लोक में कहे लांछित पद का दृष्टांत देते हैं कि जैसे घुटा हुआ वस्त्र मसीसे संपूर्ण अवयवों में लांछित होता है इसी प्रकार ईश्वर का शरीर भी अपंचीकृत भूतों के कार्य जो लिंग शरीर उनसे लांछित होता है।।२।।

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽकुरितं यथा ।।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदंकुरः ।।३।।

अब बुद्धि में स्थिरता के लिये अन्य दृष्टांत को कहते हैं जैसे सस्य (खेती) वा शाकों का समूह सर्वतः अंकुरित होता है अर्थात् उसके सर्वत्र अंकुर फूटते हैं, इसी प्रकार कोमल और पेलव (सुंदर) यह जगत्रूप अंकुर है।।३।।

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।।
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ।।४।।

इस प्रकार सूत्रात्मकशरीर को दिखाकर उसकी ही अवस्था का भेद जो पंचीकृत भूतों का कार्य उपाधिवाले विराट्रूप का तीन दृष्टांतो से स्पष्ट दिखाते हैं कि जैसे सूर्योदय के अनंतर प्रकाशित जगत् और अनेक वर्णों से पूर्ण किया वस्त्र और फल आया हुआ सस्य ये तीनों स्पष्ट प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार स्पष्ट जो ईश्वर का शरीर उसको ही विराट कहते हैं।।४।।

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।।
धात्रादिस्तंबपर्यन्तानेतस्यावयवान्विदुः ।।५।।

अब उसकी सत्ता में प्रमाण को कहते हैं–विश्वरूपाध्याय में और पौरुष सूक्त में यह वर्णन किया है कि ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यंत इस परमेश्वर के अवयवों का ही जानते हैं।।५।।

ईशसूत्रविराड्वेधो विष्णुरुद्रेंद्रवह्नयः ।।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ।।६।।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ।।७।।
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ।।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ।।८।।

ईश, सूत्र, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वह्नि, विघ्न, भैरव, मैराल, मारिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गौ, अश्व, मृग, पक्षी, पीपल, वट, आम्र आदि यव व्रीहि, तृण आदि, जल, पाषाण, मिट्टी, काष्ठ, वास्या, कुद्दालक (कुल्हाडी) आदि ये संपूर्ण ईश्वर ही हैं इससे पूजने से फलदायी होते हैं।।६।।७।।८।।

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथातथा ।।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।।९।।

उस परमेश्वर की जिस जिस प्रकार से उपासना करते हैं उसी २ प्रकार से फल होता है और फल की उत्तमता और न्यूनता पूज्य और पूजन के अनुसार से होता है अर्थात् सात्विकों का उत्तम फल और तमोगुणियों का अधम फल होता है।।९।।

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।।
स्वप्रबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ।।१०।।

कदाचित् कहो कि संसार के फल को सिद्धि इस प्रकार हो तो मुक्ति किसकी उपासना से होती है? इस आशंका के उत्तर में ज्ञान के बिना किसी से नहीं होती इसका वर्णन करते हैं कि जैसे अपने जागरण बिना अपनी निद्रा से कल्पना किये स्वप्न की निवृत्ति नहीं होती इसी प्रकार ब्रह्मतत्व के ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती अर्थात् ब्रह्म के अज्ञान से कल्पना किये संसार की निवृत्ति नहीं होती।।१०।।

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ।।११।।

कदाचित् कहो कि तुमने जो द्वैतानिवृत्तिरूप मुक्ति को स्वप्न के दृष्टांत से तत्त्वबोध से साध्य (उत्पन्न) कहा सो ठीक नहीं, क्योंकि निवृत्ति के योग्य द्वैत, स्वप्न

के तुल्य नहीं हो सकता इस आशंका के उत्तर में अन्यथा ज्ञानरूप होने से स्वप्न के तुल्य जगत् को जो श्रुति में कहा है उसका वर्णन करते हैं कि ईश्वर जीव आदिरूपों से जो चेतन अचेतन आदि जगत् है यह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के विषे स्वप्न है।।११।।

अनंदमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।।१२।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म में अभिन्न ईश्वर और जीव को जगत् के अन्तःपाती कैसे कहा? इस आशंका के उत्तर में मायाकल्पित होने से जगत् के अन्तःपातित्व का वर्णन करते हैं कि ईश्वर और जीव क्रम से जो आनंदमय और विज्ञानमय हैं वे दोनों माया से कल्पित हैं और उन दोनों ने संपूर्ण जगत् की कल्पना की है।।१२।।

ईक्षणादिप्रवेशान्त सृष्टिरीशेन कल्पिता ।।
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ।।१३।।

अब उन दोनों में जिसने जिसकी कल्पना की उसका वर्णन करते हैं–'उसने देखा कि मैं लोकों का रचूँ इसी रीति से जगत् में प्रवेश को प्राप्त हुआ, इन श्रुतियों से ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत जो सृष्टि है वह ईश्वर से कल्पित है और उसकी जाग्रत् आदि तीन अवस्था हैं वह उस विस्तारित ब्रह्म को देखता हुआ इन श्रुतियों से जाग्रत् आदि मोक्ष पर्यंत जो संसार वह जीव से कल्पित है अर्थात् उसका कर्ता जीव है। भावार्थ यह है कि ईक्षण से प्रवेशपर्यंत सृष्टि ईश्वरकल्पित है और जाग्रत् आदि मोक्षपर्यंत संसार जीव से (का) कल्पित है।।१३।।

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसंगं तन्न जानते ।।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ।।१४।।

कदाचित् कहो कि परमार्थ से ब्रह्म ही सत्य है तो जीव और ईश्वर के विषे वादी विवाद को क्यों करते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि विवादी मनुष्य अद्वितीय और असंग जो ब्रह्मतत्त्व उसको नहीं जानते इससे मायिक जीव और ईश्वर के रूप में वृथा कलह करते हैं।।१४।।

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् ।।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रांतेर्विवदामहे ।।१५।।

कदाचित् कहो कि यदि जीव और ईश्वर के विवाद में अज्ञान मूल है तो उनको तत्त्वज्ञान से बोधन करना चाहिये? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि सदैव

तत्त्वज्ञान में निष्ठा है जिनकी ऐसे हम निश्चय से आनंद को प्राप्त होते हैं और अन्य भ्रान्त मनुष्यों का सोच (पश्चाताप) करते हैं परन्तु भ्रान्ति से उनके साथ वृथा श्रम समझकर वाद नहीं करते।।१५।।

तृणार्चकादियोगांता ईश्वरे भ्रांतिमाश्रिताः ।।
लोकायतादिसांख्यांता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ।।१६।।

अब ईश्वर और जीव के विषे भ्रान्त वादियों को पृथक् २ दिखाते हैं कि तृण के पूजक आदि योगपर्यंत जो हैं वे ईश्वर में भ्रांत हैं और लोकायत आदि सांख्यपर्यंत जो हैं वे जीव के विषे भ्रांत हैं।।१६।।

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानंति यदा तदा ।।
भ्रांता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।।१७।।

अब उनके भ्रांत होने में हेतु को कहते हैं कि जब वे सब अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानते तब वे संपूर्ण भ्रांत हैं, उनकी मुक्ति कहां और उनको इस लोक का सुख भी कहां अर्थात् ग्रहण किये पक्ष के प्रतिपादन (वर्णन) के आग्रह से उनके चित्त की विश्रांति नहीं होती इससे जगत् का सुख भी उनको नहीं होता।।१७।।

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ।।१८।।

कदाचित् कहो कि उनको ब्रह्मविद्या के अभाव होने पर भी इतर विद्या के होने से उनके उत्तम अधम भाव देखते हैं इससे उत्तमता का सुख उनको हो जायगा सो ठीक नहीं कि मुमुक्षु उस सुख का आदर नहीं करते हैं कि उनको उत्तम अधम भाव है तो रहो उससे क्या? क्योंकि स्वप्न में मिले राज्य और भिक्षा से बुद्ध (जगा) हुआ मनुष्य को किंचित् भी फल नहीं होता।।१८।।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ।।१९।।

जिससे जीव ईश्वर का विवाद मुक्ति का हेतु नहीं है इससे मुमुक्षु उसमें बुद्धि को न लगावें किंतु श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करें और उसको ही जानने का यत्न करे।।१९।।

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ।।२०।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्मतत्त्व के निश्चयार्थ उनका स्वरूप त्यागने की योग्यता की बुद्धि से जानना चाहिये तो उतने में ही बुद्धि की समाप्ति न करनी इसका वर्णन

करते हैं कि यदि वे जीव ईश्वर के विवाद पूर्वपक्षभाव से तत्त्वनिश्चय के कारण हों तो उनमें अवश (विवेकशून्य) होकर तू मत डूब अर्थात् उतने में ही अलंबुद्धि को न कर॥२०॥

असंगचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ॥
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥२१॥

अब सांख्य और योगशास्त्र में कहे जीव, ईश्वर, शुद्ध चिद्रूप हैं उनको आप भी मानते हो इससे वे पूर्वपक्ष नहीं हो सकते यह शंका करते हैं—सांख्यशास्त्र में असंग चिद्रूप विभु (व्यापक) जीव कहा है और असंग आदिरूप तत् त्वं पदों के जो शुद्ध अर्थ हैं वह ईश्वर योगशास्त्र में कहा है ऐसा कहोगे तो उत्तर को सुनो कि उनके मत में जीव-ईश्वर शुद्ध चिद्रूप भी हैं परन्तु वे उनका वास्तव भेद मानते हैं इससे वह हमारा सिद्धान्त नहीं है॥२१॥

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धांततां गतौ ॥
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥२२॥

सोई दिखाते है कि तत् और त्वं पद के दोनों अर्थ हमारे सिद्धांतभाव को प्राप्त नहीं हुए अर्थात् दोनों को भिन्न २ हम चिद्रूप नहीं मानते, कदाचित् कहो कि कूटस्थ ब्रह्म शब्दों से शुद्ध तत् त्वं पद के अर्थ भिन्न हैं यह तुमने भी निरूपण किये हैं सो ठीक नहीं कि अद्वैतबोधन के लिये वह भी कोई कक्षा (मार्ग) हमको इष्ट है, अर्थात् जगत् में प्रसिद्ध भेद की निवृत्ति के द्वारा अद्वैत के बोधनार्थ ही उनका भेद से अनुवाद किया है, कुछ उनके भेद का प्रतिपादन नहीं किया। भावार्थ यह है कि तत् त्वं पद के दोनों अर्थ ईश्वर हैं यह हमारा सिद्धांत नहीं है किंतु अद्वैतज्ञान के लिये ही वह भी एक मार्ग इष्ट है॥२२॥

अनादिमायया भ्रांता जीवेशौ सुविलक्षणौ ॥
मन्यंते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥२३॥

कदाचित् कहो कि तत् त्वं पद के अर्थों का शोधन क्यों किया सो ठीक नहीं क्योंकि अनादि माया से भ्रान्त मनुष्य अर्थात् विपरीत ज्ञानी जीव ईश्वर को भले प्रकार से विलक्षण मानते हैं अर्थात् जीवकों कर्ता भोक्ता आदि और ईश्वर को सर्वज्ञ आदि पारमार्थिक (सत्य) मानते हैं उनके खंडन के लिये ही तत् त्वं पद का शोधन है। यहां माया से अविद्या को लेते हैं॥२३॥

अत एवात्र दृष्टांतो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ॥
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२४॥

पदार्थ शोधन के दिखाने की इच्छा से उसके उपायरूप पूर्वोक्त दृष्टांत का स्मरण कराते हैं कि इसीसे इस विषय में योग्य दृष्टांत पहले भले प्रकार कह आये हैं कि घटका, आकाश महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश, इनके समान तत् त्वं पद के अर्थ का नाममात्र से ही भेद है॥२४॥

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ॥
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२५॥

अब पदार्थशोधनके प्रकार को कहते हैं कि जो जलाकाश और मेघाकाश हैं वे जल और मेघरूप उपाधि के अधीन हैं इससे अनित्य हैं और उन दोनों आकाशों का आधार जो घटाकाश महाकाश हैं वे भले प्रकार निर्मल हैं अर्थात् जल आदि उपाधि से रहित होने से केवल आकाशरूप हैं॥२५॥

एवमानंदविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ॥
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२६॥

अब पूर्वोक्त दृष्टांत को दार्ष्टांतिक में भी कहते हैं कि इसी प्रकार आनंदमय और विज्ञानमय दोनों मायाबुद्धि के वश हैं और उन दोनों के अधिष्ठान जो कूटस्थ और ब्रह्म हैं वे दोनों भले प्रकार निर्मल हैं अर्थात् मायोपाधिरहित हैं॥२६॥

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ॥
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२७॥

कदाचित् कहो कि पदार्थशोधन के मार्ग के उपयोगी होने से सांख्ययोग के दोनों मत भी मानने योग्य हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि इस कक्षा से उपयोग से सांख्य योग को मानते हो तो अन्नमय कक्षा (मार्ग) होने से देह को भी आत्मा का स्वीकार करो अर्थात् इस कक्षा के उपयोग में इतर शास्त्रों का भी हम मानते हैं उनमें वर्णन किये अनेक आत्मा हो जायँगे॥२७॥

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ॥
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदांतसंमतिः ॥२८॥

जिससे सांख्य, योग वेदांत के विरोधी हैं उसको कहते हैं कि आत्मा का भेद, जगत् की सत्यता, ईश्वर अन्य है इन तीनों को सांख्य, योग त्याग दें तब सांख्य, योग, वेदांत इन तीनों की संमति (एकता) है अर्थात् वे जीवभेद, जगत् सत्य, ईश्वर तटस्थ है यह मानते हैं हम एक अद्वैत ब्रह्म मानते हैं॥२८॥

जीवोऽसंगत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ॥
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥२९॥

कदाचित् कहो कि जीव को असंग जानने से ही मुक्ति हो जायगी अद्वैत का बोध निष्फल है सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि जीव असंगमात्र से ही कृतार्थ हो जायगा तो स्रक् चन्दन आदि को भी नित्य मानकर कृतार्थता हो जायगी अर्थात् अद्वैतज्ञान के बिना असंगता का होना भी असंभव है।।२९।।

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथाऽऽत्मनः ।।
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ।।३०।।

जैसे स्रग् आदि की नित्यता दुःख से संपादन (सिद्ध) करने योग्य है इसी प्रकार जब तक जगत् और ईश्वर ये दोनों जीवित हैं अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव से प्रतीत हैं तब तक आत्मा की असंगता भी संभावना करने के अयोग्य है।।३०।।

अवश्यं प्रकृतिः संगं पुरेवापादयेत्तथा ।।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ।।३१।।

अब असंभव को ही स्पष्ट करते हैं कि यदि प्रकृति पूर्व के समान संग को कर दे तो ईश्वर भी इस जीव का नियामक होगा ऐसा होने पर जीव का मोक्ष कहाँ?।।३१।।

अविवेककृतः संगो नियमश्चेति चेत्तदा ।।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ।।३२।।

संग और नियमन दोनों अविवेक के कार्य हैं जब विवेकज्ञान से अविवेक की निवृत्ति हो गयी फिर संग आदि की उत्पति कहाँ? इस शंका को करते हैं कि यदि संग और नियम अविवेक के किये हैं तो दुर्मति सांख्य को मायावाद बल से प्राप्त होगा अर्थात् अभावरूप अविवेक भाव कार्य का जनक नहीं हो सकता और अविवेक से अन्य घट आदि संग के हेतु हो नहीं सकते और तीसरे पक्ष में तो वह भावरूप अज्ञान स्वरूप ही है यह मायावाद का प्रसंग होगा।।३२।।

बंधमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ।।३३।।

अब यह शंका करते हैं कि बंधमोक्षव्यवस्था की अनुपपत्ति से आत्मा के भेद का मानना इष्ट है ऐसा मत कहो जिससे एक भी आत्मा में माया से बंधमोक्ष की व्यवस्था हो सकती है।।३३।।

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ।।३४।।

अब माया को व्यवस्था करने में जो दुर्घट करने का उसका स्वभाव उसको कहते

हैं कि क्या तू इस विरुद्ध को नहीं देखता है कि मैं दुर्घट को करती हूँ यह मेरा स्वभाव है कदाचित् कहो कि बंध को अविद्या से जन्य मानो तो मानो मोक्ष को तो वास्तविक मानना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि बंध और मोक्ष इन दोनों की वास्तवता (सत्यता) श्रुति अत्यन्त नहीं सहती अर्थात् नहीं मानती।।३४।।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।३५।।

मोक्ष आदि वास्तव नहीं इसमें श्रुति को पढ़ते हैं कि न किसी का नाश है और न किसी का देह का संबंधरूप उत्पत्ति है और न बद्ध है अर्थात् सुखी दुःखी है और न साधक है अर्थात् श्रवण आदि का कर्ता है और न चारों साधनों से युक्त कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है अर्थात् जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी हो वह भी नहीं, वस्तुतः देखा जाय तो ये सब नहीं हैं।।३५।।

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वतमेव हि ।।३६।।

अब मायामय जीव ईश्वर के भेद का उपसंहार (समाप्त) करते हैं कि माया है नाम जिसका ऐसी कामधेनु के जीव और ईश्वर दोनों वत्स हैं वे दोनों यथेच्छ द्वैत को पीवें, तत्त्व तो अद्वैत ही है अर्थात् सिद्धान्त तो अद्वैत है।।३६।।

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ।।३७।।

कदाचित् कहो कि जीव ईश्वरको मायिक होने से उनका भेद मिथ्या रहे परंतु कूटस्थ ब्रह्म तो पारमार्थिक है उनका भेद भी पारमार्थिक होगा। इस शंका के उत्तर में भेद की साधक जो विलक्षणता उसके अभाव को कहते हैं कि कूटस्थ और ब्रह्म का भेद भी नाममात्र के बिना नहीं है, क्योंकि घटाकाश और महाकाश दोनों कदाचित् भी पृथक् २ नहीं होते अर्थात् नामका ही भेद है अर्थ का नहीं।।३७।।

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्तदेवाद्य चोपरि ।।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ।।३८।।

अब पूर्वोक्त प्रकार से भेद को मिथ्या सिद्ध करने का फल कहते हैं कि हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत् सत् ही हुआ एक अद्वितीय ब्रह्म है इस श्रुति में जो सृष्टि से पहले अद्वैत सुना है वही अद्वैत अब है और वही आगे भी होगा और वही मुक्ति में है कदाचित् कहो कि सब भेद को क्यों मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण जनों को माया, भ्रम करात्ती है अर्थात् तत्त्वज्ञान से रहित होने से वृथा आग्रह संपूर्ण जन करते

हैं।।३८।।

ये वंदतीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्तेऽविद्ययाऽत्र किम् ।।
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रांतेरदर्शनात् ।।३९।।

कदाचित् कहो कि प्रपंच मायामय है और तत्त्व अद्वितीय ही है ऐसा जो कहते हैं वे भी संसारी दीखते हैं इससे तत्त्वज्ञान का क्या प्रयोजन है यह शंका करते हैं कि जो ऐसे कहते हैं उनको क्या अविद्या नहीं भ्रमाती सो ठीक नहीं क्योंकि उनको पहले के समान इसमें भ्रम नहीं देखते अर्थात् कर्म के वश किसी २ को व्यवहार के होने पर भी पूर्व के समान आग्रह नहीं रहता है इससे तत्त्व का ज्ञान सफल है।।३९।।

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ।।४०।।

ज्ञानियों को भ्रांति का अभाव दिखाने के लिये प्रथम अज्ञानियों के निश्चय को कहते हैं कि इस लोक का पुत्र, स्त्री आदिरूप और परलोक का स्वर्गसुख आदिरूप संपूर्ण संसार, वास्तव है इससे अद्वैत का न प्रकार है और न अद्वैत है यह अज्ञानियों का निश्चय है।।४०।।

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ।।४१।।

अब तत्त्व के निश्चय की उससे विलक्षणता को दिखाते हैं कि ज्ञानियों का निश्चय इससे विपरीत भले प्रकार दीखता है अर्थात् अद्वैत सत्य है और भासता है और संसार मिथ्या है यह निश्चय है और उसका फल यह है कि मनुष्य अपने २ निश्चय के अनुसार अपने को बद्ध और मुक्त मानता है अर्थात् अज्ञानी बद्ध मानता है और ज्ञानी मुक्त मानता है।।४१।।

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।।
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ।।४२।।

अद्वैत भासता है यह कहना शास्त्र से है अनुभव से नहीं इससे अद्वैत का निश्चय न होगा इस शंका को कहते हैं कि अद्वैत अपरोक्ष नहीं है ऐसा मत कहो क्योंकि उसका चित्रूप से भान है कदाचित् कहो कि अशेष (संपूर्ण) रूप से नहीं भासता सो भी नहीं क्योंकि द्वैत भी क्या संपूर्ण रूप से भासता है इससे घट स्फुरता है पट स्फुरता है यहां घट आदि में व्यापक स्फुरणरूप से अद्वैत भासता है, इससे अद्वैत अपरोक्ष है।।४२।।

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ॥
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥४३॥

इस प्रकार दोष की तुल्यता को कहकर परिहार की साम्यता को कहते हैं कि एक देशरूप से भान तो द्वैत अद्वैत के विषे निश्चय के समान है इससे उतने से ही द्वैत की सिद्धि के समान तेरे मत में अद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं होती?॥४३॥

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ॥
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥४४॥

अब पूर्ववादी अन्य प्रकार से अद्वैतसिद्धि की शंका करता है कि द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं और द्वैत अद्वैत का परस्पर विरोध है इससे द्वैत की प्रतीति होते संते यह अद्वैत नहीं हो सकेगा कदाचित् कहो कि द्वैत भी ऐसे ही अद्वैत का विरोधी है इससे अद्वैत के भान में द्वैत भी सिद्ध न होगा यह शंका तुल्य है इस शंका का उत्तर पूर्ववादी कहता है कि आपके मत में चिद्रूप की प्रतीति ही अद्वैत की प्रतीति है वह द्वैत की विरोधी नहीं हो सकती इससे दोनों की समानता ही नहीं है। भावार्थ यह है कि द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं वह अद्वैत द्वैत के भान में कैसे हो सकता है और चित् का भान तो इस द्वैत का अविरोधी है इससे दोनों की तुल्यता नहीं है॥४४॥

एवं तर्हि श्रृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ॥
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥४५॥

अब सिद्धांती पूर्व शंका का इस आशय से समाधान करता है कि प्रतीत होता भी द्वैत मिथ्यारूप है इससे वास्तव अद्वैत का नाश नहीं कर सकता अर्थात् पूर्वोक्त शंका करोगे तो उसंका उत्तर सुनो कि द्वैत मायामय होने से असत् है इसस परिशेष से वास्तव अद्वैत ही भासता है और प्राप्त हुई वस्तु के निषेध होने पर और अन्य में प्रसंग के अभाव से शेष रहे में जो निश्चय उसे परिशेष कहते हैं॥४५॥

अचिंत्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ॥
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥४६॥

अब परिशेष के प्रकार को कहते हैं कि चिंता करने के अयोग्य है रचना जिसकी ऐसा जगत् माया (मिथ्या) ही है इस प्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत को मिथ्या निश्चय करके वास्तव (सत्य) अद्वैत का परिशेष करो॥४६॥

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ॥
परिशीलय को वाऽत्र प्रयासस्तेन ते वद ॥४७॥

कदाचित् कहो अद्वैत का निश्चय होने पर भी पूर्व वासना से पुनः २ द्वैत सच्चा प्रतीत होता है सो ठीक नहीं, क्योंकि फिर भी द्वैत सत्य दीखता है तो तू फिर भी उसके मिथ्यात्व को बारंबार विचार कर, क्योंकि बारंबार उपदेश को देखते हैं इससे श्रवण मनन आदि की आवृत्ति करे इस सूत्र से चौथे अध्याय में व्यास ने आवृत्ति कही है इस विचार करने में तेरा कौन प्रयास है यह कहो।।४७।।

कियंतं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ।।४८।।

कितने काल तक विचारना चाहिये ऐसा कहोगे तो यह खेद द्वैत में इष्ट है और अद्वैत में तो यह खेद युक्त नहीं क्योंकि उसमें सम्पूर्ण अनर्थों का निवारण होता है और अपरोक्षज्ञान के होने पर विचार की समाप्ति कही है।।४८।।

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ।।४९।।

कदाचित् कहो कि अद्वैत आत्मा के अपरोक्षज्ञाता भी मुझमें क्षुधा तृषा आदि दीखते हैं इससे दीखते हुए अनर्थ का निवर्तक आत्मज्ञान नहीं हो सकता इस शंका को करते हैं कि पहले के समान मुझमें क्षुधा पिपासा आदि दीखते हैं ऐसा कहोगे तो मत् शब्द के अर्थ अहंकार में दीखते हैं, वा मत् शब्द से उपलक्षित चिदात्मा में, इस विकल्प में प्रथम पक्ष को तो स्वीकार करते हैं कि मत् शब्द से वाच्य अहंकार में दीखता है तो यह कौन कहता है और चिदात्मा तो क्षुधा आदि का अविषय है और असंग है इससे दूसरा पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं। भावार्थ यह है कि मुझे ज्ञानी में भी क्षुधा तृषा आदि पूर्वक समान दीखते हैं तो मत् (मुझमें) शब्द से वाच्य अहंकार में दीखे नहीं यह कौन कहता है।।४९।।

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।।
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ।।२५०।।

अब यह शंका करते हैं कि वस्तुतः उसकी प्रतीति न होने पर भी भ्रांति से उसकी प्रतीति हो जायगी कि यदि तादात्म्य के अध्यास से चित्रूप में भी क्षुधा आदि प्रसंग हो जायगा तो तू अध्यास को मत करे किंतु अनर्थ की निवृत्ति के लिये सदैव विवेक को कर।।२५०।।

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।।
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वाययितुं सदा ।।५१।।

यदि दृढ़ जो अनादि वासना उसके वश से पुनः अपि शीघ्र अध्यास का आगमन हो

जाय तो विवेक की ही आवृत्ति को दृष्ट वासना के लिये करे अन्य उपाय को न करे।।५१।।

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।।
अचिंत्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ।।५२।।

कदाचित् कहो कि विचार से द्वैत की मायारूपता युक्ति से ही सिद्ध हो जायगी, अनुभव का कुछ काम नहीं सो ठीक नहीं विवेक के होने पर युक्ति से ही द्वैत मिथ्या प्रतीत हो जायगा, ऐसा मत कहो क्योंकि अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्व का जो अनुभव है वह स्वसाक्षिक हैं अर्थात् उसका साक्षी आप ही है अन्य नहीं हो सकता।।५२।।

चिदप्यचिंत्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।।
चितिं सुचिंत्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ।।५३।।

कदाचित् कहो कि अचिंत्यरचनारूप जो मिथ्या का लक्षण कहा है वह चिदात्मा में भी घट सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि चेतन भी अचिंत्यरचनारूप है तो हो कारण प्राक् अभाव से युक्त होने पर जो अचिंत्यरचनारूप हो वह मिथ्या होता है, ऐसे लक्षण का कहनेवाला आचार्य आत्मा को भी अचिंत्यरचनारूप स्वीकार करता है। कदाचित् कहो कि ऐसा कहने पर अपसिद्धांत होगा सो भी नहीं कह सकते क्योंकि हम चिति को नित्य होने से भले प्रकार चिंता करने योग्य है रचना जिसकी, ऐसी नहीं मानते। भावार्थ यह है कि चित् भी अचिंत्यरचनारूप हो जायगा तो हो जिससे हम चित् को नित्य होने से सुचिंत्यरचनारूप नहीं कहते।।५३।।

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ।।५४।।

अब प्रागभाव के अनुभव के अभाव से चिति की नित्यता कहते हैं कि जिससे चिति का प्राक् अभाव नहीं देखा इससे चिति नित्य है यहां यह आकूत (गुप्त) है कि जो चिति का प्रागभाव मानता है उसको यह प्रश्न करना योग्य है कि चित्त् का प्रागभाव चित् जाने वा कोई अन्य जाने ? अन्य से तो नहीं कह सकते कि चित् से अन्य जड़ है वह जान ही नहीं सकता और चेतन जानता है, इस पक्ष में भी दूसरे चित् से वा उसी चित् से प्रागभाव जाना जाता है। दूसरे से तो नहीं कह सकते क्योंकि अद्वैतवाद में दूसरे चित् का ही अभाव है, दूसरा चित् भी मानो तो चित् है प्रतियोगी जिसका ऐसे अनुभावका ज्ञान चित् के ज्ञान बिना नहीं हो सकेगा और उस चित् को भी ग्राह्य (ज्ञान का विषय) मानोगे तो घट आदि के समान चित् भी अनित्य हो जायगा और चित् का प्रागभाव चित् से ही जाना जाता है, यह भी नहीं

कह सकते क्योंकि अपने अभाव को आप नहीं जान सकता, कदाचित् कहो कि द्वैतप्रमाता आदिरूप होने से उसके अभाव को वही नहीं जान सकता और उससे अन्य अनुभव का कर्ता है नहीं इससे चैतन्य के समान द्वैत भी नित्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि जाग्रत् आदि द्वैत का अभाव सुषुप्ति में साक्षी से जाना जाता है, श्रुति में भी कहा है कि तुम (अज्ञान) का साक्षी सबका साक्षी वह है। भावार्थ यह है कि चित्ति का प्रागभाव नहीं देखा इससे चिति नित्य है और द्वैत के प्रागभाव को तो चैतन्य जान सकता है।।५४।।

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।।
तथापि रचनाऽचिंत्या मिथ्या तेनेंद्रजालवत् ।।५५।।

अब प्रागभाव से युक्त होकर अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्व का लक्षण घटने से द्वैत की मिथ्यात्व सिद्धि को कहते हैं कि प्रागभाव से युक्त द्वैत यद्यपि घट आदि के समान रचा जाता है तथापि उसकी रचना अयुक्त है अर्थात् यह प्रतीत नहीं हो सकता कि इस प्रकार रचा जाता है इससे इंद्रजाल के प्रसार (फैलाव) के समान मिथ्या है रचने योग्य होने पर जिसकी रचना अचिंत्य हो उसको ही मिथ्या कहते हैं।।५५।।

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।।५६।।

चिति स्वप्रकाश होने से नित्य और अपरोक्ष होकर भासतीहै और चित् से भिन्न के मिथ्यात्व को भी वही चिति जानती है यह दिखाया इससे जो अद्वैत को अपरोक्ष नहीं मानता उसके मत में वदतोव्याघात दोष को कहते हैं कि चेतन प्रत्यक्ष है और उसके अन्य के मिथ्यात्व का सबको अनुभव है इससे जो अद्वैत अपरोक्ष नहीं यह कहते हैं उससे वचन में वदतोव्याघात कैसे नहीं अर्थात् व्याघाता आता है।।५६।।

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ।।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ।।५७।।

अब यह पूछते हैं कि इस प्रकार वेदांत के अर्थ को जानते हुए किन्हीं किन्हीं पुरुषों को विश्वास क्यों नहीं होता, इस प्रकार जानकर भी किंचित् मनुष्य किस प्रकार असंतुष्ट होते हैं यह कहो ? इस शंका का प्रतिवंदी उत्तर देते हैं कि ऊहापोह में चतुर भी चावार्क आदि के मत में देह आत्मा किससे है यह तुम कहो अर्थात् जैसे भले प्रकार विचार से शून्य होकर चार्वाक आदि देह को आत्मा मानते हैं इसी प्रकार यहां भी इस प्रकार का ज्ञान होने पर भी किसी किसी को संतोष नहीं होता।।५७।।

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ॥
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षंत विशेषतः ॥५८॥

अब प्रतिबंदी के मोचन (छूटना) की शंका करते हैं कि यदि चार्वाक आदि को बुद्धि के दोष से सम्यक् विचार नहीं तो यहां भी असंतुष्ट मनुष्य शास्त्रार्थ को विशेष करके नहीं देखते इससे ही उनको संतोष नहीं होता॥५८॥

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥५९॥

इस प्रकार तत्त्व को विचार कर विचार से उत्पन्न जो तत्त्वज्ञान उसका फल विचार करने के लिये उसकी बोधक श्रुति को कहते हैं कि जो इस मुमुक्षु के हृदय में स्थित अध्यास के मूल काम (इच्छा आदि) हैं वे जिस समय निवृत्त हो जाते हैं इसके अनंतर मर्त्य (देही) अमृत होता है और ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् अध्यास की निवृत्ति से कामादि निवृत्त हो जाते हैं, तभी ब्रह्मरूप हो जाता है, अध्यास के अभाव से मरण रहित होता है और इसी देह में सत्यरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है इस श्रुति से प्रतिपादित (कहा) जो फल काम निवृत्तिरूप है वह अनुभवसिद्ध नहीं किंतु शब्द से सिद्ध है यह शंका करते हैं कि यह श्रुति से सिद्ध फल नहीं देखा ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट ही है क्योंकि इसके अग्रिम श्रुति के तात्पर्य के देखने से वह दृष्ट हो सकता है भावार्थ यह है कि जब इसके हृदयमें स्थित संपूर्ण वासना निवृत्त हो जाती है यह श्रुति से सिद्ध फल नहीं देखा है ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट ही है॥५९॥

यदा सर्वे प्रभिंद्यंते हृदयग्रन्थयस्त्विवति ॥
कामा ग्रंथिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥२६०॥

पूर्वोक्त श्रुति के फल को स्पष्ट करने के लिये उस वाक्य को कहकर उसके अर्थ को कहते हैं कि जब हृदय में स्थित संपूर्ण कामना भेदन (नाश) को प्राप्त होती है तब ब्रह्मरूप हो जाता है, इस वाक्यशेष से कामनाओं को ग्रंथिस्वरूप कहा है अहंकार चिदात्मा के तादात्म्य अध्यास की निवृत्तिरूप वह अनुभव से सिद्ध है इससे अप्रत्यक्ष नहीं है॥२६०॥

अंहकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ॥
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥६१॥

कदाचित् कहो कि लोक में कामशब्द से इच्छा को कहते हैं कि वे ग्रंथि कैसे कही सो ठीक नहीं क्योंकि अहंकार चिदात्मा को अविवेक से एक करके "यह मेरे हो जायँ, यह मेरे हो जायँ" ये इच्छा जो हैं वे ही काम शब्द से कही जाती हैं अर्थात

अध्यास के मूल काम को इच्छा कहते हैं, इच्छामात्र को नहीं।।६१।।

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ।।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रंथिभेदतः ।।६२।।

कदाचित् कहो कि अध्यास से उत्पन्न काम ही त्यागने योग्य है तो उससे भिन्न काम स्वीकार करने योग्य होगा इस शंका का उत्तर कहते हैं कि बाधक के अभाव से वैसा काम तो स्वीकार के योग्य ही है कि चिदात्मा का मन में प्रवेश न करके अर्थात् तादात्म्य अध्यास का अन्तर्भाव न करके चाहे कोटियों वस्तुओं का अन्तर्भाव करता हुआ मनुष्य हो परंतु ग्रंथिभेद से बाध के योग्य नहीं होता।।६२।।

ग्रंथिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।।
बुद्ध्वा पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ।।६३।।

कदाचित् कहो कि अध्यास के अभाव में कामनाओं की उत्पत्ति ही न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्म के वश उत्पत्ति हो जाती है इसको कहते हैं कि ग्रंथिभेद के होने पर भी प्रारब्धदोष के इस प्रकार इच्छा हो सकती है जैसे जानकर भी पापों की अधिकता से तुझको संतोष नहीं होता।।६३।।

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ।।६४।।

अब अहंकार में गत इच्छा आदि अध्यास के बिना बाधक नहीं इस बात को दो दृष्टांतों से कहते हैं कि जैसे देह की व्याधि आदि से और वृक्ष आदि के जन्म नाश से अहंकार के साक्षी का बाध नहीं है इसी प्रकार अहंकार में वर्तमान जो इच्छा आदि हैं उनसे देहसंबंध रहित चित् रूप आत्मा में अध्यास की निवृत्ति होने पर बाध नहीं होता।।६४।।

ग्रंथिभेदात्पुराऽप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ।।
अयमेव ग्रंथिभेदस्तव तेन कृती भवान् ।।६५।।

कदाचित् कहो कि चिदात्मा को असंगरूप होने से ग्रंथिभेद से पहले भी कामना आदि का बाध न होगा यह ठीक नहीं कि ग्रंथिभेद से पूर्व भी ऐसे ही होगा क्योंकि ऐसे बोध को ही हम ग्रंथिभेद कहते हैं, इससे यह तुम्हारी शंका हमारे अनुकूल है, इस अभिप्राय से उत्तर देते हैं कि उस बोध को मत भूल, यदि वह बोध तुझे हो जायगा तो उससे ही तू कृतार्थ हो जायगा। भावार्थ यह है कि ग्रंथि भेद से पूर्व भी ऐसे ही काम आदि का अभाव होगा तो उसे मत भूलें यही ग्रंथिभेद आपको हो जायगा तो उससे ही आपकी कृतार्थता हो आयेगी।।६५।।

नैवं जानंति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रंथिर्न चापरः ।।
ग्रंथितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ।।६६।।

और ऐसे ज्ञान के अभाव को ही ग्रंथि कहते हैं यह दिखाते हैं कि मूढ़ इस ग्रंथिभेद को यदि नहीं जानते तो यह न जानना ही ग्रंथि है अन्य नहीं क्योंकि ग्रंथि और ग्रंथि के भेदमात्र से ही मूढ़ और ज्ञानी की विषमता (फरक) अर्थात् ग्रंथिमान् मूढ़ और ग्रंथिभेदवान् ज्ञानी होता है, यही दोनों की विलक्षणता है इससे ज्ञानी को इच्छा आदि के होने में कोई भी बाधक नहीं होता।।६६।।

प्रवृत्तो वा निवृत्तो वा देहेंद्रियमनोधियाम् ।।
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ।।६७।।

अब अन्य कारण के अभाव को प्रकट करते हैं कि देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि इनकी विषयों में प्रवृत्ति होने में वा निवृत्ति होनें में अज्ञानी और ज्ञानी के विषे कोई विषमता नहीं है किंतु वही विषमता है जो पूर्व कह आये हैं।।६७।।

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ।।
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ।।६८।।

अब पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टांत को कहते हैं कि व्रात्य (जिसका समय पर संस्कार न हुआ हो) और श्रोत्रिय (वेदपाठी) इन दोनों के मध्य में वेदपाठ न करने और वेदपाठ करने से ही भेद है। व्रात्य को वेदपाठ का अधिकार नहीं है और श्रोत्रिय को है वही न्याय यहां समझो।।६८।।

न द्वेष्टिं संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।
उदासीनवदासीन इति ग्रंथिभिदोच्यते ।।६९।।

अब ज्ञानी को ग्रंथिशून्य होने में गीता का प्रमाण कहते हैं कि ज्ञानी प्राप्त हुए दुःखों का द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुए सुखों की आकांक्षा नहीं करता किन्तु उदासीन के समान वर्तता है इसको ही ग्रंथिभेद कहते हैं।।६९।।

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ।।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ।।२७०।।

ज्ञानी की उदासीनता का विधायक यह वाक्य हैं कुछ ग्रंथिभेद में प्रमाण नहीं है, ऐसा कहोगे तो उदासीनवत् इस पद में वत् शब्द व्यर्थ हो जायगा, कदाचित् कहो कि ज्ञानी के देह आदि कार्य करने को असमर्थ हैं इससे प्रवृत्ति नहीं होती कुछ ग्रंथिभेद से नहीं, यह शंका करके हँसते हैं कि यदि ज्ञानी के देह आदि शक्त नहीं है तो वह रोग ही है।।२७०।।

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यंते ये महाधियः ।।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ।।७१।।

जो महाबुद्धिमान् मनुष्य तत्त्वबोध को क्षय की व्याधि मानते हैं उनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है उनको असाध्य कौन वस्तु है अर्थात् तत्त्वबोध व्याधिरूप नहीं हो सकता।।७१।।

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।।
जक्षन् क्रीडन् रतिं विंदन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ।।७२।।

कदाचित् कहो कि यह परिहास अयोग्य है क्योंकि भरत आदि की अप्रवृत्ति पुराणों में कही है, इस शंका को जो तू करता है सो इस श्रुति को न जानकर करता है क्योंकि भक्षण करता हुआ, अपनी इच्छा से क्रीड़ा करता हुआ और स्त्रियों के संग और यान ज्ञाति और वयस्कों के संग रमता हुआ जनों के संग वर्तमान भी इस शरीर को ज्ञानी स्मरण नहीं करता अर्थात् ज्ञानी को अपनी देह का अनुसन्धान नहीं रहता, यह श्रुति क्या आपने नहीं सुनी।।७२।।

न ह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ।।
काष्ठपाषाणवत्किन्तु संगभीता उदासते ।।७३।।

भोजन आदि को त्याग कर भरत आदि काष्ठ और पाषाण के समान कभी भी न रहे किंतु संग के भय से उदासीन रहे, इससे पुराणों का भी ज्ञानी की उदासीनता के बोधन में तात्पर्य है, कुछ प्रवृत्ति के अभाव में नहीं।।७३।।

संगो हि बाध्यते लोके निःसंग सुखमश्नुते ।।
तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ।।७४।।

जगत् में संगी बाधा जाता है और संगरहित सुख को भोगता है, इससे सुख का अभिलाषी पुरुष सदैव संग को त्याग दे।।७४।।

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथान्यथा ।।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धांत उच्यते ।।७५।।

कदाचित् कहो कि मन के संग का ही त्याग मानोगे तो अन्तःसंग से शून्य बाहर व्यवहार करते हुए उनको सब मूर्ख क्यों कहते हैं, इस शंका के उत्तर का वर्णन करते हैं, शास्त्र के तात्पर्य को न जानकर मूढ़ मनुष्य अन्यथा कहते हैं अर्थात् ज्ञानी को मूढ़ बताते हैं इससे मूर्खों का निर्णय रहो अर्थात् मूढ़ों के व्यवहार का विचार मत करो, अब हम अपने सिद्धांत को कहते हैं।।७५।।

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।।
प्रायेण सह वर्तंते वियुज्यंते क्वचित् क्वचित् ।।७६।।

वह सिद्धांत यह है कि वैराग्य, बोध और उपराम (शांति) ये परस्पर सहायक होते हैं और प्रायः संग ही वर्तते हैं और कभी कभी उनका वियोग भी हो जाता है।।७६।।

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ।।
यथावदवगंतव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ।।७७।।

हेतु, स्वरूप, कार्य ये तीनों भिन्न हैं इनका संकर कहीं भी नहीं है वह असंकर शास्त्र के अर्थ का जो विवेकी उसको यथार्थ रीति से जानना योग्य है इससे वैराग्य बोध उपराम इनकी भिन्न भिन्न स्थिति इनके हेतु आदि के भेद से जाननी।।७७।।

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ।।७८।।

अब वैराग्य के हेतु आदि तीनों को दिखाते हैं कि विषयों में दोष देखना और विषयों के त्याग की इच्छा और पुनः भोगों में दीनता न करनी ये तीनों वैराग्य के हेतु, स्वरूप, कार्य, क्रम से असाधारण होते हैं।।७८।।

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ।।
पुनर्ग्रंथेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ।।७९।।

अब तत्त्वबोध के हेतु आदि तीनों को दिखाते हैं कि* श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन और तत्त्व का मिथ्या विवेक अर्थात् कूटस्थ और अहंकार के भेद का ज्ञान और फिर ग्रंथि (अन्योन्य अध्यास) का अनुत्पत्ति ये तीनों बोधक क्रम से हेतु स्वरूपकार्य कहे हैं और इस श्रुति में आत्मा को देखने सुनने मानने और निदिध्यासन करने योग्य कहा है इससे श्रवण आदि तीनों आत्मदर्शन के हेतु हैं।।७९।।

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ।।२८०।।

अब उपराम के हेतु आदि तीनों को दिखाते हैं कि यम, नियम, आदि और बुद्धि का निरोध अर्थात् चित्त की वृत्ति को रोकना और व्यवहार का भले प्रकार क्षय ये उपरति के हेतु, स्वरूप और कार्य हैं, इस प्रकार यह तीनों को असंकर कहा।।२८०।।

---

* आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः ।

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।।
बोधोपकारिणावैतौ वैराग्योपरमावुभौ ।।८१।।

इनके प्रधान गुणभाव का वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्म को जानकर मृत्यु का अवलंघन करता है और मोक्ष का कारण अन्य नहीं है इस श्रुति से साक्षात् मोक्ष का दाता होने से तत्त्वबोध इन तीनों में प्रधान है और ये दोनों वैराग्य और उपरम तत्त्वबोध के उपकारी हैं क्योंकि श्रुति में लिखा है कि ब्राह्मण निर्वेद को प्राप्त हो जाय क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत (कर्म) से नहीं होता इससे तत्त्वज्ञान के लिये वह शांत दांत होकर गुरु के समीप जाकर उपराम को प्राप्त हुआ सहनशील सावधान होकर अपने देह में ही आत्मा को देखे इससे वैराग्य उपराम दोनों उपकारी प्रतीत होते हैं। भावार्थ यह है कि साक्षात् मोक्ष का दाता तत्त्ववोध प्रधान है और ये वैराग्य उपराम दोनों तत्त्वबोध के उपकारी हैं।।८१।।

त्रयोऽप्यत्यंतपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ।।
दुरितेन क्वचित्किञ्चित्कदाचित्प्रतिबध्यते ।।८२।।

पूर्व कहे हुए इन तीनों के कहीं कही वियोग के कारण को कहते हैं कि ये तीनों अत्यंत पके हुए हों तो महान् तप का फल है और कहीं कहीं कुछ कदाचित् पाप प्रतिबंध कर देता है अर्थात् अनेक जन्मों में संचित पुण्यसमूह के प्रताप से तीनों का संग हो जाता है और किसी किसी पुरुषविशेष से प्रतिबंधक पाप के अनुसार कालविशेष में प्रतिबंध भी किसी का हो जाता है।।८२।।

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।।
यस्य तस्य न माक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ।।८३।।

उनमें भी तत्त्वज्ञान के प्रतिबंध में मोक्ष के अभाव को कहते हैं कि यदि जिसको वैराग्य और उपराम ये दोनों पूर्ण हों और पाप के वश बोध का प्रतिबंध हो जाय तो उसका मोक्ष नहीं होता किंतु तप के बल से पुण्यलोक होता है, क्योंकि गीता में भगवान् का वचन है कि पुण्यात्माओं के लोकों में प्राप्त होकर और अनेक वर्षों तक वहां बसकर योग से भ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानों के कुल में जन्म लेता है।।८३।।

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।।
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ।।८४।।

बोध के पूर्ण होने पर जहां वैराग्य और उपराम इन दोनों का प्रतिबंध (रोक) होता है तब मोक्ष तो निश्चय से होता है परन्तु दीखते हुए दुःख का नाश नहीं होता

अर्थात् जीवन्मुक्ति का सुख सिद्ध नहीं होता।।८४।।

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ।।८५।।

अब वैराग्य आदिकों की अवधि का वर्णन करते हैं कि ब्रह्मलोक को भी तृण के समान समझना, यह वैराग्य की अवधि कही है और अपने देह के आत्माके समान पर आत्मा के समझने से बोध की समाप्ति (पूर्णता) हो जाती है।।८५।।

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।।
दिशाऽनया विनिश्चेयं तारम्यमवांतरम् ।।८६।।

शयन के समान जो विस्मृति वह उपराम की सीमा होती है अर्थात् सोने में जैसा विषयों का अभाव रहता है ऐसा ही जाग्रंत् में भी समझना और इसी मार्ग से अवांतर (मध्य का) तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) अपनी अपनी बुद्धि से निश्चय करने योग्य है।।८६।।

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पंडितैः ।।८७।।

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानियों को भी राग आदि देखते हैं इससे ज्ञान मुक्ति के हेतु नहीं हो सकेगा सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्म नाना प्रकार के हैं इससे बोधवाले भी अन्यथा अन्यथा वर्तते हैं इससे शास्त्र के अर्थ में पंडित जनों को भ्रम न करना चाहिये अर्थात् रोग आदि आधिव्याधि के समान प्रारब्धकर्म का फल होने से मुक्ति के प्रतिबंधक नहीं हो सकते।।८७।।

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तंतां ते यथा तथा ।।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ।।८८।।

अपने अपने कर्म के अनुसार वे जैसे वैसे वर्तें परन्तु मैं ब्रह्मरूप हूं यह ज्ञान सबको एकाकार है और निष्पाप ब्रह्मरूप से मुक्ति भी सबको समान है यह स्थिति है अर्थात् जानने योग्य है।।८८।।

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।।
मायया तदुपक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ।।८९।।

अब चित्रदीपप्रकरण के तात्पर्य-को संक्षेप से दिखाते हैं कि जगत्रूपी चित्र आत्मस्वरूप चैतन्य में इस प्रकार माया से अर्पित है जैसे वस्त्र में चित्राम इससे मायोपाधि जगत् की उपेक्षा करके चैतन्य का परिशेष करो।।८९।।

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।।
पश्यंतोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यंति न पूर्ववत् ।।२९०।।

अब ग्रन्थाभ्यास के फल को कहते हैं–जो बुद्धिमान् मनुष्य इस चित्रदीप का नित्य अनुसन्धान (विचार) करते हैं, जगत् चित्र को देखते हुए भी वे उस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार पूर्व होते रहे।।२९०।।

इति नीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिरचितपंचदश्याः पण्डितमिहिरचन्द्रकृत-भाषाविवृतौ चित्रदीपस्समाप्तः ।।६।।

इति षष्ठं चित्रदीपप्रकरणम् ।।६।।

अथ तृप्तिदीपप्रकरणम् ७

श्रीगणेशाय नमः

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।१।।

तृप्तिदीप नाम प्रकरण का प्रारंभ करते हुए श्रीभारतीतीर्थ उस तृप्तिदीप को श्रुति का व्याख्यानरूप होने से व्याख्यान के योग्य श्रुति को आदि में पढ़ते हैं कि यदि पुरुष यह आत्मा है, मैं हूं इस प्रकार आत्मा को जान ले तो किस विषय की इच्छा करता हुआ और किस विषय के लिये आत्मा को तपायमान करे–अर्थात् आत्मज्ञान से ही सब कामना शान्त हो जाती हैं।।१।।

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ।।२।।

इस तृप्तिदीपप्रकरण में पूर्वश्लोक में कही हुई श्रुति के अभिप्राय को भले प्रकार विचारते हैं–इस अभिप्राय के विचार से श्रुति में प्रसिद्ध जो जीवन्मुक्ति की तृप्ति है वह स्पष्ट हो जाती है।।२।।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।।३।।

पद का छेदन, पदार्थ का कथन, विग्रह वाक्यों की योजना, शंका का समाधान, ये पांच लक्षण व्याख्यान के कहे हैं, इससे पुरुष इस पद का अर्थ कहने के लिये उसकी

उपोद्घातरूप सृष्टि को संक्षेप से दिखाते हैं, प्रतिपादन करने योग्य अर्थ को बुद्धि में रखकर उसके लिये अर्थान्तर का जो वर्णन उसको उपोद्घात कहते हैं और चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिंब से युक्त और सत्त्व, रज, तमोगुणरूप जो जगत् का उपादान (प्रकृति) उसे माया कहते हैं वह प्रकृति सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि से दो प्रकार की हुई, माया और अविद्यारूप होती है अर्थात् विशुद्धसत्त्व प्रधान को माया और मलिनसत्त्वप्रधान को अविद्या कहते हैं। माया में प्रतिबिंबित ब्रह्म को ईश्वर और अविद्या में प्रतिबिंबितको जीव कहते हैं, यह सब तत्त्वविवेक प्रकरण में निरूपण कर आये और यह अभिप्राय इस श्रुति में कहा है कि माया और अविद्या आभास से जीव और ईश्वर को करती हैं, इससे जीव और ईश्वर माया से कल्पित हैं और संपूर्ण जगत् उन दोनों का कल्पित है। भावार्थ यह है कि माया आभास से जीव ईश्वर को करती है, श्रुति में यह सुनने से जीव ईश्वर माया कल्पित हैं, अन्य सब जगत् उनका कल्पित है।।३।।

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।।
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ।।४।।

अब इन दोनों में जिसने जितना कल्पित किया उसका वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्म ने देखा कि मैं एक प्रजारूप से बहुत हूं, इन श्रुति में वर्णन किया ईक्षण (देखना) जिसकी आदि में और इस जीवरूप आत्मा से नामरूप प्रकट किये इस श्रुति मे कहां प्रवेश है अन्त में जिसके ऐसी सृष्टि ईश्वर की कल्पित की है और जाग्रत् है आदि जिसके और विमोक्ष (मुक्ति) है अंत में जिसके ऐसा संसार जीव का कल्पित है क्योंकि जीव उसका अभिमानी है और वे जाग्रत् आदि इस प्रकार शास्त्र में सुने जाते हैं कि माया से परिमोहित है आत्मा जिसका ऐसा वह ब्रह्म शरीर में टिककर सबको करता है और स्त्री अन्नपान आदि विचित्र भागों से वही जाग्रत् अवस्था में तृप्त होता है और स्वप्न में भी जीव सुख दुःख का भोक्ता रहता है और अपनी माया से कल्पित संपूर्ण विश्व का है लय जिसमें ऐसी सुषुप्ति के समय तमोगुण से तिरस्कार को प्राप्त हुआ स्वरूप होता है और फिर जन्मान्तर के कर्माधीन हुआ वही जीव होता है और प्रबुद्ध (जगा) हुआ वह तीनों पुरों में क्रीड़ा करता है, उसी जीव से संपूर्ण विचित्रता हुई है और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि जो यह प्रपंच प्रकाशित है वह सब मुझ ब्रह्मा का ही रूप है यह ज़ानकर सब बंधों से छूटता है। भावार्थ यह है कि ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत सृष्टि ईश्वर की कल्पित है और जाग्रत् आदि मुक्ति पर्यंत सृष्टि जीवकल्पित है।।४।।

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः ।।
अन्योन्याध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ।।५।।

इस प्रकार पुरुष शब्द के अर्थ की ज्ञानोपयोगी सृष्टि को कहकर पुरुष शब्द के अर्थ को कहते हैं कि जो कूटस्थ असंग चित् शरीर अर्थात् अविकारी असंग चित्स्वरूप है और देह इंद्रियाध्यासरूप भ्रम का अधिष्ठान परमात्मा है असंग भी वह अन्योन्याध्यास से अन्योन्य आत्मरूपता को और अन्योन्य धर्मों को परस्पर में मानकर संपूर्ण व्यवहारों का भागी होता है। इस प्रकार आचार्यों के कहे तादात्म्याध्यास से असंग धीमें स्थित जो जीव अर्थात् पारमार्थिक (सच्चा) संबंध से शून्य बुद्धि में अपने रूप से वर्तता हुआ जीव होकर इस श्रुति में पुरुष है क्योंकि सो यह पुरुष सब पुरियो में पुरीशय है अर्थात् सब देहों में शयन करता है, इस श्रुति में पुरुष शब्द का अर्थ कहा है और पुरूष को ही पुरुष कहते हैं अर्थात् बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान जो कूटस्थ चैतन्य वह बुद्धि में प्रतिबिंबित जीव होने से पुरुष शब्द से कहा जाता है, भावार्थ यह है कि भ्रम का अधिष्ठान कूटस्थ असंग चिद्वपु जो ब्रह्म वह अन्योत्याध्यास से असंग बुद्धि में स्थित होकर जीवभाव को प्राप्त होने से पुरुष कहाता है।।५।।

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रांतेः क्वाप्यसिद्धितः ।।६।।

कदाचित् कहो कि पुरुष शब्द से केवल चिदाभासरूप जीव को ही क्यों नहीं लेते, अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? इस शंका के उत्तर में कूटस्थ को भी मोक्ष आदि में अन्वयी (संबंधी) होने से पुरुष शब्द से ग्रहण को कहते हैं कि कूटस्थरूप अधिष्ठानसहित जो जीव चैतन्य है वही मोक्ष स्वर्ग आदि में अधिकारी है केवल चिदाभास नहीं, क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रांति कहीं भी जगत् में नहीं देखी है।।६।।

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलंबते ।।
यदा तदाऽहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ।।७।।

अब दो श्लोकों से अधिष्ठानसहित जीव का ही संसार में अन्वय कहते हैं कि जब अधिष्ठानसहित भ्रमांश का जीव अवलम्बन करता है अर्थात् चिदाभाससहित दोनों शरीरों को अपने स्वरूप से स्वीकार करता है तब मैं संसारी हूं, यह अभिमान करता है।।७।।

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ।।
यदा तदा चिदात्माऽहमसंगोऽस्मीति बुध्यते ।।८।।

और जब भ्रमांश के अर्थात् दोनों देहो सहित चिदाभास के तिरस्कार (मिथ्याज्ञान) से आदर को न करके अधिष्ठान की ही प्रधानता है अर्थात् अधिष्ठानभूत कूटस्थ के ही स्वरूप का स्वीकार करता है तब तो असंग चिदात्मा मैं हूं, यह जानता है।।८।।

नासंगेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ।।९।।

अधिष्ठान चैतन्य को जीवरूप मानोगे तो मैं चिदात्मा असंग हूं, यह न बनेगा क्योंकि असंग चिदात्मा अहं प्रत्यय (प्रतीति) का विषय नहीं हो सकता इस शंका को करते हैं कि असंग, अविषय, चिदात्मा में अहंप्रतीति जिससे नहीं हो सकती तो उससे मैं कैसे जाने अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं जान सकते, यद्यपि मुख्य वृत्ति से अहं प्रतीति का विषय नहीं हो सकता तथापि लक्षणावृत्तिसे हो सकता है, यह कहने की इच्छा से अहं शब्द के अर्थ का प्रथम विभाग करते हैं कि अहंशब्द के तीन अर्थ हैं, एक मुख्य और दो अमुख्य।।९।।

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ।।१०।।

अब मुख्य अर्थ को दिखाते हैं कि कूटस्थ और चिदाभास का स्वरूप अन्योन्य अध्यास से एकता को प्राप्त होकर अहं शब्द का वाच्य अर्थ होता है। अब इसकी मुख्यता में कारण कहते हैं कि जिससे पृथक् पृथक् विवेक से नहीं जाने उस कूटस्थ और चिदाभास के स्वरूप में विवेकज्ञान से शून्य संपूर्ण मूढ़ जन अहंशब्द के प्रयोग को करते हैं इससे वह मुख्य है।।१०।।

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहं शब्दं लोके च वैदिके ।।११।।

अब अमुख्य दोनों स्वरूपों को कहते हैं कि जब चिदाभास और कूटस्थ ये दोनों पृथक् पृथक् अहं शब्द के अर्थ से विवक्षित है तब ये दोनों अहंशब्द के अमुख्य अर्थ होते हैं। अब उनका अमुख्यता में कारण को कहते हैं कि तत्त्व का ज्ञाता पुरुष उन दोनों कूटस्थ और चिदाभास में अहंशब्द के प्रयोग को लौकिक वा वैदिक व्यवहार में पर्याय से करता है। तात्पर्य यह है कि चिदाभास कूटस्थ का जो एकरूप है, उसको संपूर्ण जनों के व्यवहार का विषय होने से मुख्यता है और पृथक पृथक् रूप को तो किसी किसी मनुष्य के कदाचित् ही व्यवहार विषय होने से अमुख्यता है।।११।।

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ।।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ।।१२।।

ज्ञान की सुगमता के लिये दो श्लोकों के पर्याय में प्रयोग का वर्णन करते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्य मैं जाता हूं इत्यादि लौकिक व्यवहार में कूटस्थ से चिदाभास को पृथक् करके उसको ही अहंशब्द से कहने की इच्छा करता है।।१२।।

असंगोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ।।१३।।

और वही बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रदृष्टि से अर्थात् वेदान्त के श्रवण से उत्पन्न हुए ज्ञान से चिदाभास से पृथक् किये कूटस्थ में मैं असंग हूं, मैं चिदात्मा हूं, इस प्रकार लक्षण से अहंशब्द के प्रयोग को करता है इससे लक्षणा से कूटस्थ भी अहंशब्द का अर्थ होने से अहंप्रतीति का विषय हो सकता है इससे मैं असंग हूं, यह ज्ञान होता है।।१३।।

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ।।१४।।

कदाचित् कहो कि चिदाभास और कूटस्थ पृथक् पृथक् अहंशब्द के जो अर्थ कहे उन दोनों मे मध्य में अज्ञान निवृत्ति के लिये मैं असंग हूं, यह कूटस्थ जानता है वा चिदाभास जानता है, कूटस्थ को तो नहीं कह सकते, क्योंकि वह असंग चिद्रूप है इससे वह ज्ञानी वा अज्ञानी नहीं हो सकता, इससे चिदाभास को ही ज्ञानी वा अज्ञानी कहना पड़ेगा तो कूटस्थ से अन्य चिदाभास को मैं कूटस्थ हूं, ऐसा ज्ञान होना अयोग्य है। भावार्थ यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी आत्मा का आभास हो सकता है आत्मा नहीं इनसे चिदाभास को मैं कूटस्थ हूं, यह ज्ञान कैसे होगा अर्थात् न होगा।।१४।।

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थकस्वभाववान् ।।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ।।१५।।

अब उक्त शंका का समाधान इस आशय से करते हैं कि वह चिदाभास कूटस्थ से अन्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि चिदाभास को कूटस्थ के संग एक स्वभाववाला होने से यह तुम्हारा दिया दोष नहीं हो सकता क्योंकि दर्पण में प्रतीत हुआ जो मुख का आभास उसका तत्त्व जैसे ग्रीवा का मुख ही है इसी प्रकार आभास को मिथ्यात्व है और कूटस्थ ही शेष रहता है।।१५।।

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।।
नहि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ।।१६।।

अब यह शंका करते हैं कि चिदाभास को मिथ्या मानोगे तो उसका मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान मिथ्या हो जायगा किन्तु यदि मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान मिथ्या हो जायगा यह कहते हो तो यह ज्ञान मिथ्या नहीं हैं यह कौन कहता है क्योंकि कूटस्थ के स्वरूप से भिन्न सबको मिथ्या होने से वह भी हमको मिथ्या इष्ट है इसको दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि रज्जु में कल्पना किये प्रतीयमान भी गमन आदि को भी जैसे वास्तव नहीं मानता, इसी प्रकार मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान भी मिथ्या है।।१६।।

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ।।१७।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त मिथ्याज्ञान से संसार की निवृत्ति न होगी सो ठीक नहीं–पूर्वोक्त मिथ्या ज्ञान से भी संसार की निवृत्ति होती है अर्थात् निवृत्ति के योग्य संसार भी मिथ्या है इससे स्वप्न में देखे व्याघ्र से जैसे निद्रा की निवृत्ति होती है इसी प्रकार मिथ्याज्ञान से मिथ्या संसार की निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि लौकिक जन ऐसे कहते हैं कि यक्षानुरूप बलि होती है अर्थात् जहां जैसा यक्ष वैसे ही बलि देते हैं।।१७।।

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ।।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ।।१८।।

अब उपपादन किये अर्थ का उपसंहार करते हैं कि जिससे कूटस्थ ही चिदाभासक निजस्वरूप है इससे कूटस्थसहित चिदाभासरूप जो पुरुषशब्द का वाच्य (अर्थ) है वह उस कूटस्थ को मिथ्यास्वरूप अपने से पृथक् जानकर लक्षणा से मैं कूटस्थ हूं यह जान सकता है इससे श्रुति ने मैं कूटस्थ हूं यह कहा है।।१८।।

असंदिग्धविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।।
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ।।१९।।

इस प्रकार 'मैं पुरुष हूं' इन दोनों पदों के प्रयोग का अभिप्राय कहकर 'अयम्' इस पद के प्रयोग का अभिप्राय कहते हैं–जैसे लौकिक मनुष्य प्रसिद्ध देहरूप आत्मा से संशय और विपर्यय से रहित 'अयम् अस्मि' यह मैं हूं यह बोध सबको होता है वैसा ही ज्ञान मुक्ति के लिये प्रत्यगात्मा में संपादन करना योग्य है यह निर्णय करने के लिये श्रुति 'अयम्' यह कहती है।।१९।।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञान देहात्मज्ञानबाधकम् ।।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।२०।।

इस प्रकार का बोध मोक्ष का साधन है इसमें आचार्य का वचन प्रमाण देते हैं, मैं मनुष्य हूं यह दृढ़ प्रतीति जैसे देहरूप आत्मा में होती है इसी प्रकार प्रत्यगात्मा में देह ही आत्मा है इस ज्ञान का बाधक मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान जिसको हो जाय मोक्ष की ईच्छा से रहित भी वह विद्वान् मुक्त हो जाता है, क्योंकि संसार का हेतु अज्ञान उसका निवृत्त हो चुका। भावार्थ यह है कि जिसको आत्मा के विषे देहात्मज्ञान का बाधक ज्ञान देहात्म ज्ञान के तुल्य हो जाय वह इच्छा करने और न करने पर भी मुक्त हो जाता है।।२०।।

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ।।२१।।

अब 'अयम्' इस पद के प्रयोग में अन्य अभिप्राय से शंका करते हैं कि जैसे अयम् (यह) घट है इत्यदि प्रयोग में यह शब्द से दिखाई वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है तैसे ही यह ब्रह्म मैं हूं यहां भी ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जायगा ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष हो जाओ वह भी हमको इष्ट ही है क्योंकि स्वयंप्रकाशरूप चैतन्य सदैव अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है अर्थात् हम किसी साधन की अपेक्षा के बिना प्रकाशमान चैतन्य को नित्य प्रत्यक्षरूप मानते हैं। भावार्थ यह है कि 'यह मैं हूं' इससे ब्रह्म को भी अपरोक्ष कहोगे तो कहो हम मानते हैं क्योंकि स्वयंप्रकाशमान चैतन्य सदैव अपरोक्ष है।।२१।।

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ।।२२।।

कदाचित् कहो कि आत्मा को स्वप्रकाश चित्रूप होने से नित्य अपरोक्ष मानोगे तो 'अयम्' इस पद के प्रयोग का जो अभिप्राय वर्णन है उसके बल से आत्मा की परोक्षता और पूर्वोक्त अपरोक्षता वा ज्ञान अज्ञान की विषयता न बनेगी यह शंका करके दशवें मनुष्य के समान उसकी उपपत्ति (बनाना) कहते हैं कि परोक्ष अपरोक्ष ये दोनों और ज्ञान अज्ञान ये दोनों युगल, नित्य, अपरोक्ष रूप भी आत्मा में दशवें मनुष्य के समान बन सकते हैं। भावार्थ यह है कि परोक्ष अपरोक्ष और ज्ञान अज्ञान ये दोनों नित्य अपरोक्षरूप आत्मा में दशम पुरुष के समान हो सकते हैं।।२२।।

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ।।२३।।

अब दशम पुरुष के दृष्टांत का वर्णन करते हैं कि गिनने योग्य पुरुषों की नव ९

संख्या से नष्ट हुआ है विवेक विज्ञान जिसका ऐसा दशवां पुरुष उन नौ ९ संख्यावाले पुरुषों को भले प्रकार देखता हुआ भी अपनी आत्मा की गिनती करता भी दशवां 'मैं हूं' यह नहीं जानता।।२३।।

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ।।२४।।

इस प्रकार दशमें पुरुष के अज्ञान को दिखाकर अज्ञान के कार्य आवरण को दिखाते हैं कि उस समय दशवां पुरष विद्यमान भी अपनी आत्मा को दशवां, न भासता है, न है, यह मानकर कहता है कि इस व्यवहार के कारण को अज्ञान का किया आवरण बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं अर्थात् विद्यमान भी वस्तु को न जानना।।२४।।

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ।।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादि विदुर्बुधाः ।।२५।।

अब अज्ञान के ही कार्य विशेष को दिखाते हैं कि दशवां नदी के विषे मेरे गया यह शोक करता हुआ रोता है इसके रोने आदि को बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञान का किये विक्षेप आदि जानते हैं।।२५।।

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ।।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ।।२६।।

अब दशम मनुष्य के असत्त्व अंशका का निर्वतक परोक्षज्ञान कहते हैं कि उस समय दशवां नहीं मरा है इस यर्थाथवादी मनुष्य के वचन को सुनकर परोक्षरूप से स्वर्ग आदि लोक के समान दशवें पुरुष को जानता है अर्थात् कहीं दशवां होगा यह जानता है और मैं ही दशवां हूं यह अपरोक्षरूप से नहीं जानता।।२६।।

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा दृष्यत्येव न रोदिति ।।२७।।

अब उसके ही अभान अंश के निवर्तक अपरोक्षज्ञान को दिखाते हैं कि तू ही दशवां है इस प्रकार गिनकर दिखाया है स्वरूप जिसका ऐसा मनुष्य अपने को दशवां जानकर आनंदित ही होता है रोता नहीं अर्थात् अपना अभान अंश निवृत्ति हो जाता है।।२७।।

अज्ञानवृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ।।२८।।

इस प्रकार दृष्टांतरूप दशवें में दिखायी सातों ७ अवस्थाओं को दार्ष्टांतिकरूप

आत्मा में भी दर्शाते हैं कि अज्ञान आवरण विक्षेप दो प्रकार का ज्ञान तृप्ति शोक का अपगम (दूर होना) ये सातों अवस्था चिदात्मा में भी युक्त करनी (समझनी) ॥२८॥

संसारासक्तचित्तः सञ्चिदाभासः कदाचन ॥
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

उन अज्ञान आदि को क्रम से आत्मा के विषे दिखाते हैं कि कदाचित् यह चिदाभास संसार में आसक्तचित्त होकर अर्थात् विषयों के संग्रह में मन लगाकर श्रुति के विचार करने से पूर्व किसी समय में अपने स्वप्रकाश कूटस्थरूप का जो नहीं जानता यही अज्ञान कहाता है॥२९॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसंगतः ॥
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

चिदात्मा के प्रसंग आने पर कूटस्थ न भासता है और न है यह कहता है यही अज्ञान का कार्य आवरण है और कूटस्थ की असत्ता के कथन के समान मैं कर्त्ता हूं भोक्ता हूं यह आत्मा में आरोप करता है इस आरोप का हेतु दोनों देहों से युक्त चिदाभासरूप विक्षेप है॥३०॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ॥
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥

कूटस्थ है इत्यादि वार्ता से परोक्ष कूटस्थ को जानता है यह परोक्षज्ञान और श्रवण मनन आदि के परिपाकवश विचार करने से मैं कूटस्थ ही हूं यह जानता है यह अपरोक्ष ज्ञान है॥३१॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुंचति ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

कूटस्थ असंग आत्मज्ञान के अनन्तर मैं कर्त्ता भोक्ता हूं इत्यदि शोक के समूह को छोड़ता है यह शोक को अपगम 'मैंने करने के योग्य को कर लिया और प्राप्ति के योग्य फल मुझे प्राप्त हो गया' इस प्रकार सन्तोष को प्राप्त होता है, इसको तृप्ति कहते हैं॥३२॥

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ॥
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥३३॥

दार्ष्टांतिक में भी उक्त सातों अवस्थाओं का अनुवाद करते हैं कि अज्ञान, आवरण और विक्षेप, परोक्षज्ञान, शोक का मोक्ष और निरंकुश, तृप्ति॥३३॥

सप्तावस्था इमाः संति चिदाभासस्य तास्विमौ ।।
बंधमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बंधकृताः स्मृताः ।।३४।।

कदाचित् कोई कहे कि पूर्वोक्त सात अवस्था आत्मा में मानोगे तो वह कूटस्थ न रहेगा यह आशंका करके ये अवस्था चिदाभास की हैं कूटस्थ की नहीं यह वर्णन करते हैं कि ये सात अवस्था चिदाभास की ही हैं कूटस्थ की नहीं। कदाचित् कहो कि इन सात अवस्थाओं का यहां लिखना वृथा है सो ठीक नहीं क्योंकि इनके लेख का फल बंध से मोक्षकारी है कि उन अवस्थाओं में ये दोनों बंध मोक्ष स्थित हैं और उनमें भी तीन अवस्था बंधन की कर्ता हैं शेष नहीं। भावार्थ यह है कि ये सात अवस्था चिदाभास की हैं उनमें दोनों ये बंध मोक्ष में स्थित हैं, उनमें भी तीन अवस्था बंधनकारिणी कही हैं।।३४।।

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ।।३५।।

इनको बंधकारिणी दिखाने के लिये तीनों का स्वरूप प्रत्येक के कार्यों को दिखाकर स्पष्ट करने की इच्छा से प्रथम अज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं कि आत्मतत्त्व के विचार से पूर्व उदासीन व्यवहार का कारण जो मैं नहीं जानता हूं यह अज्ञान कहा है।।३५।।

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ।।३६।।

अब आवरण के स्वरूप और कार्य को दिखाते हैं कि शास्त्रोक्त रीति से भिन्न जो रीति उससे विचार कर केवल तर्क के अनुसार न कूटस्थ भासता है और न है ऐसा जो विपरीत व्यवहार वह आवरण का कार्य हैं।।३६।।

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ।।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बंधकः ।।३७।।

अब विक्षेप के स्वरूप और उसके कार्य को दिखाते हैं कि स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंसहित चिदाभास को विक्षेप कहते हैं और बंधनका हेतु कर्ता भोक्ता आदि संपूर्ण शोकरूप संसार इसका कार्य है अर्थात् चिदाभास की रचना है।।३७।।

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः ।।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ।।३८।।

चिदाभास की जो सात अवस्था कहीं–सो ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान और आवरण ये दोनों विक्षेप की उत्पत्ति से पहिले स्थित हैं और चिदाभास–विक्षेप के

अन्तर्गत है—इससे उसकी अवस्था नहीं हो सकती। इस शंका का उत्तर कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनों अवस्था विक्षेप से पूर्व प्रसिद्ध हैं तथापि वे दोनों अवस्था चिदाभासरूप विक्षेप की हैं असंग आत्मा की नहीं।।३८।।

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ।।३९।।

कदाचित् कहो कि अवस्थावाले विक्षेप का पूर्व अभाव है इससे उसकी अवस्था कहना ठीक नहीं इस शंका का उत्तर कहते हैं कि विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व भी विक्षेप का संस्कार है इससे अज्ञान और आवरण को उसकी अवस्था कहना विरुद्ध नहीं।।३९।।

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ।।४०।।

कदाचित् कहो कि जैसे अप्रसिद्ध संस्कार को मानकर विक्षेप की अवस्था मानते हो ऐसे ही अधिष्ठानरूप से प्रसिद्ध ब्रह्म की अवस्था क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म में आरोपित होने से ये दोनों ब्रह्म की अवस्था हैं यह शंका नहीं करनी क्योंकि सब अवस्थाओं का ब्रह्म के विषे ही आरोप है इससे संपूर्ण ब्रह्म की अवस्था हो जायँगी।।४०।।

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।।
जीवगा उत्तरावस्था भांति न ब्रह्मगा यदि ।।४१।।

कदाचित् कहो कि अविशेषरूप से सबका यद्यपि ब्रह्म में आरोप है तथापि विक्षेप से उत्तर होनेवाली संसारी आदि जो अवस्था हैं वे जीव की भी अवस्था प्रतीति होती हैं ब्रह्म की नहीं यह शङ्का करते हैं—मैं कर्तृत्व आदि धर्मवाला संसारी हूं तत्त्व का साक्षात्कर्ता विबुद्ध हूं-शोक से रहित हूं और कृतकृत्यता आदि से उत्पन्न हुए संतोषवाला तुष्ट हूं ये उत्तर अवस्था जीव में प्रतीत होती हैं ब्रह्मा में नहीं।।४१।।

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो नहि ।।
इति पूर्वे अवस्थे च भासंते जीवगे खलु ।।४२।।

ऐसा कहो तो अज्ञान और आवरण भी जीव में ही प्रतीत होते हैं—इससे जीव की ही अवस्था हैं इस आशय से पूर्वोक्त शंका का परिहार करते हैं कि तर्हि ब्रह्म की सत्ता के भान में मेरी दृष्टि से अर्थात् अनुभव से मैं अज्ञ हूं यह नहीं बन सकता इससे पहली दोनों अवस्था निश्चय से जीव में भासती हैं।।४२।।

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ॥
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

कदाचित् कहो कि पूर्व आचार्यों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म कैसे कहो? यह आशंका करके उसकी विवक्षा को दिखाते हैं कि पहले आचार्यों ने ब्रह्म के ज्ञान को अधिष्ठानरूप से कहा और हम अज्ञान को जीव की अवस्था अज्ञान का अभिमानी होने से कहते हैं।।४३।।

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ॥
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधाऽपि विनश्यति ॥४४॥

इस प्रकार बंध के हेतु तीन अवस्थाओं को दिखाकर शेष अवस्थाओं के मध्य में पूर्वोक्त अज्ञान और आवरण की निवृत्ति के द्वारा मुक्तिकी हेतु दो अवस्थाओं को दिखाते हैं कि परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों ज्ञानों से जब अज्ञान का कारण नष्ट हो गया तब अज्ञान पैदा हुआ कूटस्थ न भासता है और न है इन दो प्रकार का भी आवरण नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका कारण अज्ञान रहा।।४४।।

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ॥
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥४५॥

अब जितने अंश की जिससे निवृत्ति होती है उसको पृथक् २ दिखाते हैं कि 'कूटस्थ है' इस परोक्षज्ञान से तो अज्ञान की असत्त्वावरण की कारणता नष्ट होती है अर्थात् सत्ता प्रतीत हो जाती है और 'मैं कूटस्थ हूं' इस अपरोक्षज्ञान से कूटस्थ नहीं भासता इस अभानरूप आवरण की कारणता की निवृत्ति होती है अर्थात् कूटस्थ का भान हो जाता है।।४५।।

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

अब ज्ञान के फलरूप दोनों अवस्थाओं के विषे प्रथम अवस्था को कहते हैं अभानरूप आवरण की निवृत्ति होने पर भ्रांति से प्रतीयमान जो जीवभान उसकी भी निवृत्ति हो जाती है इससे जीवभाव है निमित्त जिसमें ऐसा कर्ता भोक्ता आदि संसाररूप संपूर्ण शोक निवृत्त हो जाता है।।४६।।

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तात्वभासनात् ॥
निरंकुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

इस प्रकार शोकापगमरूप अवस्था को दिखाकर निरंकुश तृप्तिरूप दूसरी अवस्था को दिखाते हैं कि संपूर्ण संसार की निवृत्ति होने पर नित्यमुक्त स्वभाव के

भासने से निरंकुश तृप्ति होती है क्योंकि फिर कदाचित् भी शोक की उत्पत्ति नहीं होती।।४७।।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ।।४८।।

कदाचित् कहो कि यदि आत्मा को मनुष्य जाने–इस मंत्र के व्याख्यान में प्रवृत्त होकर फिर उसको छोड़कर मध्य में अज्ञान आदि सात अवस्थाओं का वर्णन प्रकरणविरुद्ध है यह शंका करके पूर्वोक्त श्रुति के तात्पर्य का जो निरूपण उसके शेषरूप से अवस्थाओं का वर्णन किया है इससे प्रकरण विरुद्ध नहीं इस अभिप्राय से पूर्वोक्त श्रुति के तात्पर्य (अभिप्राय) को कहते हैं कि अपरोक्षज्ञान और शोकनिवृत्तिरूप जो अवस्था पूर्वोक्त चिदाभास की सातों अवस्था के मध्य में हैं उनमें ये दोनों जीव की अवस्था हैं यह बात कहने के लिये 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (यदि आत्मा को जाने! यह मंत्र प्रवृत्त हुआ है अर्थात् आत्मज्ञानोपयोगी होने से पूर्वोक्त अवस्थाओं का वर्णन प्रकरणविरुद्ध नहीं। भावार्थ यह है कि अपरोक्षज्ञान, शोकनिवृत्ति ये दो अवस्था जीव की हैं यह बात 'आत्मानं चेत्, यह श्रुति कहती है।।४८।।

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत् ।।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाऽप्येवं तदीक्षणात् ।।४९।।

अयम् (यह आत्मा मैं हूं) इस पद से आत्मा को अपरोक्ष कहा–इससे अपरोक्षज्ञान का विषय आत्मा होगा परोक्ष का नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि अयंम् इस पद से जो अपरोक्षज्ञान कहा वह दो प्रकार का होता है एक तो चिद्रूप जो आत्मारूप विषय उसको स्वप्रकाश होने से अर्थात् अपने व्यवहार में दूसरे साधन की निरपेक्षता से और दूसरा–बुद्धि के द्वारा स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा के देखने से होता है।।४९।।

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ।।५०।।

कदाचित् कहो कि अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकार का रहे तो भी परोक्ष ज्ञान के विषय होने में क्या आया? इसका उत्तर लिखते हैं कि परोक्ष ज्ञान के काल में भी विषय की स्वप्रकाशता बनी रहती है अर्थात् परोक्षज्ञान विषयता का विरोधी, स्वप्रकाशत्व नहीं होता, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान के समान परोक्ष ज्ञान में भी ब्रह्म स्वप्रकाश है यह ज्ञान होता है।।५०।।

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ॥
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रांतं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

कदाचित् कहो कि प्रत्येक् से अभिन्न जो ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा ज्ञान परोक्ष कैसा होगा? यह शंका करके प्रत्यक अंश के अग्रहण के परोक्षत्व का वर्णन करते हैं कि जिसमें अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह उल्लेख न हो और ब्रह्म है यह उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान होता है। कदाचित् कहो कि यह भ्रम है यह शंका करके क्या यह भ्रातवाद होने से है वा व्यक्ति के अनुल्लेख से है अथवा अपरोक्षरूप से जानने योग्य को परोक्ष जानने से अथवा किसी अंश के अज्ञान से इन चार विकल्पों से प्रथम के प्रति कहते हैं कि यह भ्रान्त तो नहीं अर्थात् ब्रह्म है यह ज्ञान भ्रमरूप नहीं, क्योंकि ब्रह्म का त्रिकाल में भी बाध निरूपण नहीं कर सकते।।५१।।

ब्रह्म नास्तीति मान चेत् स्याद्बाध्येत् तदा ध्रुवम् ॥
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

इसमें हेतु को कहते हैं कि यदि ब्रह्म नहीं है यह प्रमाण हो तो ब्रह्म है इसका निश्चय से बाध हो और ऐसा प्रवल प्रमाण हम नहीं देखते इससे ब्रह्म है इस ज्ञान का बाध नहीं होता।।५२।।

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ॥
भ्रांतिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखसामान्योल्लेखदर्शनात् ॥५३॥

अब दूसरे पक्ष में दोष देते है कि व्यक्ति के अनुल्लेखमात्र से भ्रांति मानोगे तो स्वर्गबुद्धि भी भ्रम हो जायगी, क्योंकि वहां भी यह स्वर्ग है ऐसा ज्ञान नहीं होता किंतु स्वर्ग है यह सामान्यकार बुद्धि ही होती है इससे व्यक्ति के नाम न लेने से भी भ्रम नहीं कह सकते।।५३।।

अपरोक्षत्वयोगस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ॥
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ॥५४॥

अब तीसरे पक्ष का निराकरण करते हैं कि अपरोक्ष रूप से ग्रहण के योग्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मपरोक्ष है इस आकार से ज्ञान का अभाव है परन्तु—अर्थात् उसकी परोक्षता प्रतीत होती है कि यह ब्रह्म है इस प्रकार व्यक्ति का उल्लेख नहीं उतने से ही ब्रह्म में परोक्षत्व की सिद्धि है।।५४।।

अंशागृहीतेर्भ्रांतिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ॥
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

चौथे पक्ष में आशंका करते हैं कि यदि अंश के अग्रहण में भी भ्रांति हो तो अर्थात् ब्रह्म अंश के ग्रहण में प्रत्येक अंश के अग्रहण से भ्रम मानोगे तो घट का ज्ञान भी ऐसे ही भ्रम हो जायगा क्योंकि बहुत से मध्य के अवयवों का अग्रहण है। कदाचित् कहो कि घट सावयव पदार्थ है उसके एक अंश के अग्रहण में अन्य अश का ग्रहण होनेपर भ्रम का संभव है ब्रह्म तो निरवयव पदार्थ है उसके अंश का ग्रहण कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं किन्तु निरवयव भी सावयव हो सकता है अर्थात् व्यावर्त्य (निषेध के योग्य) अंशों (उपाधि) के द्वारा सावयव हो सकता है क्योंकि निषेध के योग्य अंशों के निषेध होने से ब्रह्म ही शेष रहता है। भावार्थ यह है कि अंश के अज्ञान में भ्रम मानोगे तो घटज्ञान भ्रम हो जायगा और निरवयव भी निषेध के योग्य उपाधिक भेदन से सावयव होता है।।५५।।

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ।।५६।।

अब व्यावर्त्य अंशों को दिखाते हैं कि जैसे परोक्षज्ञान से असत्तारूप अंश की निवृत्ति होती है ऐसे ही अपरोक्ष ज्ञान से अभान अंश की निवृत्ति की जाती है।।५६।।

दशमोऽस्तीति विभ्रांतं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ।।५७।।

अपरोक्षता से ग्रहण के योग्य है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नहीं होता इस बात को दृष्टांत दिखाकर दृढ़ करते हैं कि दशवां है इस आप्त के वाक्य से पैदा हुआ परोक्ष ज्ञान जैसे भ्रम नहीं होता इसी प्रकार 'ब्रह्म है' इस वाक्य से पैदा हुआ ज्ञान या भ्रम न होगा, क्योंकि अज्ञान से किया असत्त्व अंश का आवरण दोनों स्थानों में सम हैं।।५७।।

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ।।५८।।

कदाचित् कहो कि वाक्य से परोक्षज्ञान होता है तो अपरोक्ष ज्ञान किससे होता है इस शंका के विचार सहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति को कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म है इस महावाक्य के संपूर्ण अर्थ का भले प्रकार विचार करने पर प्रथम ब्रह्म है इस परोक्षरूप से जाना जो ब्रह्म है वही प्रत्येक से अभिन्न (एक) जाना जाता है–उसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे दशवां तू है इस वाक्य से अपनी आत्मा में दशवें का ज्ञान होता है।।५८।।

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ।।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ।।५९।।

अब विचार है सहकारी जिसका ऐसे वाक्य से अपरोक्षज्ञान का उत्पत्ति का प्रकार दृष्टांतसहित वर्णन करते हैं कि तुममें दशवां है इस वाक्य से निरूपण किया दशवां कौनसा है? यह प्रश्न करने पर–तू ही दशवां है इस प्रकार जब प्रश्न का उत्तर दे दिया तब अपने आत्मासहित इतर नव पुरुषों को गिनकर मैं ही दशवां हूं इस प्रकार अपने आत्मारूप दशवें को जानता है।।५९।।

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।।
आदिमध्यावसानेषु न नवस्वस्य संशयः ।।६०।।

मैं दशवां हूं–इस ज्ञान को विचारसहित वाक्य से जनित उत्पन्न होने से विपर्यय के अभाव का वर्णन करते हैं कि इस दश में मनुष्य को तू ही दशवां है गिनतीरूप विचारसहित इस वाक्य से पैदा हुई जो मैं दशवां हूं यह बुद्धि वह किसी ज्ञान से भी नहीं बांधी जाती और गिनती करने में नौ मनुष्यों के आदि मध्य अन्त में गिनने पर भी मैं दशवां हूं वा नहीं हूं यह संशय इसको नहीं होता इससे वह अपरोक्षरूपी बुद्धि दृढ है।।६०।।

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।।
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत ।।६१।।

इस पूर्वोक्त सबको दार्ष्टांतिक मे दिखाते हैं–'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'–हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि से पूर्व सत्‌रूप हुआ और एक अद्वितीय ब्रह्म हुआ इत्यादि वाक्य से प्रथम ब्रह्म के सद्भाव को निश्चय करके फिर उसके जीवरूप से प्रवेश आदि युक्ति के पर्यालोचन देखने से 'प्रत्यग्रूप की संभावना करके तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से व्यक्ति का समुल्लेख करे अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म आत्मा को, 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसे साक्षात् जाने। भावार्थ यह कि 'सदेव' इत्यदि वाक्य के द्वारा परोक्षरूप से ब्रह्म की सत्ता को जानकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार व्यक्ति का उल्लेख करे।।६१।।

आदिमध्येवसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ।।६२।।

यह आत्मा की ब्रह्मबुद्धि पूर्वोक्त पांच कोशों के आदि मध्य अवसान के विषे व्यवहार होने पर भी व्यभिचार को प्राप्त नहीं होती अर्थात् अन्यथा नहीं होती इससे इस बुद्धि की अपरोक्षता भले प्रकार स्थित है।।६२।।

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरः ।।
परोक्ष्येण गृहीत्वाऽथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ।।६३।।

प्रथम वाक्य से परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है और पश्चात् विचारसहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान होता है इसको तैत्तिरीय आदि श्रुति से दिखाते हैं कि भृगु नाम का कोई ऋषि 'यतो वा इमानि' (जिससे ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर जिससे जाते हैं और जिसमें प्रलय होकर प्रवेश करते हैं हे भृगो! तू उसको ब्रह्म जान) इस वाक्य से सुने, जगत् के कारण आदि लक्षण से जगत् के कारण ब्रह्म को परोक्षरूप से जानकर फिर विचार से व्यक्ति को देखता हुआ अर्थात् अन्नमय आदि पांच कोशों के विचार से प्रत्यगात्मरूप ब्रह्म को जानता हुआ। भावार्थ यह है कि पहिले समय में भृगु ऋषि जन्म आदि के कारणरूप लक्षण से परोक्षज्ञान से ब्रह्म को जानकर विचार से ब्रह्म को देखता हुआ।।६३।।

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ।।६४।।

कदाचित् कहो कि इस प्रकरण में 'तू ब्रह्म है' इत्यादि वाक्य नहीं है इससे भृगु को कैसे ब्रह्म साक्षात्कार हुआ। सो ठीक नहीं? क्योंकि यद्यपि पिता ने तू 'ब्रह्म है' यह वाक्य नहीं कहा तथापि अन्न प्राण आदि आत्मसाक्षात्कार के हेतु विचार के योग्य स्थल पिता ने कह दिये थे।।६४।।

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।।
आनंदव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ।।६५।।

कदाचित् कहो कि अन्नमय आदि कोशों के विचार करने पर प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार हो ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हुआ? सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यग् भी ब्रह्म है पंचकोशों के विचार से आनंदरूप आत्मव्यक्ति को जानकर आनंद से ही ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनंद से जीते हैं और आनंद में ही प्रलय होकर प्रवेश करते हैं इस प्रकार के जो ब्रह्म के लक्षण उनको प्रत्यग् में भी भृगु युक्त करता हुआ।। भावार्थ यह है कि अन्न प्राण आदि कोशों में भले प्रकार बारंबार विचार कर आनंदव्यक्ति को जानकर उसमें ब्रह्म के लक्षणों को जानता हुआ।।६५।।

सत्यंज्ञानमनंतं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ।।६६।।

कदाचित् कहो कि आनंदात्मरूप ब्रह का लक्षण प्रत्यक् में न मिल सकेगा क्योंकि तटस्थ ब्रह्म प्रत्यक् भिन्न है सो ठीक नहीं, क्योंकि सत्य ज्ञान अनंतरूप जो ब्रह्मस्वरूप

के लक्षण हैं उनका वर्णन करके जो परम आकाशरूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है इस वाक्य से पंचकोशरूप गुहा के मध्यम स्थित उस ब्रह्म को ही प्रत्यक्रूप कहा है। भावार्थ यह है कि सत्य ज्ञान अनंतरूप ब्रह्म के लक्षणों को कहकर पंचकोशरूप गुहाओं में स्थित प्रत्यक् को ही ब्रह्मरूप दिखाया है।।६६।।

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ।।६७।।

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के देखने से भृगु को परोक्षज्ञान के द्वारा विचार से साक्षात् कार को दिखाकर छांदोग्य की श्रुति से भी साक्षात्कार को दिखाते हैं कि इन्द्र भी 'जो आत्मा पापरहित जरा मृत्यु शोक इनसे हीन है' इत्यादि वाक्य से आत्मा को परोक्षरूप से जानकर विचार से तीनों शरीरों के निराकरण द्वारा ब्रह्म को साक्षात् करने के लिये चार बार ब्रह्मरूप गुरु के समीप गया, यह छांदोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय में श्रुति है। भावार्थ यह है कि इन्द्र आत्मा इत्यादि लक्षणों से परोक्षरूप से ब्रह्म को जानकर अपरोक्ष करने के लिये चार बार ब्रह्मा के समीप गये।।६७।।

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ।।६८।।

अब ऐतरेय श्रुति से भी यही दिखाते हैं कि आत्मारूप ही यह जगत् सृष्टि से पहिले हुआ अन्य कुछ भी न हुआ इस वाक्य से ब्रह्म के लक्षण को कहकर वह देखता हुआ कि मैं लोकों को रचूं इसको प्रारम्भ करके उसके तीन आवसथ हैं अर्थात् तीन स्वप्न हैं (यह आवसथ हैं ३) इस वाक्य से परमात्मा में जगत् के अध्यारोपप्रकार को कहकर वह उत्पन्न होकर भूतों को देखता हुआ यह अन्य किसको कहा इस वाक्य से आरोप कियेके निषेध को कहकर वह इसी विस्तृत पुरुष ब्रह्म को देखता हुआ कि मैंने ब्रह्म को देखा इस प्रकार प्रत्यगात्मा को ब्रह्मरूप कहा है फिर इस जगत् में पुरुषजीव इत्यदि ग्रंथ से ज्ञानसाधन वैराग्य की उत्पत्ति के लिये गर्भवास आदि दुःखों को दिखाकर कौन यह आत्मा है जिसकी हम उपासना करते हैं इत्यादि ग्रंथ से विचारके द्वारा तत् त्वं पदार्थ के शोधनपूर्वक प्रज्ञान ब्रह्म है इस श्रुति से प्रज्ञानरूप आत्मा को ब्रह्मरूपता दिखायी है। भावार्थ यह है कि 'आत्मा वै इदं०' इत्यादि श्रुति में परोक्ष ब्रह्म दिखाया फिर अध्यारोप और अपवाद से प्रज्ञानब्रह्म दिखाया है।।६८।।

अवांतरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ।।६९।।

अन्य श्रुतियों में भी इसी न्याय को दर्शाते हैं कि अवांतर (मध्य के) वाक्य से तो परोक्षरूप से ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्यों के विचार से तो सर्वत्र ही अपरोक्षज्ञान होता है।।६९।।

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ।।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ।।७०।।

कदाचित् कहो कि महावाक्य के विचार से अपरोक्षज्ञान होता है यह अपने कपोलों से कल्पित है सिद्धांत नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यवृत्ति ग्रंथ में आचार्यों ने यह कहा है कि ब्रह्म की अपरोक्षता–सिद्धि के लिये जो वह महावाक्य कहा है इससे महावाक्यों से पैदा हुए अपरोक्षज्ञान में विवाद नहीं होता है अर्थात् वह सिद्धांत है।।७०।।

आलंबनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।।
अंतःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ।।७१।।

अब वाक्यवृत्ति के कथन का प्रकार वर्णन करते हैं कि जो अंतःकरण संभिन्न बोध अर्थात् अंतःकरणोपाधिक चिदात्मा 'अहम्' (मैं) इस शब्द और 'अहम्' इस ज्ञान को आलंबन (ले) करके भासता है वह बोध त्वंपद का वाच्य (अर्थ) है।।७१।।

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वदिलक्षणः ।।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ।।७२।।

अब त्वत्पदके वाच्य अर्थ को कहकर तत्पद के अर्थ को कहते हैं कि परोक्षता से शबल अर्थात् परोक्षत्वधर्मविशिष्ट और सत्य ज्ञानरूप आत्मा (रूप) है जिसका ऐसा और माया जिसकी उपाधि है और जो सर्वत्र है वह तत्पद का वाच्य (अर्थ) है।।७२।।

प्रत्यक्रोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।।
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ।।७३।।

इस प्रकार पदों के अर्थों को कहकर वाक्यार्थ बोध के लिये लक्षणावृत्ति के स्वीकार को दिखाते हैं कि जिससे एक ब्रह्म में प्रत्यक् परोक्षता और द्वितीय सहित होने से पूर्णता ये दोनों विरुद्ध हैं, इससे लक्षणावृत्ति प्रवृत्त होती है अर्थात् लक्षणा मानने योग्य है।।७३।।

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ।।७४।।

अब लक्षणा का स्वरूप वर्णन करते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों में स्थित पदों के समान लक्षणा, भागलक्षणा अर्थात् जहत् अजहत् लक्षणा होती है और न जहत् लक्षणा है और न अजहत् लक्षणा होती है जिसमें पदों का अर्थ कुछ छोड़कर और कुछ लेकर बोध हो वह जहत् अजहत् लक्षणा होती है, पद के अर्थ का त्याग है वह जहत् और जिसमें त्याग न हो वह अजहत् लक्षणा होती है।।७४।।

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।।
अखंडैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ।।७५।।

कदाचित् कहो कि 'गाम् आनय' (गौ को ले आ) इत्यादि वाक्यों में लक्षणावृत्ति के विना भी जैसे वाक्यार्थबोध को देखते हैं तैसे ही यहां भी हो जायगा सो ठीक नहीं कि जगत् में 'गाम् आनय' इत्यादि पदों से स्मरण कराये जो आकांक्षा योग्यता आदिवाले गौ आदि पदार्थ हैं उनका अन्वय (संबंध) वाक्यार्थ माना है जैसे नील वड़ा सुगंधि कमल है इत्यादि वाक्यों में नीलत्वविशिष्ट कमल ही वाक्यार्थ माना है इस प्रकार से यहां महावाक्यों में वाक्यार्थता नहीं होती अर्थात् संसर्गसंबंध वा विशिष्ट को वाक्यार्थ नहीं मानते किंतु अखंडैकरसता से अर्थात् स्वागत आदि भेदों से शून्य वस्तुमात्र को ही बुद्धिमान् मनुष्य वाक्य का अर्थ मानते हैं इससे लक्षणा का आश्रय करना योग्य है। भावार्थ यह है कि यहां संसर्ग वा विशिष्ट वाक्यार्थ संमत नहीं किंतु बुद्धिमानों ने अखंड एकरस ब्रह्मवाक्य का अर्थ माना है इससे लक्षणा माननी।।७५।।

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानंदलक्षणः ।।
अद्वयानंदरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ।।७६।।

अब अंखड एकरस वाक्यार्थ को दिखाते हैं कि जो प्रत्यग्बोध अर्थात् सबके मध्य में चिदात्मा भासता है बुद्धि आदि का साक्षी फुरता है वह अद्वयानंदलक्षण है अर्थात् अद्वितीय आनंदरूप परमात्मा है और जो अद्वयानंद रूप है वह प्रत्यक् बोधैकलक्षण है अर्थात् चित्त एकरस प्रत्यक् आत्मा ही है। तात्पर्य यह है कि अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि दोनों के विरुद्ध अंशों को छोड़कर भागलक्षणा से चित्रूप एक आत्मा का ज्ञान होता है।।७६।।

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ।।७७।।

अब अखंडार्थ बोध के फल को दिखाते हैं कि इस प्रकार जब परस्पर तादात्म्य का ज्ञान हो जाता है अर्थात् एकता हो जाती है उसी समय त्वंपद के अर्थ की अब्रह्मता (ब्रह्मभेद) निवृत्त हो जाती है अर्थात् ब्रह्म हो जाता है।।७७।।

तदर्थस्य च परोक्ष्यं यद्येवं किं ततः श्रृणु ।।
पूर्णानंदैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ।।७८।।

त्वंपद के अर्थ प्रत्यक् आत्मा को अब्रह्मत्व है और ब्रह्मरूपता भ्रम है और तत्पद के अर्थ ब्रह्म का पारोक्ष्य अर्थात् परोक्षज्ञानैकविषयता निवृत्त हो जाती है इससे क्या होगा इस आशय से पूछते हैं कि यदि तत् का अर्थ परोक्ष है तो इससे क्या होगा? इसका उत्तर सुनो कि पूर्ण आनंद एकरूप से प्रत्यक् बोध की स्थिति हो जाती है।।७८।।

एवं सति महावाक्यापरोक्षज्ञानमीर्यते ।।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धांतविज्ञानं शोभतेतराम् ।।७९।।

कदाचित् कहो कि समय केवल सम्यक् (भले प्रकार) परोक्षानुभव का साधन शास्त्र हैं, यह आगम का लक्षण है इससे वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक कैसे होगा? इस शंका का उत्तर यह देते हैं कि यह सिद्धांत ज्ञान से शून्य है कि जो महावाक्य से परोक्षज्ञान को कहते हैं उनका शास्त्रसिद्धांत का ज्ञान भले प्रकार शोभित है अर्थात् वे शास्त्रसिद्धांत को नहीं जानते हैं।।७९।।

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धांतो युक्त्या वाक्यात्परोक्षधीः ।।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ।।८०।।

कदाचित् कहो कि शास्त्र का सिद्धांत रहे वाक्य से परोक्षज्ञान अनुमान से हो जायगा सो भी ठीक नहीं शास्त्र सिद्धांत रहो युक्ति के द्वारा स्वर्ग आदि के समान वाक्य से अर्थात् इस अनुमान से कि विवाद का आस्पद वाक्य परोक्ष ज्ञान का जनक होने योग्य है वाक्य होने से स्वर्ग आदि वाक्य के समान–परोक्षज्ञान हो जायगा यह हेतु व्यभिचारी है इस अभिप्राय से परिहार करते हैं कि ऐसा मत कहो कि दशवां तू है इस वाक्य में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता देखते हैं इससे यह नहीं कह सकते कि जहां जहां वाक्यत्व हो वहां २ परोक्ष ज्ञान की जनकता हो भावार्थ यह है कि शास्त्र का सिद्धांत रहो अनुमान के द्वारा वाक्य से स्वर्ग आदि के समान परोक्षज्ञान हो जायगा ऐसा मत कहो क्योंकि 'दशवां तू है' यहां वाक्य से अपरोक्षज्ञान देखते हैं

इससे तुम्हारे अनुमान में व्यभिचार है।।८०।।

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवांछतः ।।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ।।८१।।

और त्वम्पद का अर्थ जीव–स्वयम् अपरोक्ष है ब्रह्मत्व की इच्छा करते हुए उसका स्वतः सिद्ध अपरोक्षत्व भी नष्ट हो जायगा इससे यह तुम्हारी युक्ति आश्चर्य की जनक महती (बड़ी) है अर्थात् अपरोक्षज्ञान के जनक महावाक्य को परोक्षज्ञान का जनक कहना असंगत है।।८१।।

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ।।८२।।

कदाचित् कहो कि हम इसको ही इष्ट मानेंगे सो ठीक नहीं वृद्धि को चाहते हुए पुरुष का मूल भी नष्ट हो गया यह लौकिक कथन तुम्हारी ही कृपा से सार्थक हुआ।।८२।।

अंतःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।।
अहत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपादितः ।।८३।।

कदाचित् कहो कि अंतःकरणसंभिन्न बोध अर्थात् अन्तःकरणोपाधि के होने से जीव अपरोक्षता के योग्य है और निरुपाधिक ब्रह्म अपरोक्षता के योग्य नहीं।।८३।।

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ।।८४।।

ब्रह्म भी निरुपाधि के नहीं हो सकता इस आशय से उक्त शंका का परिहार करते हैं कि जीव को ब्रह्मरूपता का जो ज्ञान है वह सोपाधिक वस्तुविषयक है इससे उस ज्ञान का विषय जो ब्रह्म है वह भी सोपाधिक है क्योंकि ज्ञान की सोपाधि विषयता ज्ञेय का सोपाधिकता के बिना नहीं घटती और विदेह कैवल्य से प्रथम ब्रह्म की उपाधि का निवारण नहीं हो सकता।।८४।।

अंतःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ।।८५।।

कदाचित् कहो कि जीव ब्रह्म की विलक्षण दो उपाधि कहनी चाहिये इस शंका के उत्तर में लिखते हैं कि जीवभाव और ब्रह्मभाव की उपाधि अन्तःकरण का साहित्य और अंतःकरण का राहित्य ही है अर्थात् अन्तःकरण से सहित जीव और अंतः करण रहित ब्रह्म है अन्यथा नहीं।।८५।।

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ॥
सुवर्णलोहभेदेन श्रृंखलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

कदाचित् कहो कि भावरूप अंतःकरण का संवंध उपाधि रहो अभावरूप अंतःकरणराहित्य को उपाधि मानना अनुचित है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि कार्य की अवधिपर्यंत टिकनेवाले भेद का जो हेतु उसको उपाधि कहते हैं यह उपाधि का लक्षण अंतःकरण के साहित्य और राहित्य दोनों में हैं इससे दोनों ही उपाधि हैं इस अभिप्राय से उक्त शंका का परिहार करते हैं कि जिस प्रकार भावरूप अंतःकरण संबंध उपाधि है वैसे ही अभावरूप अन्तःकरण का वियोग भी उपाधि क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा। कदाचित् कहो कि भाव अभावरूप विलक्षणता तो दीखती है सो ठीक नहीं क्योंकि वह अकिंचित्कर है इससे स्वीकार के योग्य नहीं इस अभिप्राय से दृष्टांत कहते हैं कि सुवर्ण और लोहे के भेद से श्रृंखला में भेद नहीं होता अर्थात् पुरुष के गमन की विरोधकता दोनों में तुल्य है॥८६॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ॥
वेदांतानां प्रवृत्तिः स्याद् द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

विधि के समान निषेध भी ब्रह्मबोध का उपाय है इससे निषेध ब्रह्म की उपाधि है यह दृढ़ करने के लिये विधि निषेध दोनों को जो ब्रह्मबोध का उपाय आचार्यों ने कहा है उसको दिखाते हैं कि तत् शब्द से ब्रह्म और असत् शब्द से अज्ञान आदि लेते हैं 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से जो अतत् की व्यावृत्ति अर्थात् प्रपंच के निरसन (त्याग) रूप उपाय से और साक्षात् विधिमुख से अर्थात् सत्यरूप ब्रह्म है इससे वेदान्तों की प्रवृत्ति दो प्रकार से है अर्थात् विधि और निषेध मुख से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं यह आचार्यों का कथन है भावार्थ यह है कि ब्रह्मभिन्न के निषेध (उपनिषदों) की प्रवृत्ति ब्रह्म में आचार्यों ने कही है॥८७॥

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ॥
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

कदाचित् कहो कि अतत् के निषेध रूप से वेदांतों को ब्रह्म का बोधक मानोगे तो अहं शब्द के अर्थ कूटस्थ को भी त्याग हो जायगा तो अहम् (मैं) ब्रह्म हूं यह बुद्धि अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) यह दोनों की समानाधिकरणता (एक अर्थ) न होगी, इस शंका को करके उत्तर देते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षण से अहं शब्द का अंश (एकदेश) जो जड़रूप अंश उसका त्याग कहा है कूटस्थ का नहीं, इससे मैं ब्रह्म हूं, यह ज्ञान हो सकता है, भावार्थ यह है कि अहंशब्द के भी अर्थ के

निषेध से 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान कैसे होगा, ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षणा से जड़ अंश का त्याग कहा है।।८८।।

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ।।८९।।

अब अंश के त्याग से बोध के प्रकार को दिखाते हैं कि अंतःकरणरूप उपाधि के त्याग होने पर जब चिदात्मा शेष रह गया तब 'अहं ब्रह्म अस्मि' इस वाक्य से मुमुक्षु पुरुष साक्षी के विषे ब्रह्मत्व को देखता है।।८९।।

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।।
फलव्याप्तत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।।९०।।

कदाचित् कहो कि प्रत्यग् आत्मा को स्वप्रकाश होने से बुद्धिवृत्ति की विषयता न घटेगी अर्थात् बुद्धि का विषय न होगा, इस शंका के उत्तर को कहते हैं कि स्वप्रकाश भी साक्षी ही घट आदि के समान धी (बुद्धि) की वृत्ति से व्याप्त होता है क्योंकि मैं स्वप्रकाश हूं, ऐसी बुद्धि की वृत्ति हो सकती है, कदाचित् कहो कि सिद्धांत का भंग होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रकार पहले आचार्यों ने फल जो वृत्ति में प्रतिबिंबित चिदाभास उसकी ही इस प्रत्यगात्मा को व्याप्यता का निराकरण (निषेध) किया है क्योंकि यह स्वयं स्फुरण (प्रकाश) रूप है, वृत्ति की व्याप्यता का निषेध नहीं किया। भावार्थ यह है कि स्वप्रकाश भी साक्षी घट आदि के समान बुद्धि की वृत्ति से व्याप्त होता है क्योंकि शास्त्रकारों ने इस प्रत्यगात्मा को फलव्याप्यता का निषेध किया है बुद्धि की व्याप्यता का नहीं।।९०।।

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।।९१।।

आत्मा को फलव्याप्ति का अभाव दिखाने के लिये आत्मा से भिन्न को वृत्ति और फल की व्याप्यता को दिखाते हैं कि बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास ये दोनों घट में व्याप्त होते हैं अर्थात् पहुँचते हैं, उन दोनों के मध्य में बुद्धि की वृत्ति से तो अज्ञान का नाश होता है और चिदाभास से घट का स्फुरण होता है क्योंकि जड़रूप घट का स्वतः स्फुरण नहीं हो सकता है।।९१।।

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।।
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ।।९२।।

अब आत्मा में घट आदि की अपेक्षा विलक्षणता को दिखाते हैं कि प्रत्यक् और ब्रह्म की एकता अज्ञान से आवृत्त (छिपी) है उस अज्ञान की निवृत्ति के लिये महावाक्यों से

पैदा हुई जो 'मैं ब्रह्म हूं' यह बुद्धि की वृत्ति उससे उसकी व्यप्ति ब्रह्म में अपेक्षित है और ब्रह्म को स्वयं स्फुरणरूप होने से चिदाभास का उपयोग ब्रह्म में नहीं है।।९२।।

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दशने यथा ।।
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ।।९३।।

पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टांत दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि जैसे घट के देखने में चक्षु और दीपक दोनों की अपेक्षा है और दीपक के देखने में दोनों की अपेक्षा नहीं है किंतु एक चक्षु की ही अपेक्षा है वैसे ही अज्ञान की निवृत्ति के लिये ब्रह्म में बुद्धि वृत्ति की अपेक्षा है, चिदाभास की नहीं।।९३।।

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत्परम् ।।
न तु ब्रह्मण्यतिशयफलं कुर्याद्धटादिवत् ।।९४।।

बुद्धि और उसकी वृत्ति चिदाभास से विशिष्ट है इसमें घट आदि के समान ब्रह्म में भी बल से फलव्याप्ति हो जायगी, इस शंका का उत्तर कहते हैं कि यद्यपि घट आदि आकार की वृत्ति से समान ब्रह्मविषयक वृत्ति में भी चिदाभास है तथापि यह चिदाभास ब्रह्म से पृथक् नहीं भासता किंतु प्रचंड धूप में वर्तमान दीपक का प्रभा के समान एकरूपता को प्राप्त हो जाता है इससे घट आदि के समान स्फुरणरूप अधिक फल को ब्रह्म में नहीं करता है।।९४।।

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ।।९५।।

अब ब्रह्म में वृत्तिव्याप्ति है फलव्याप्ति नहीं है इससे वेद को प्रमाण देते हैं कि जो निर्विकल्प अनंत हेतु दृष्टांत से वर्जित अप्रमेय अनादि है उसको जानकर मुक्त होता है इस अमृतबिंदु उपनिषद् के मंत्र में अप्रमेय शब्द से फलव्याप्ति से रहित कहा है और मन से ही यह ब्रह्म प्राप्त होने योग्य है इस जगत् में किंचित् भी नाना नहीं है, इन मंत्रों से कठवल्ली में बुद्धिव्याप्यता (वृत्तिव्याप्यता) श्रुति में कही है इससे ब्रह्म फलव्याप्य नहीं है किंतु बुद्धिव्याप्य है।।९५।।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ।।९६।।

'आत्मानं चेद्विजानीयात०' इस मंत्र से अपरोक्षज्ञान और शोकनिवृत्तिरूप दोनों जीव की अवस्था पहले कह आये हैं, उन दोनों में कितने अंश से अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है इसका वर्णन करते हैं यह आत्मा मैं हूं, इस प्रकार यदि आत्मा को जाने इस वाक्य से सत्य आदि हैं लक्षण जिसके ऐसे ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा के स्वरूप को

विषय करके जो बोध होता है अर्थात् 'ब्रह्माहमस्मि' (ब्रह्म मैं हूं) यह ज्ञान होता है वह कहा जाता है॥९६॥

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ॥
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥९७॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीति के अनुसार एक बार ही महावाक्यों के विचार से अपरोक्षज्ञान हो जायगा इससे बारंबार आचार्यों के उपदेश से श्रवण आदि की आवृत्ति (पुनः पुनः करना) होती है इत्यादिको में कहा जो श्रवण आदि का आवर्तन वह न करना चाहिये, इस शंका का उत्तर देते हैं कि यद्यपि महावाक्यों से पूर्वोक्त अपरोक्ष बोध एक बार के ही विचार से हो जाय तथापि वह बोध दृढ़ नहीं हो सकता इससे श्रीमान शंकराचार्यों ने वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति के अनंतर भी फिर श्रवण आदि का आवर्तन कहा है अर्थात् ज्ञान की दृढ़ता के लिये पुनः पुनः श्रवण आदि का करना कहा है॥९७॥

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ॥
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

अब शंकराचार्य के वाक्य को ही लिखते हैं जब तक 'अहं ब्रह्म' इस वाक्य के अर्थ का बोध दृढ़ हो तब तक शम दम आदि से संपन्न मुमुक्षु श्रवण आदि का अभ्यास करे॥९८॥

बाढ संति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ॥
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

कदाचित् कहो कि वाक्य प्रमाणों से जनित ज्ञान की अदृढ़ता किससे होती है यह शंका करके कहते हैं कि यह बात सत्य है कि ज्ञान की अदृढ़ता के हेतु जिसमें कहैं कि श्रुतियों की अनेकता अर्थात् किसी श्रुति में कोई हेतु और किसी से कोई कहा है और अद्वितीय ब्रह्मरूप अर्थ को अलौकिक होने से असंभावना और पुनः कर्त्ता आदि अभिमानरूप विपरीत भावना ये तीन हेतु ज्ञान की अदृढ़ता के हैं इससे अपरोक्षानुभव की दृढ़ता के लिये श्रवण आदि की आवृत्ति करने योग्य है। भावार्थ यह है कि ज्ञान की अदृढ़ता के हेतु श्रुतियों का भेद और अर्थ की असंभावना और विपरीत भावना ये जिससे सर्वथा है इससे पुनः पुनः श्रवण आदि करने॥९९॥

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथान्यथा ॥
एवमत्रापि मा शंकीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

इस प्रकार तीन अदृढ़ता के हेतुओं को दिखाकर श्रुतियों के भेद से पैदा हुई

अदृढ़ता की निवृत्ति के लिये श्रवण आदि की आवृत्ति करनी इसका वर्णन करते हैं कि जैसे शाखा के भेद से कर्म का भेद सुना है कि होता का कर्म ऋग्वेद से अध्वर्यु का यजुर्वेद से उद्‌गीथ का सामवेद से करे और जैसे कामना के भेद से कर्म का भेद सुना है कि वृष्टि का अभिलाषी कारीरी यज्ञ करे और आयु का कामी शतकृष्णल यज्ञ करे इसी प्रकार यहा उपनिषदों में भी शंका मत करे इससे पुनः पुनः श्रवण को करे।।१००।।

वेदांतानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ।।१।।

अब श्रवण आदि का लक्षण कहते हैं कि संपूर्ण उपनिषदों का आदि मध्य अंत के विषे उपक्रम और उपसंहार को देखने से ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा के विषे ही तात्पर्य है इस निश्चयात्मक बुद्धि को श्रवण कहते हैं।।१।।

समन्वयाध्याय एतत्सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ।।
तर्कैः सभावनाऽर्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ।।२।।

यह श्रवण व्यास आदिकों ने समन्वयध्याय के विषे भले प्रकार कहा है और बुद्धि को स्वस्थ करनेवाले युक्ति शब्द नाम के तर्कों से अर्थ की संभावनारूप मनन दूसरे अध्याय में निरूपण किया है।।२।।

बहुजन्मदृढ़ाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ।।३।।

अब विपरीत भावना और उसकी निवृत्ति के उपाय को दिखाते हैं जैसे बहुत जन्मों के दृढ अभ्यास से देह आदि में क्षण क्षण में आत्मबुद्धि होती है इसी प्रकार जगत् की सत्यत्व बुद्धि भी पुनः पुनः उदय होती है।।३।।

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ।।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ।।४।।

अब विपरीत भावना की निर्वतक एकाग्रता को कहते हैं कि यह विपरीत भांवना अर्थात् जगत् में सत्यत्व बुद्धि; चित्त की एकाग्रता से निवृत्त होती है और वह एकाग्रता ब्रह्मोपदेश से पहिले भी सगुण ब्रह्म की उपासना से होती है।।४।।

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिंतिताः ।।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्‌भवेत् ।।५।।

अब वेदांतशास्त्र में किये उपासनाविचार का वर्णन करते हैं कि इस ब्रह्मशास्त्र में भी उपासनाओं का विचार किया है और जिसने उपासना पहले नहीं की उसको भी

ब्रह्म के अभ्यास से पश्चात् भी चित्त की एकाग्रता हो जाती है।।५।।

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।।६।।

अब ब्रह्म के अभ्यास को कहते हैं कि ब्रह्म का चिन्तन ब्रह्म का कथन और परस्पर ब्रह्म का प्रबोधन इस प्रकार एक ब्रह्म में ही तत्पर रहना बुद्धिमान् मनुष्यों ने इसको ही ब्रह्म का अभ्यास कहा है।।६।।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ।।७।।

एक ब्रह्म में ही एकाकार तत्परता दिखाने के लिये श्रुति को कहते हैं कि ब्रह्मचर्य आदि साधना से संपन्न धीर ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म होने की इच्छावाला मुमुक्षु मनुष्य उसी प्रत्यक्‌रूप परमात्मा को जानकर अर्थात् निःसंदेह रूप से समझकर प्रज्ञा को अर्थात् ब्रह्म-आत्मा की एकता का जो ज्ञान उसकी संतानरूप एकाग्रता को करे अर्थात् ब्रह्मात्मैकता बुद्धि को स्थिर करे और आत्मा से भिन्न का जिनमें वर्णन हो ऐसे बहुत से शब्दों का स्मरण न करे और न कहे क्योंकि वह स्मरण और ध्यान वाणी और मन का विग्लापन (श्रम का हेतु) है, सिद्धांत यह है कि अन्य शब्दों के स्मरण में मन का और कहने में वाणी का वृथा परिश्रम होता है। भावार्थ यह है कि धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्म को जानकर प्रज्ञा का संपादन करे और वाणी को श्रम देनेवाले बहुत से शब्दों का स्मरण न करे।।७।।

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।८।।

अब एकाग्रता की बोधक श्रुति को कहकर स्मृति को कहते हैं कि जो मनुष्य अनन्य होकर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान से मुझसे अभिन्न (एकरूप) हुए मेरी चिंता करके उपासना सब कालों में करते हैं अर्थात् सदैव मेरा रूप रहते हैं, सदैव मुझमें है चित्त जिनका ऐसे उनको मैं योगक्षेम देता हूं अर्थात् उनके अलभ्य की प्राप्ति और लब्ध की रक्षा करता हूं, भावार्थ यह है कि जो जन अनन्य होकर मेरी चिंता से उपासना करते हुए नित्य मुझमें लगे हुए हैं, उनको मैं योगक्षेम देता हूं।।८।।

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ।।९।।

अब पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियों के तात्पर्य को कहते हैं कि ये पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति विपरीत भावना की निवृत्ति के लिये सदैव बुद्धि की एकाग्रता के आत्मा के विषे

करती हैं अर्थात् सदैव आत्माकार बुद्धि इनसे बनी रहती है।।९।।

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ।।११०।।

अब देह में आत्मबुद्धि और जगत् में सत्यबुद्धि को विपरीत भावना दिखाने के लिये विपरीत भावना का लक्षण कहते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूप से वर्तती है उसके तत्त्व (यथार्थ) शुक्ति आदि रूप को छोड़कर अन्यथात्व की जो बुद्धि अर्थात् रजत आदि की जो बुद्धि (ज्ञान) है वह विपरीत भावना होती है अर्थात् उसमें भिन्न में उसको समझना, जैसे पिता आदि में शत्रु बुद्धि को समझना।।११०।।

आत्मा देहादिभिन्नोऽय मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ।।११।।

अब पूर्वोक्त लक्षण को प्रकृत में घटाते हैं कि यह आत्मा वस्तुतः (परमार्थ से) देह आदि से भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है, ऐसा होने पर भी देह में आत्मबुद्धि और जगत् में जो सत्यत्वबुद्धि है अर्थात् देह को आत्मा और जगत् को जो सत्य समझना है वही विपरीत भावना है।।११।।

तत्त्वभावनया नश्येत्साऽतो देहातिरिक्तताम् ।।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ।।१२।।

प्रथम एकाग्रता से वह निवृत्त होती है, इस सामान्यरूप से कहे अर्थ का विशेषरूप से वर्णन करते हैं कि वह देह में आत्मा की और जगत् में सत्यत्व की बुद्धिरूप विपरीत भावना तत्त्व की भावना से अर्थात् देह से भिन्न आत्मा के और मिथ्यारूप जगत् के ज्ञान से (सर्वदा ध्यान से) नष्ट होती है इससे आत्मा को देह से भिन्न और देह आदि जगत् को मिथ्या सदैव विचारे।।१२।।

किं मत्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वाऽऽत्मभेदधीः ।।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ।।१३।।

अब यह पूछते हैं कि जप आदि के समान यहां भी ध्यान का कोई नियम है वा नहीं है कि मंत्र के जप और मूर्ति के ध्यान के तुल्य आत्मभेदबुद्धि और जगत् की मिथ्यात्वबुद्धि, व्यावर्त्य अर्थात् त्याग करने योग्य है वा किसी अन्यरूप से त्याग करनी।।१३।।

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।।
बुभुक्षुजपवद्भुंक्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ।।१४।।

अब फल को प्रत्यक्ष होने से यहां कोई नियम नहीं इसका वर्णन करते हैं कि अन्यथा (अन्य प्रकार से) है यह तू भोजन के समान जान कदाचित् कहो कि दृष्टार्थ भोजन में भी नियम श्रुति और स्मृति में मिलते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि भोजन का अभिलाषी पुरुष जप करनेवाले के समान नियम से नहीं भोजन करता है किंतु जिस प्रकार क्षुधा की पीड़ा शांत हो उस प्रकार भोजन करता है।।१४।।

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुंक्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ।।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ।।१५।।

अब पूर्वोक्त को ही विस्तार से कहते हैं कि अन्न है तो भोजन करता है और नहीं है तो भोजन नहीं करता है किन्तु क्षुधा के विस्मरणार्थ द्यूत आदि खेल से काल को बिताता है वा अपनी इच्छा से अन्यथा जिस किसी प्रकार बैठा हुआ गमन करता सोता हुआ उस समय की क्षुधा को दूर किया चाहता है अर्थात् क्षुधा की बाधा निवृत्त किया चाहता है भोजन के नियम तो परलोक में हेतु हैं।।१५।।

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ।।१६।।

अब जप आदि में भोजन से विलक्षणता को दिखाते हैं कि नियम से जप को करे क्योंकि नियम से न करने में शास्त्र में दोष कहा है और अन्यथा करने में स्वरवर्ण के विपर्यय से अनर्थ होता है क्योंकि यह कहा है कि स्वर और वर्ण से हीन मंत्र मिथ्या होने से उस अर्थ को नहीं कहता, प्रत्युत यह वाणीरूप वज्र यजमान को नष्ट करता है जैसे स्वर के अपराध से इंद्रशत्रु (वृत्रासुर) नष्ट हुआ। यहां (इंद्रशत्रो विवर्द्धस्व) इस मंत्रमें षष्ठीतत्पुरुष समास स्वर के स्थान में कर्मधारय के स्वर का उच्चारण होता ने किया था इससे इंद्ररूप शत्रु की वृद्धि हुई, इंद्र के शत्रु वृत्रासुर की न हुई। भावार्थ यह है कि नियम से जप करे न करने में दोष है और अन्यथा करने में स्वरवर्ण के विपर्यय से अनर्थ होता है।।१६।।

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ।।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः ।।१७।।

कदाचित् कहो कि क्षुधा दृष्टबाधा का हेतु है उसकी निवृत्ति के लिये अनियम से भोजन रहे विपरीत भावना तो दृष्टबाधा का हेतु नहीं उसका निवर्तक ध्यान अदृष्टफल के लिये नियम से करना चाहिये, सो ठीक नहीं, क्योंकि क्षुधा के समान विपरीत भावना भी दृष्ट बाधा का हेतु है इससे जिस किसी उपाय से जीतने योग्य है उन उपायों के करने में कोई क्रम नहीं।।१७।।

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिंताकथनादिकः ॥
एतदेकरपरत्वेऽपि निर्बंधो ध्यानवन्नहि ॥१८॥

ब्रह्म की चिंता और कथन आदि उपाय तो पहले ही कह आये और उसकी एक परता अर्थात् एकाग्रता में निर्बंध (नियम) भी ध्यान के समान पूर्वाभिमुख आदि का नहीं है॥१८॥

मूर्तिप्रत्ययसांतत्यमन्यानंतरितं धियः ॥
ध्यानं तत्रातिनिर्बंधो मनसश्चंचलात्मनः ॥१९॥

अब ध्यान करने योग्य की चिंतारूप ध्यान में निर्बंध दिखाने के लिये ध्यान का स्वरूप कहते हैं कि बुद्धि की जो देवता आदि की मूर्तियों का विषय करनेवाली प्रतीति उनका सान्तत्य (निरंतर रहना) और उनकी विजातीय प्रतीतियों को जो व्यवधान का अभाव इसको ध्यान कहते हैं। उसके विषय चंचलरूप मन का अत्यंत निर्बंध अर्थात् जिस प्रकार निरंतर गमन में शील हस्ती अश्व आदि को एक स्तंभ आदि में बांधकर उपरोध होता है, ऐसे ही ध्यान में मन के उपरोध को अतिनिर्बंध कहते हैं॥१९॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सदुष्करम् ॥१२०॥

अब मन की चंचलता में गीतावाक्य प्रमाण देते हैं–हे कृष्ण ! यह मन चंचल है और प्रमाथी (अर्थात् पुरुष की व्याकुलता का कारण) और बलवान् अर्थात् निग्रह के अयोग्य समर्थ है और दृढ़ है अर्थात् विषय हो चाहे न हो वहां से डिगाने के अयोग्य है इससे इस मन के निग्रह (वश करना) को वायु के समान सुदुष्कर (कठिन) मानता हूं अर्थात् जिस प्रकार वायु वश में नहीं हो सकती इसी प्रकार मन का वश करना कठिन है॥१२०॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ॥
अपि वह्न्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥२१॥

अब मन के निग्रह की कठिनता मे वसिष्ठवाक्य प्रमाण देते हैं–हे राम ! महान् समुद्र के पीने और सुमेरु पर्वत के उखाडने और अग्नि के भक्षण से भी विषम (कठिन) चित्त का निग्रह है अर्थात् मनुष्य समुद्रपान आदि को कर सकता है परंतु मन को वश में नहीं कर सकता॥२१॥

कथनादौ न निर्बंधः शृंखलाबद्धदेहवत् ॥
किंत्वनंतेतिहासाद्यविनोदो नाट्यवद्धियः ॥२२॥

अब प्रकृत में उससे विषमता दिखाते हैं—श्रृंखला से बंधे देह के समान ब्रह्म के कथन चिन्तन आदि मे निर्वंध नहीं किन्तु अनेन्त इतिहास आदि में जिनके ऐसे जो लौकिक कथा, अनुकूल, युक्ति, दृष्टान्त आदि हैं उनसे—नृत्यक्रिया दर्शन के समान बुद्धि का विनोद है।।२२।।

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ।।२३।।

कदाचित् कहो कि कथा आदि से भी ब्रह्म में एक परता का विघात हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि इतिहास आदिकोंका आत्माचिद्रूप ही देह आदिरूप नहीं और जगत् मिथ्या है इसमें ही पर्यवसान (समाप्ति) होने से निदिध्यासन का विक्षेप (नाश) इतिहास आदिकों से नहीं होता।।२३।।

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ।।२४।।
अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।।
शक्यतेऽत्यंतविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ।।२५।।

कदाचित् कहो कि मुमुक्षु को इतिहास आदि का स्वीकार करोगे तो कृषि आदि के भी स्वीकार का प्रसंग हो जायगा सो ठीक नहीं, कारण कि कृषि (व्यापार) सेवा और काव्य, तर्क आदिको में प्रवृत्ति से बुद्धि का विक्षेप होता है क्योंकि उनसे तत्त्व का स्मरण नहीं होता कदाचित् कहो कि तत्त्वस्मृति के विघातक त्यागने योग्य हैं तो ज्ञानी को भोजन आदि भी त्यागने योग्य हो जायंगे सो ठीक नहीं क्योंकि भोजन आदि में ब्रह्मविचार का अनुसंधान करता हुआ मनुष्य भोजन आदि में प्रवृत्ति को अत्यंत विक्षेप से अभाव से कर सकता है क्योंकि भोजन के अनंतर फिर शीघ्र ही ब्रह्म का स्मरण होने से सर्वथा विक्षेप का अभाव है।।२४।।२५।।

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ।।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ।।२६।।

कदाचित् कहो कि समय विक्षेप का अभाव होने पर भी तत्त्व का विस्मरण होने पर मोक्षहानि हो जायगी सो ठीक नहीं, क्योंकि केवल तत्त्व के विस्मरण से अनर्थ नहीं होता किन्तु विपरीतज्ञान से होता है और शीघ्र स्मरण करते हुए मनुष्य को विपरीत ज्ञान होने का समय नहीं मिलता।।२६।।

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ।।२७।।

कदाचित् कहो कि भोजन आदि में प्रवृत्त के समान तर्क आदि के अभ्यास में प्रवृत्त मनुष्य को भी तत्त्व का स्मरण क्यों न हो जाय सो ठीक नहीं क्योंकि तर्क आदि अन्य ग्रंथों के अभ्यासकर्ता मनुष्य को तत्त्व के स्मरण का अवसर ही नहीं मिलता प्रत्युत काव्य तर्क आदि का अभ्यास तत्त्वाभ्यास का विरोधी है, इससे स्मरण किये तत्त्व की भी बल से उपेक्षा हो जाती है।।२७।।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।।
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ।।२८।।

अब स्मरण के विरोधी वाक्‌व्यवहार के त्याग में प्रमाण श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं 'उसी एक आत्मा को जानो और अन्य वाणियों को छोड़ दो क्योंकि वह आत्मा अमृत का सेतु है' यह वेद में सुना है और वैसे ही अन्य श्रुति में कहा है कि बहुत शब्दों को स्मरण न करे क्योंकि वाणी का परिश्रम है।।२८।।

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रांतरं त्यजन् ।।
किं न जीवसि येनैव करोष्यत्र दुराग्रहम् ।।२९।।

कदाचित् कहो कि तत्त्व के स्मरण से भिन्न भोजन आदि को जैसे नहीं त्यागते, ऐसे ही अन्य शास्त्रों के अभ्यास को भी न त्यागो सो ठीक नहीं भोजन आदि को त्यागता हुआ मनुष्य नहीं जीता अर्थात् मर जाता है क्या अन्य शास्त्रों को त्यागता हुआ तू न जीवेगा जिससे अन्य शास्त्रों के अभ्यास में ऐसा दुराग्रह (हठ) करता है।।२९।।

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ।।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ।।१३०।।

कदाचित् कहो कि तत्त्व के ज्ञानी भी जनक आदिकों ने किस प्रकार राज्य किया, ऐसा कहोगे तो उसका उत्तर यह है कि दृढ़ अपरोक्ष आत्मज्ञान से किया। यदि वैसा ही अपरोक्ष ज्ञान आपको है तो तर्कशास्त्र को पढ़ वा कृषि को कर अर्थात् जनक आदि के समान तर्क का पढ़ना और कृषि का करना तेरे भी तत्त्वज्ञान के बाधक न होंगे।।१३०।।

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकांक्षया ।।
अक्लिश्यंतः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ।।३१।।

संसार को असार जानते हुए भी जनक आदि क्यों संसार में प्रवृत्त होते हैं इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि मिथ्या वासना की दृढता होने पर भी अवश्य होनेवाला है फल जिसका ऐसे प्रारब्धकर्म के भोग द्वारा क्षय की इच्छा क्लेश को प्राप्त न होते हुए अपने अपने कर्म के अनुसार जनक आदि संसार में प्रवृत्त होते हैं।।३१।।

अतिप्रसंगो मा शक्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ॥
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥३२॥

कदाचित् अनाचार में भी प्रवृत्ति हो जायगी सो ठीक नहीं, अपने कर्म के वश में मनुष्य वर्तते हैं, इससे अतिप्रसंग (शंका) न करना चाहिये और वा उसी प्रारब्धकर्म के बल से अतिप्रसंग भी रहो क्योंकि कर्म का निवारण कौन कर सकता है, यह तुम हो॥३२॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ॥
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥३३॥

अब ज्ञानी और अज्ञानी की विलक्षणता को कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी के इस संसार में प्रारब्धकर्म यद्यपि समान है परन्तु धीरता से ज्ञानी को क्लेश नहीं और मूढ़ मनुष्य अज्ञान से क्लेश भोगता है॥३३॥

मार्गे गंत्रोर्द्वयोः श्रांतौ समायामप्यदूरताम् ॥
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥३४॥

उसमें दृष्टांत कहते हैं कि मार्ग में चलते दो मनुष्यों की श्रांति (थकना) यद्यपि समान है तथापि जो मनुष्य अदूरता (समीपता) को जानता है वह तो धीरता से शीघ्र चलता है और अन्य (समीपता का अज्ञानी) दीन बुद्धि वहाँ ही बैठा रहता है॥३४॥

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥३५॥

इस प्रकार वर्णन किये 'आत्मानं चेत्' इस श्रुति के पूर्वार्ध का अनुवाद करते हुए फल के बाधक उत्तरार्ध का सूचन करते हैं कि भले प्रकार किया है आत्मा का साक्षात्कार जिसकी बुद्धि ने, ऐसा मुमुक्षु विपर्यय से अर्थात् देह में आत्मबुद्धि से बाधित नहीं होता इससे वह किस विषय की इच्छा करता हुआ किस कामना के लिये अपने शरीर को पीड़ा दे अर्थात् उसकी संपूर्ण कामना पूर्ण हो जाती है॥३५॥

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ॥
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥३६॥

अब इसी मंत्र के अर्थ का तात्पर्य कहते हैं कि जगत् मिथ्या है इस बुद्धि से जब कामना के योग्य विषय और कामुक पुरुष इन दोनों का निराकरण कर दिया तब उन काम्य कामुक दोनों के अभाव में कामनाओं से पैदा हुआ संताप कारण के अभाव से तैलरहित दीपक के समान शांत हो जाता है अर्थात् कामनाओं की हृदय में

उत्पत्ति नहीं होती।।३६।।

गंधर्वपत्तने किंचिन्नैंजालिकनिर्मितम् ।।
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ।।३७।।

अब काम्यक् अभाव से कामना के अभाव का स्थल कहते हैं कि माया से रचे गंधर्वनगर में यह इंद्रजाल के ज्ञाता का निर्मित (रचा) है यह जानता हुआ मनुष्य कामना नहींकरता प्रत्युत्त हँसता हुआ उसका त्याग करना चाहता है।।३७।।

आपातरमणीयेषु भागेष्वेवं विचारवान् ।।
नानुरज्यति किंत्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ।।३८।।

अब पूर्वोक्त दृष्टांत को दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि इसी प्रकार प्रतीति मात्र से रमणीय भोगो में विचारवान् मनुष्य अनुरागी नहीं होता किंतु बंधन आदि दोषों के देखने से उनके त्याग को चाहता है।।३८।।

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ।।३९।।

अब उन्हीं विषयों को दिखाते हैं कि धन आदि अर्थों के संचय में जैसा क्लेश है वैसे ही उनकी रक्षा में क्लेश है और नाश (न मिलना) में दुःख है और व्यय (खर्च) में दुःख है इससे क्लेशकारी अर्थों को धिक्कार है।।३९।।

मांसपांचालिकायास्तु यत्रलोलेंऽगपंजरे ।।
स्नाय्वस्थिग्रंथिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ।।१४०।।

इस प्रकार विषयों को दुःख हेतु दिखाकर कहीं कहीं विषय की अशोभनता को दो श्लोकों से दिखाते हैं कि स्नायु (शिरा नाड़ी) और अस्थि और स्तन नितंब आदि मांस की ग्रंथि ये सब हैं जिसमें ऐसी मास की पुतली (स्त्री) का जो यंत्र के समान चंचल शरीर अंगो का पंजर है उसमें शोभनता क्या है अर्थात् सर्वथा मलिन है।।१४०।।

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषः सम्यक् प्रपंचिताः ।।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ।।४१।।

आदि शब्द से त्वचा मांस रुधिर वाष्प जल आदि को पृथक् करके देखो क्या रमणीय वस्तु है अर्थात् कुछ नहीं तो क्यों वृथा मोह को प्राप्त होता है, ये दोष लेने। इस प्रका बहुत से शास्त्रों में विस्तार से भले प्रकार दोषवर्णन किये हैं उन दोषों को रात दिन विचारता हुआ तू किस प्रकार दुःखों में डूबता है अर्थात् तेरा डूबना अयोग्य है।।४१।।

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्न मूढस्तज्जिघत्सति ।।४२।।

अब विषय के दोष देखने पर भोग की इच्छा के अभाव में युक्ति सहित दृष्टांत को कहते हैं कि स्वयम् अमूढ़ (विवेकी) और मिष्टान्न के भक्षण से नष्ट हो गयी है तृष्णा जिसकी और यय विष है ऐसे जानता हुआ मनुष्य विष के भोजन की इच्छा ऐसे नहीं करता जैसे क्षुधा से पीड़ित भी मनुष्य विष का भक्षण नहीं चाहता है।।४२।।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुंक्ते विष्टिगृहीतवत् ।।४३।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी की भी प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से भोग में इच्छा होती है सो ठीक नहीं, यदि ज्ञानी की भोगों में इच्छा हो तो भी यह ज्ञानी क्लेश पाता हुआ ही इस प्रकार भोजन आदि को करता है जैसे विष्टि (बेगार) से पकड़ा हुआ मनुष्य करता है।।४३।।

भुंजाना वा अपि बुधाः श्रद्धावंतः कुटुंबिनः ।।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यंति सन्ततम् ।।४४।।

क्लेश को ही दिखाते हैं कि भोजन करते हुए भी ज्ञानी श्रद्धावाले कुंटुंबी मनुष्य इस प्रकार निरंतर क्लेश को प्राप्त होते हैं कि अब तक भी हमारा प्रारब्धकर्म क्षीण न हुआ।।४४।।

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।।
भ्रांतिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ।।४५।।

कदाचित् कहो कि तत्त्व के वेत्ताओं को भी संसार का ताप मानोगे तो ज्ञान होना ही व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि आज तक भी हमारा कर्म नष्ट न हुआ, यह पश्चात्तापरूप संसार का ताप नहीं होता किंतु यह संसार में विरक्तता है क्योंकि संसार का ताप तो भ्रांतिज्ञान का निदान (हेतु) पूर्वाचार्यो ने कहा है और यह ज्ञान विवेकज्ञान का मूल होने से भ्रांतिज्ञान का हेतु नहीं है। भावार्थ यह है कि यह पूर्वोक्त ज्ञानी का क्लेश संसारताप नहीं किंतु यह विरक्तता है क्योंकि भ्रमज्ञान के हेतु को ही सांसारिक ताप आचार्यों ने कहा है।।४५।।

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।।
अन्यथाऽनंतभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ।।४६।।

अब पूर्वोक्त क्लेश को विवेक का मूल दिखाते हैं कि विवेक से क्लेश को प्राप्त

हुआ मनुष्य अल्प भोग से ही तृप्त हो जाता है और अन्यथा तो अनंतभोगों के मिलने पर भी कदाचित् ज्ञान नहीं होता।।४६।।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।४७।।

यदि विवेकी और अविवेकी की तृप्ति भोगों से ही होती है तो विवेक का क्या फल है इस शंका को करके भोग से तृप्ति के अभाव को श्रुति के द्वारा दिखाते हैं कि विषयों के भोगन से कदाचित् भी इच्छा शांत नहीं होती किंतु घृत आदि हवि से अग्नि के समान भूयः (फिर) बढ़ती है।।४७।।

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ।।४८।।

अब विवेकमूल भोग तृप्ति का हेतु है इससे अनुभव प्रमाण देते हैं कि जानकर किया भोग अर्थात् यह इतना है और इतने श्रम से होगा इस प्रकार विचार से किया संतोष को करता है कदाचित् कहो कि तृष्णा का हेतु भोग विवेक के सहचार से कैसे संतोष का जनक है सो ठीक नहीं, किंतु जैसे यह चोर है इस प्रकार जानकर की है सेवा जिसकी ऐसा चोर मित्र हो जाता है, चोर नहीं होता, इसी प्रकार विवेकरूप सहचारी की महिमा से भोग में संतोष को करता है तृष्णा को नहीं क्योंकि संग की महिमा से विपरीत कार्य की भी हेतुता चोर में देखते हैं। भावार्थ यह है कि जानकर किया भोग संतोष को इस प्रकार पैदा करता है जैसे जानकर सेवित चोर मित्रता को पैदा करता है चोरता को नहीं अर्थात् अपनी चोरी नहीं करता।।४८।।

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगेऽल्पकोऽपियः ।।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ।।४९।।

कदाचित् कहो कि कामनाओं में स्वरस (अधीन वा लगे) मन के अल्पभोग से कैसे तृप्ति होगी सो ठीक नहीं कि निदिध्यासन से निगृहीत (वशीभूत) अर्थात् योगाभ्यास से स्वाधीन किये जो मन का अत्यंत अल्प भी लीला भोग है, नहीं हुआ है विस्तार जिसका ऐसे उस अल्प भोग को क्लेशदायी होने से बहुत मानता है अर्थात् अधिक समझता है।।४९।।

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।।
परैर्न बद्धो नाक्रांतो न राष्ट्रं बहु मन्यते ।।१५०।।

अब वशीभूत मन के स्वल्पभोग से तृप्ति में दृष्टांत देते हैं कि बंधन (कैद) से छूटा महीपाल (राजा) एक ग्राम से ही संतुष्ट हो जाता है, यदि शत्रुओं से बंधा न

हो और न आक्रांत (दबाया) हो तो राष्ट्र (देश) को भी बहुत नहीं मानता।।१५०।।

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ।।
कथमारब्धकमापि भोगेच्छां जनयिष्यति ।।५१।।

अब यह शंका करते हैं कि इच्छा के नाशक विवेकज्ञान के होने पर प्रारब्धकर्म से इच्छा होगी सो ठीक नहीं क्योंकि दोषो को दिखानेहारे विवेकज्ञान के जागते हुए प्रारब्धकर्म में भी किस प्रकार भोगों की इच्छा को पैदा करेगा अर्थात् न करेगा।।५१।।

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ।।५२।।

अब दोषों के देखने पर भी इच्छा का जन्म प्रारब्ध कर्म के भेद से दिखाते हैं कि यह तुम्हारा दिया पूर्वोक्त दोष ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार का देखते हैं कि एक इच्छा का जनक, दूसरा विना इच्छा के भोग का दाता और तीसरा परायी इच्छा से भोग का दाता इस प्रकार प्रारब्ध तीन प्रकार का कहा है।।५२।।

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।।
जानत एव स्वानर्थमिच्छंत्यारब्धकर्मतः ।।५३।।

अब इच्छा के जनक प्रारब्ध को दिखाते हैं कि अपथ्य के सेवन करनेवाले रोगी और चोर और राजाओं की स्त्रियों में रत ये तीनों अपने अनर्थ को जानकर भी प्रारब्धकर्म से अपथ्य भोजन चोरी राजदाराओं का रमण करते हैं।।५३।।

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।।
यत ईश्वर एवाह गीतायामार्जुनं प्रति ।।५४।।

अब अपथ्यसेवा आदि की इच्छा को प्रारब्ध का ही फल दिखाते हैं कि इस जगत् में ईश्वर भी उनका अपथ्यसेवा आदि को निवारण नहीं कर सकता निवारण न होने से ही प्रतीत है कि प्रारब्ध का फल हैं क्योंकि ईश्वर (श्रीकृष्णचन्द्र) ने ही गीता के विषे अर्जुन के प्रति कहा है।।५४।।

सदश चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।५५।।

अब उसी गीता के वाक्य को पढ़ते हैं कि विवेकज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है (पूर्व जन्म में संचित जो धर्म अधर्म का संस्कार जो वर्तमान

जन्म में प्रकट होता है उसे प्रकृति कहते हैं) मूर्ख का तो क्या गणना है इससे संपूर्ण भूत प्रकृति के अनुसार चलते हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति का निरोधरूप निग्रह क्या करेगा अर्थात् कुछ न करेगा॥५५॥

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ॥
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥५६॥

अब तीव्र (बली) प्रारब्ध के अनिवारण में वचनांतर की संमति को कहते हैं कि अवश्य होनेवाले जो दुःख आदि भाव हैं उनका यदि प्रतीकार (न होना) होता तो नल रामचन्द्र और युधिष्ठिर ये समर्थ राजा दुःखों से लिपायमान न होते अर्थात् दुःखों का प्रतीकार करके सुखों को ही भोगते॥५६॥

नचेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ॥
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥५७॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्ध को निवारण के अयोग्य मानोगे तो उसके परिहार में असमर्थ ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा सो ठीक नहीं कारण कि प्रारब्ध के अनिवारण करने में ईश्वर की ईश्वरता में हानि नहीं होती क्योंकि यह प्रारब्धकर्म का फल दुःख आदि का अवश्य होना भी ईश्वर ही ने ही रचा है॥५७॥

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ॥
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥५८॥

इस प्रकार विस्तार से इच्छाप्रारब्ध को कहकर अनिच्छाप्रारब्ध कहने का प्रारम्भ करते हैं कि यह अर्जुन और श्रीकृष्ण के प्रश्न और उत्तर से भी जाना जाता है कि अनिच्छापूर्वक भी प्रारब्ध है है शिष्य! उसको तू सुन॥५८॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥५९॥

प्रथम अर्जुन के प्रश्न को दिखाते हैं कि हे वार्ष्णेय! अर्थात् वृष्णिकुल में उत्पन्न श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज! नहीं इच्छा करता हुआ और बल से नियुक्त के समान किसकी प्रेरणा से यह पुरुष पाप को करता है॥५९॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महशनो महापाप्मा विद्धचेनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

अब श्रीकृष्णचन्द्र के उत्तर को कहते हैं कि रजोगुण से है उत्पत्ति जिसके ऐसा यह जगत् में प्रसिद्ध काम और क्रोध जो महाशन है अर्थात् जिसके विषयों का समूह महान् है और जो महान् पाप का हेतु है इस कामक्रोधरूपी पुरुष के प्रवर्तक को तू

इस संसार में वैरी जान अर्थात् प्रारब्धकर्म के अधीन बढ़े हुए रजोगुण के कार्य जो काम क्रोध हैं उनमें से कोई सा एक प्रवर्तक है।।६०।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६१।।

काम क्रोध को ही पुरुष प्रवृत्ति का जनक देखते हैं अनिच्छाप्रारब्ध नहीं यह शंका करके अनिच्छाप्रारब्ध का ही प्रवृत्ति का बोधक जो वचन उसको पढते हैं हे कौन्तेय (कुन्ती के पुत्र) अर्जुन! अपने स्वाभाविक प्रारब्ध से बँधा हुआ तू जिस युद्ध आदि कर्म को नहीं किया चाहता उसको भी अविवेकरूप मोहसे परवश हुआ करेगा इससे यह मानने योग्य है कि अनिच्छाप्रारब्ध है।।६१।।

नानिच्छंतो न चेच्छंतः परदाक्षिण्यसंयुताः ।।
सुखदुःखे भजंत्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ।।६२।।

अब परेच्छाप्रारब्ध को दिखाते हैं कि परायी दाक्षिण्य (सेवा आदि) युक्त मनुष्य न अनिच्छा से और न इच्छा से सुख दुःख भोगते हैं किन्तु स्वामी की प्रीति के अर्थ ही सुख दुःख को पाते हैं इससे सुख आदि भोग का हेतु प्रारब्ध परइच्छापूर्वक प्रसिद्ध है इसीसे दोषों के देखने पर भी प्रारब्ध निवारण के अयोग्य है इसीसे वह इच्छा का जनक है इसका निवारण कोई नहीं कर सकता।।६२।।

कथं तर्हि किमिच्छान्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।।
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ।।६३।।

अब तत्त्वज्ञानी को भी इच्छा का स्वीकार करोगे तो 'किम् इच्छन्' इस श्रुति के विरोध की शंका करते हैं कि ज्ञानी को भी इच्छा होती है तो 'किस विषय की इच्छा करता हुआ अपने शरीर को दुःख दे' इस श्रुति से इच्छा का निषेध कैसे किया? इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त श्रुति में ज्ञानी को इच्छा का अभाव नहीं कहा किन्तु भर्जित (भुना हुआ) बीज के समान स्वरूप से वर्तमान भी इच्छा का बाध (असामर्थ्य) कहा है।।६३।।

भर्जितानि तु बीजानि सत्यकार्यकराणि च ।।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ।।६४।।

संक्षेप से कहे पूर्वोक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं—कि जैसे भर्जित बीज स्वयम् अपने शरीर से विद्यमान होते हुए भी अंकुर आदि कार्यों को नहीं कर सकते इसी प्रकार विद्वान् (ज्ञानी) की इच्छा स्वयं विद्यमान् हुई भी असत्त्व के बोध से अर्थात् इच्छा के विषयभूत पदार्थों के मिथ्याज्ञान से बाधित हुई दुःख आदि कार्य

करने में असमर्थ जाननी॥६४॥

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ॥
विद्वदिच्छाऽप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥६५॥

कदाचित् कहो कि फल के अभाव से ज्ञानी की इच्छा ही नहीं माननी चाहिये यह आशंका करके भोगरूप फल के होने से फल के अभाव की असिद्धि और दृष्टांत को कहते हैं कि जैसे भुना हुआ बीज न जमने पर भी भक्षणता उपयोगी होता है इसी प्रकार विद्वान् की इच्छा भी अल्पभोग को करती है विपत्ति आदि अधिक व्यसन को नहीं करती॥६५॥

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ॥
भोक्तव्यसत्यता भ्रांत्या व्यसनं तत्र जायते ॥६६॥

कदाचित् कहो कि कर्म ही भोग के द्वारा व्यसन को भी उत्पन्न कर देगा सो ठीक नहीं, क्योंकि भोगमात्र को पैदा करके प्रारब्धकर्म नष्ट हो जाता है और उस भोग में सत्यता के भ्रम से व्यसन होता है॥६६॥

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ॥
मा विघ्नाः प्रतिबध्नंतु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥६७॥

अब दुःख के हेतु व्यसन को दिखाते हैं कि यह भोग नष्ट मत हो किंतु उत्तरोत्तर बढे और विघ्न इसका तिरस्कार मत करे इस भोग से ही मैं धन्य हूं अर्थात् कृतार्थ हूं इस प्रकार का भ्रम होता है और उस भ्रम से व्यसन (दुःख) होता है॥६७॥

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ॥
इति चिंताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥६८॥

प्रसंग से उक्त भ्रम के परिहार का उपाय कहते हैं कि जो होने के अयोग्य है वह कदाचित् नहीं होता और जो होने योग्य है वह अन्यथा (न हो) नहीं होता इस प्रकार का जो बोध है वह उस चिंतारूप विष का नाशक है कि यह कल्याण मेरे यहां कब होगा और यह अनिष्ट कव निवृत्त होगा और पूर्वोक्त भ्रम का भी निर्वतक है॥६८॥

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रांतो गच्छन्न बुद्धवान् ॥
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रांतस्य व्यसनं बहु ॥६९॥

अब विद्वान और अविद्वान के भोगी होने में तुल्यता होने पर भी दुःख के होने और दुःख के न होने में हेतु को कहते हैं कि भोग की समानता होने पर भी भ्रांत

मनुष्य तो दुःख को प्राप्त होता है और ज्ञानवान् मनुष्य दुःख को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अशक्य (करने को अयोग्य) पदार्थ के संकल्प से भ्रांत मनुष्य को अतीव दुःख होता है इससे भ्रांति ही दुःख का हेतु है, वह ज्ञानी को नहीं होती।।६९।।

मायामयत्व भोगस्य बुद्ध्वाऽस्थापुपसंहरन् ।।
भुंजानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ।।१७०।।

अब विवेकी को दुःख का अभाव दिखाते हैं कि ज्ञानी पुरुष भोग को मायामयी समझकर और उसकी आस्था (अवधि) का उपसंहार (समाप्ति) करता हुआ भोग को भोगता हुआ भी संकल्प नहीं करता इससे उसको दुःख किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।।१७०।।

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिंत्यरचनात्मकम् ।।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ।।७१।।

कदाचित् कहो कि भोग के मायामय होने पर भी तत्काल सुखदायी होने से स्थिति का उपसंहार कैसे होगा—सो ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न इंद्रजाल इनके तुल्य और अचिंत्य (जो बुद्धि में न आवे) रचनारूप और दीखता ही नाशमान जो जगत् उसको देखता हुआ ज्ञानी कैसे जगत् में अनुराग (प्रीति) को करेगा अर्थात् न करेगा।।७१।।

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम् ।।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ।।७२।।

कदाचित् कहो कि यदि जगत् में स्वप्न इंद्रजाल की तुल्यता हो तो आसक्ति भी न हो अतः इंद्रजालतुल्य जगत् कैसे हो सकता है, यह शंका करके अनासक्ति के जन्म का उपाय दो श्लोकों से कहते हैं कि अपने स्वप्न को प्रत्यक्ष देखकर अपने जागरण को देखता हुआ अप्रमत्त मनुष्य प्रतिदिन बारंबार यह चिंता करता है कि यह जागरण स्वप्न के तुल्य है।।७२।।

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।।
सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यंज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ।।७३।।

इस प्रकार चिरकाल तक उन दोनों स्वप्न और जागरण की सब प्रकार से तुल्यता को स्मरण करके अर्थात् तत्काल भोग के हेतु, परिणाम में विरस, विनाशी होने से दोनों समान है, यह जानकर जाग्रत् अवस्था में सत्यत्व बुद्धि को त्यागकर पूर्व के समान उसमें अनुराग को प्राप्त नहीं होता अर्थात् आसक्ति को छोड़कर उदासीन होकर संसार के संपूर्ण भोगों को भोगता है।।७३।।

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिंत्यरचनात्वतः ।।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ।।७४।।

कदाचित् कहो कि इस प्रकार प्रपंच के मिथ्याज्ञान का और विषयों की सत्यता से होनेवाले भोग का परस्पर विरोध है इससे मिथ्या समझ कर भोग कैसे होगा ? इस शंका को इस प्रकार दूर करते हैं कि भोग में विषय के सत्य होने की अपेक्षा के अभाव को दिखाते हैं कि यह द्वैत (भोगने योग्य पदार्थों का समूह) इंद्रजाल है अर्थात् इंद्रजाल के समान मिथ्या है क्योंकि जगत् की रचना चिंता के अयोग्य है, इस युक्ति से अनुसंधान करके बुद्धिमान् (ज्ञानी) के प्रारब्धकर्म से मिले भोग से मिथ्या ज्ञान की और मिथ्याज्ञान से प्रारब्धभोग की क्या हानि है अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ यह है कि अचिंत्यरचनारूप होने से यह जगत् इंद्रजाल है इसका स्मरण करते हुए ज्ञानी को प्रारब्धभोग से कौन हानि है अर्थात् कुछ नहीं है।।७४।।

निर्बंधस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ।।७५।।

अब दोनों के विषयों का भेद दिखाते हैं कि जगत् के तत्त्व का जो विद्यारूप ज्ञान है उसका इंद्रजाल के समान जगत् को मिथ्या समझने में निर्बंध (तात्पर्य) है कुछ भोग के दूर करने में नहीं, प्रारब्ध जीव को सुख दुःख देने मेंआग्रह है कुछ भोगकी सत्यता में नहीं।।७५।।

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ।।७६।।

इस प्रकार भिन्न विषय को दिखाकर अनुमान को कहते हैं कि विद्या और प्रारब्ध कर्म का परस्पर विरोध नहीं है भिन्न भिन्न विषय होने से रूपरस आदि के ज्ञान के तुल्य अर्थात् भिन्न विषय होने से ज्ञान प्रारब्धकर्म का परस्पर विरोध नहीं है। अब भोग्यपदार्थ को मिथ्या समझना भोग में बाधक नहीं होता इसमें दृष्टांत कहते हैं मिथ्या जानते हुए भी मनुष्य इंद्रजाल के विनोद (चमत्कार) को निश्चय से देखते हैं यह बात जगत् में प्रसिद्ध है।।७६।।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ।।
सदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ।।७७।।

जो विद्या और प्रारब्धकर्म का विरोध कहता है वह यह पूछने योग्य है कि प्रारब्धकर्म विद्या का विरोधी है वा विद्या प्रारब्धकर्म की विरोधिनी है उनमें प्रथम तो ठीक नहीं, इसका वर्णन करते हैं कि यदि प्रारब्धकर्म जगत् की सत्यता का

संपादन करके जीव को सुख दुःख दे तो विद्या का विषय जो मिथ्यात्व उसके नष्ट होने से विद्या का विरोधी हो जाता है और ऐसा है नहीं किंतु भोग को ही प्रारब्धकर्म देता है, इससे विद्या का विरोधी नहीं है, कदाचित् कहो कि भोगमात्र से ही विषय सत्य हो जायगा, सो भी ठीक नहीं क्योंकि भोगमात्र से सत्यता नहीं होती है अर्थात् विवाद का स्थान जगत् सत्य है, भोग्य होने से इस अनुमान में कोई दृष्टांत नहीं है। भावार्थ यह है कि जगत् सत्य बनाकर यदि प्रारब्धकर्म सुख दुःख दे तो विद्या का विरोधी हो, ऐसा है नहीं और भोगमात्र से विषय सत्य नहीं हुआ करता है।।७७।।

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ।।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ।।७८।।

कदाचित् कहो कि मिथ्यापदार्थों से भोग होता है इसमें भी कोई दृष्टांत नहीं है, इस शंका को करके कहते हैं कि जैसे कल्पनामात्र स्वप्न की वस्तुओं से जैसा अनून (पूर्ण) भोग होता है इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था की असत्य वस्तुओं से भी भोग को मानो।।७८।।

यदि विद्याऽपह्नवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ।।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ।।७९।।

विद्या प्रारब्धविरोधिनी है यह भी नहीं कह सकते कि यदि विद्या भोग्य समूहरूप जगत् का यह शुक्ति रजन नहीं, इसके समान अपह्नव (बाध) करे अर्थात् प्रतीत हुए जगत् का विलय करे तो प्रारब्धकर्म की नाशक हो सकती है और ऐसे करती नहीं किंतु मिथ्या बोधन करती है कदाचित् कहो कि मिथ्या बोधन से जगत् का अपह्नव हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि मायारूप जताने से जगत् का अपह्नव नहीं होता है क्योंकि इंद्रजाल आदि में स्वरूप के विलापन (नाश) के बिना भी मिथ्यात्व को देखते हैं। भावार्थ यह है कि विद्या जगत् का अपह्नव करे तो प्रारब्ध को नष्ट कर सकती है सो है नहीं और मायामय बोधन से जगत् का अपह्नव नहीं होता है।।७९।।

अनपह्नुत्य लोकास्तदिंद्रजालमिं त्विति ।।
जानंत्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ।।१८०।।

उसका ही विस्तार से वर्णन करते हैं कि जैसे लौकिक (जन) इस इंद्रजाल के स्वरूप का निराम न करके यह जानते हैं कि यह इंद्रजाल है इसी प्रकार भोग के अपह्नवं को न करके माया है यह ज्ञान भी जाता है।।१८०।।

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन किम् ॥
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥८१॥

अब दो श्लोकों से यह शंका करते हैं कि जिस अवस्था में इस ज्ञानी को संपूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है उस दशा में कौन देखनेवाला किस नेत्र आदि इंद्रिय से किस देखने योग्य जगत् को देखे, इसी प्रकार कि घ्राणरूप इंद्रिय से किस पुष्प आदि को सूंघे और किस वचन को किस वाक्इंद्रिय से कहे इस प्रकार इंद्रियों के व्यापार के अभाव के द्योतन के लिये वाशब्द है इस प्रकार श्रुति में बहुत बार कहा है। भावार्थ यह है कि जब इस ज्ञानी को सब आत्मरूप हो गया तब किसने किसको देखे किससे किसको सूंघे किससे क्या कथन करे, इस प्रकार श्रुति में बहुत कहा है यह श्रुति द्रष्टा दर्शन दृश्यरूप जगत् के अभाव का बोधन करती है। इससे पैदा हुई विद्या जगत् का विलय अवश्य करेगी, ऐसा होने पर विद्वान का भोग कैसे होगा॥८१॥

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ॥
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥८२॥

उस पूर्वोक्त श्रुति के कथन से द्वैत का अपह्नव करके विद्या का उदय होता है अन्यथा नहीं, इससे विद्वान को भोग कैसे होगा ? ऐसी कोई शंका करे तो इसका उत्तर सुनो कि॥८२॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ॥
उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥८३॥

यह पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्ति के विषय में है वा मुक्ति के विषय में यह "स्वाप्यय संपत्त्योः" इस सूत्र के विषे अत्यंत स्फुट कहा है सूत्र का अर्थ यह है कि स्वाप्यय (अपना ध्वंस) अर्थात् सुषुप्ति और संपत्ति (मुक्ति) अर्थात् ब्रह्मरूप होना इसमें अन्यतर (कोई सा) की अपेक्षा श्रुति को है अर्थात् दोनों अवस्था में ही किसी को देखना आदि नहीं बन सकता है॥८३॥

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ॥
द्वैतदृष्टाववि‌द्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥८४॥

अब पूर्वोक्त श्रुति को सुषुप्ति और मुक्ति के विषय न मानने में बाधक (दोष) कहते हैं कि अन्यथा याज्ञवल्क्य आदि आचार्य न होंगे क्योंकि यदि याज्ञवल्क्य आदि ने द्वैत को देखा तो अद्वैतज्ञान के अभाव से अज्ञानी होने से आचार्य न होंगे और यदि द्वैत को नहीं देखा तो बोधन के योग्य शिष्य के न मिलने से आचार्य की वाणी शिष्य

प्रति बोधन के लिये प्रवृत्त न होगी इससे ज्ञान की संप्रदाय का भंग हो जायगा, इससे पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्ति और मुक्ति के विषय में है, यह मानने योग्य है।।८४।।

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ।।८५।।

कदाचित् कहो कि याज्ञवल्क्य आदि आचार्य अवस्था में विद्यमान थे परन्तु उनकी अपरोक्षविद्या द्वैत के देखने से न थी किंतु निर्विकल्पसमाधि में द्वैत के न दीखनेरूप हेतु से थी, निर्विकल्पसमाधि ही अपरोक्षविद्या है सो ठीक नहीं क्योंकि द्वैतकी अप्रतीतिसे ही अपरोक्षविद्या मानोगे तो सुषुप्ति भी अपरोक्ष विद्या हो जायगी।।८५।।

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ।।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ।।८६।।

अब अतिप्रसंग (दोष) के परिहार की शंका करते हैं कि यदि सुषुप्ति में द्वैतदर्शन के अभाव होने पर भी आत्मा के ज्ञान का अभाव है इससे वह विद्या नहीं है तो आप की आत्म बुद्धि का अर्थात् आत्मा के विवेकज्ञान को ही विद्या कहना चाहिये, द्वैत (जगत्) के विस्मरण को नहीं।।८६।।

उभय मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ।।८७।।

कदाचित् कहो कि द्वैत के दर्शन का अभाव तथा आत्मज्ञान ये दोनों मिले हुए विद्या हैं, एक एक नहीं तो द्वैत की विस्मृति को भी विद्याका अंश मानने से जड़रूप घट आदि भी अर्धविद्या के भागी हो जायँगे क्योंकि उनको संपूर्ण द्वैत का स्मरण नहीं है।।८७।।

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।।
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ।।८८।।

अब उसी पक्ष में समाधि में स्थित मनुष्यों का आधी विद्या भी न होगी यह बात हँसी से कहते हैं कि समाधि में भी मशक (मच्छर) आदि के बहुत से शब्दरूप विक्षेप होते रहते हैं, इससे समाधि में स्थित आपको भी वैसी विद्या न होगी जैसी घट आदिकों को होती है।।८८।।

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।।
दुष्टचित्तं निरुंध्याच्चेन्निरुंद्धि त्वं यथासुखम् ।।८९।।

यदि आत्मज्ञान ही विद्या है और द्वैत का विस्मरण विद्या नहीं है तो वह हमको

भी इष्ट है इससे तू भी उनके मानने से सुखी हो। कदाचित् कहो कि वह आत्मज्ञान दुष्टचित्त में नहीं हो सकता इससे चित्तवृत्ति का निरोध करना चाहिये सो ठीक है, तू दुष्टचित्त को रोकता है तो सुख से रोक।।८९।।

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ।।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ।।१९०।।

वह चित्त का रोकना हमको भी इष्ट है क्योंकि चित्त के दोषों के दूर होने पर अद्वितीय आत्मज्ञान के लिये इष्ट जो जगत् का मायामयरूप वह भले प्रकार दीखता है और इच्छा करता हुआ भी यह अज्ञ (मूर्ख वा जड़) के समान इच्छा नहीं करता, इससे श्रुति में क्या इच्छा करता हुआ किसकी कामना के लिये शरीर को दुःख दे यह सुना है।।१९०।।

रोगो लिंगबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ।।९१।।

इस प्रकार अभिप्राय से वर्णन में कारण कहते हैं कि 'चित्त के विषयों की भूमियों में राग (प्रीति) है वही बोधक अभाव लिंग (चिह्न) है क्योंकि जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि है वह हरा कहां से होगा' यह तो तत्त्ववेत्ता को राग का निषेधक शास्त्र और 'शास्त्रार्थ के समाप्त होने से जो ज्ञान उससे ही मुक्ति हो जायगी' राग आदि यथेच्छ रहें उनके होने का निवारण नहीं करते, यह ज्ञानी को ही राग के अंगीकार का बोधक शास्त्र ये दोनों राग के निषेधक और बोधक शास्त्र दोनों का तत्त्ववेत्ता को दृढ़राग के अभाव से बन सकते हैं क्योंकि दोनों का कोई परस्पर विरोध नहीं होता है। भावार्थ यह है कि अज्ञान का कारण राग है और ज्ञानी में राग होय तो कुछ चिंता नहीं, ये दोनों शास्त्र अविरोध से चरितार्थ होते हैं अर्थात् रागनिषेधक शास्त्र दृढ़राग विषयक है और रागबोधक शास्त्र रागाभास विषयक है अतः दोनों का अविरोध होने से दोनों सार्थक है क्योंकि ज्ञानी का राग दृढ़ राग न होकर रागाभासमात्र है।।९१।।

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासंगत्वस्य समीक्षणात् ।।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ।।९२।।

इस प्रकार 'किसकी इच्छा करता हुआ' इस अंश के अभिप्राय का वर्णन करे किसकी कामन के लिये शरीर को दुःख दे' इस अंश का अभिप्राय कहते हैं कि जैसे जगत् के मिथ्याज्ञान से वास्तविक काम्य के अभावं की विवक्षा से 'किमिच्छिन्' यह मंत्र कहा है, इसी प्रकार आत्मा को असग जानकर वास्तविक (यथार्थ) भोक्ता के

अभाव का विवक्षा से 'कस्य कामाय' यह श्रुति ने कहा है।।९२।।

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।।
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ।।९३।।

कदाचित् कहो कि आत्मा को भोक्ता को निषेध आशक्ति होने पर कहना चाहिये और आसक्ति असंग होने से आत्मामें है नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि आत्मा में आसक्ति अनुभवसिद्ध है इस अभिप्राय से आसक्ति की बोधक श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं कि पति और जाया आदि सबकी जो प्राणी इच्छा करता है वह पति जाया आदि के भोग के लिये नही करता किंतु अपने भोग के लिये करता है, इस प्रकार इस श्रुति में बहुत वर्णन किया है कि अरे* पति की कामना के लिये पति प्यारा नहीं होता किन्तु अपनी कामना के लिये सब प्रिय होते हैं', इत्यादि ग्रंथ आत्मा को भोग का साधन कहते हैं इससे आत्मा भोक्ता है।।९३।।

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किंवोभयात्मकः ।।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसंगत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ।।९४।।

इस प्रकार आत्मा को भोक्ता दिखाकर उसके निषेध के लिये भोक्ता में विकल्प की शंका करते हैं कि क्या कूटस्थ भोक्ता है वा चिदाभासरूप जीव है वा दोनों हैं ? उन तीनों में प्रथम कूटस्थ तो भोक्ता असंग सहोने से नहीं हो सकता है।।९४।।

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ।।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।।९५।।

कदाचित् कहो कि कूटस्थ असंग व भोक्ता दोनोंरूप रहे क्या दोष है सो ठीक नहीं क्योंकि सुख दुःख के विकाररूप अभिमान को भोग कहते हैं इससे कूटस्थ है और विकारी है, यह वचन किस प्रकार व्याहत (कहने के अयोग्य) न होगा अर्थात् अवश्य होगा क्योंकि कूटस्थत्व और विकारित्व ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते।।९५।।

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ।।
निरधिष्ठानविभ्रांतिः केवला नहि तिष्ठति ।।९६।।

कदाचित् कहो कि विकारीरूप चिदाभास भोक्ता रहे सो भी ठीक नहीं क्योंकि चिदाभास भी विकारी बोध के आधीन है अतएव आभास में विकार के होने पर भी

---

* न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति—आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।।

आरोप किये (माने हुए) विकार के अधिष्ठानभूत कूटस्थ को छोड़कर स्वतंत्ररूप से चिदाभास की स्थिति का असंभव है, इससे केवल चिदाभास भी भोक्ता नहीं हो सकता क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम कहीं नहीं होता है इससे निरपेक्ष दोनों भोक्ता नहीं कह सकते॥९६॥

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ॥
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥९७॥

इससे तीसरा पक्ष ही शेष रहता है उसको दिखाते हैं कि एक भोक्ता नहीं हो सकता, इससे कूटस्थरूप अधिष्ठानसहित चिदाभास लोक से अर्थात् व्यवहारदशा में भोक्ता कहा जाता है, परमार्थदृष्टि तो उभयरूप भी नहीं घट सकता है कदाचित कहो कि 'यह पुरुष असंगरूप है' इत्यादि में असंग के और 'जो यह प्राणियों में विज्ञानरूप है' इत्यादि में बुद्धिसाक्षी के सुनने से भोक्ता के दोनों रूप पारमार्थिक (सत्य) हैं लोकव्यवहार से ही सिद्ध नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति का वह अभिप्राय नहीं उससे उक्त शंका का निवारण करते हैं कि बुद्धि है उपाधि जिसकी ऐसे आत्मा से लेकर बुद्धि आदि की कल्पनाका अधिष्ठानरूप जो कूटस्थ उसको ही बुद्धि आदि अनात्मा के निषेधद्वारा बृहदारण्यक आदि श्रुति में शेष रखा है। भावार्थ यह है कि उभयरूप ही भोक्ता इससे जगत् में कहा है क्योंकि उसी आत्मा से प्रारंभ करके श्रुति में कूटस्थ ही सत्यरूप होने से शेष रखा है॥९७॥

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ॥
विज्ञानमयमारभ्यासंगं तं पर्यशेषयत् ॥९८॥

उसमें बृहदारण्यक के वाक्यको संक्षेप से दिखाते हैं कि जब राजा जनक ने आत्मा कौनसा है' यह पूछा तब याज्ञवल्क्य ने उनको विबोधन करते (समझते हुए) 'जो यह प्राणों में विज्ञानमय है वह है इस प्रकार' विज्ञानमय से लेकर असंग यह पुरुष है' इस वचन से असंग कूटस्थ का ही परिशेष किया है अर्थात् कूटस्थ ही सत्यरूप शेष रखा है अन्य सब मिथ्या कहा है॥९८॥

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥९९॥

इस प्रकार बृहदारण्यक के असंग आत्मा के प्रकार को दिखाकर ऐतरये आदि श्रुतियों में कहे प्रकार को दिखाते हैं कि 'जिसकी हम उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है' इत्यादि वचनों में सर्वत्र आत्मा के विचार से अर्थात् अंतःकरणोपाधि आत्मा के प्रारंभ से प्रज्ञानमात्ररूप कूटस्थ को ही श्रुति में शेष रखा है, इसी प्रकार

अन्यत्र भी समझना, ऐसे श्रुतियों के देखने से उभयरूप भोक्ता का मिथ्यात्व और असंग कूटस्थ को अभोक्तृत्व है यह सिद्ध हुआ।।९९।।

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ।।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ।।२००।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीति से भोक्ता के मिथ्यात्व होने पर उसमें प्राणियों की सत्य बुद्धि किससे हो जाती है सो ठीक नहीं क्योंकि लोक में प्रसिद्ध आत्मा जो भोक्ता है वह अज्ञानसे अर्थात् मैं कूटस्थ से भिन्न हूं, इस ज्ञान के अभाव से कूटस्थ की सत्यता को अपने में मानकर और उसी के द्वारा अपने को सत्य भोक्ता मानकर कदाचित् भोग की त्याग की इच्छा नहीं करता।।२००।।

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ।।
एष लौकिकवृत्तांतः श्रुत्या सम्यगनूदितः ।।१।।

कदाचित् कहो कि भोग को आत्मा का शेष कैसे प्रतिपादन करते हो सो ठीक नहीं क्योंकि हम कूटस्थ आत्मा का शेष प्रतिपादंन नहीं करते किंतु लोकप्रसिद्ध उभयरूप जो भोक्ता उसका शेष प्रतिपादन करना ही श्रुति से सुना जाता है कारण कि जगत् में जो भोक्ता है वह भी अपने ही भोग के लिये पति जाया आदि की इच्छा करता है अन्य के लिये नहीं, यह लोक का वृत्तांत श्रुति ने भले प्रकार कहा है।।१।।

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ।।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तु विधित्सति ।।२।।

अब भोक्ता में ही प्रेम के लिये अनुवाद को कहते हैं कि पति जाया आदि जो भोग की वस्तु हैं वे भोक्ता की हीं उपकरण हैं, इससे भोगों में अनुराग नहीं करना किंतु प्रधानरूप भोक्ता में ही करना इसका विधान श्रुति करती है।।२।।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।।३।।

अब भोग्य विषयों में त्यागपूर्वक आत्मा में प्रेम करने में दृष्टांत में ईश्वर में प्रेम की प्रार्थनापूर्वक पुराण के वचन को कहते हैं कि अविवेकी अर्थात् आत्मज्ञान से शून्य मनुष्यों को जैसी दृढ़ प्रीति विषयों में होती है हे लक्ष्मीपते ! वह प्रीति तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से चली जाय अर्थात् मेरा मन विषयों में आसक्ति छोड़कर आप में ही सदा टिके अथवा अविवेकियों की जैसी दृढप्रीत विषयों में है वैसी प्रीति तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से मत जाय अर्थात् सदा आपमें ही प्रीति बनी

रहे।।३।।

इति न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ।।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्यन्नं बुभुत्सते ।।४।।

इस पुराणोक्त न्याय से संपूर्ण पति जाया आदि भोग के समूह से विरक्त है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य उस प्रीति का भोक्तामें उपसंहार करके इस आत्मा के जानने की इच्छा करता है।।४।।

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ।।५।।

इस प्रकार आत्मा में ही भोग के उपसंहार से जो फलित हुआ उसको दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि पामर (मूढ़) मनुष्य स्रक् चंदन स्त्री वस्त्र सुवर्ण आदि में जिस प्रकार अप्रमत्त रहता है अर्थात् सावधान होता है इसी प्रकार मुमुक्षु भी भोक्तारूप आत्मा में प्रमाद नहीं करता है किंतु सदा आत्मा में ही स्थित रहता है।।५।।

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरंतरम् ।।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ।।६।।

अब सावधानी को ही बहुत से दृष्टांतो से स्पष्ट करते हैं कि जैसे विजिगीषु (वादी की पराजय का अभिलाषी) मनुष्य इस लोक में काव्य नाटक तर्क आदि का निरंतर अभ्यास करता है, इसी प्रकार मुमुक्षु भी सदैव अपने आत्मा को विचारे।।६।।

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।।
स्वर्गादिवांछया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ।।७।।

जैसे जपयज्ञ उपासना आदि को श्रद्धा से स्वर्ग आदि की वांछा से करता है उसी प्रकार मुक्त होने का इच्छा से आत्मा में श्रद्धा करे अर्थात् विश्वास से आत्मा का विचार करे।।७।।

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासने साधयेत् ।।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ।।८।।

जिस प्रकार योगी चित्त को एकाग्रता को अणिमा आदि सिद्धियों की इच्छा से सिद्ध करता है इसी प्रकार मुमुक्षु भी अपनी आत्मा को देह आदि से विविक्त (पृथक्) जाने।।८।।

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ॥
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥९॥

अब अभ्यास के फल को दिखाते हैं कि जैसे अभ्यास के पाटव (चतुरता) से उनकी कुशलता उस उस विषय में पढ़ती है इसी प्रकार मुमुक्षु का भी विवेक अभ्यास से विशद (स्पष्ट) हो जाता है॥९॥

विविचता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसंगता ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

अब विवेक की स्पष्टता का फल कहते हैं कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक से भोक्ता के तत्त्व का अर्थात् पारमार्थिक सत्यरूप का विवेक (भोग्यों से पृथक् जानना) करते हुए मनुष्य को जाग्रत आदि में जो साक्षी की असंगता है उसका निश्चय हो जाता है अर्थात् साक्षी को असंग जान लेता है॥२१०॥

यत्र यद्दृश्यते द्रष्टा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥११॥

अब अन्वयव्यतिरेको को दिखाते हैं कि जाग्रत् आदि के मध्य में जिस स्थान में द्रष्टा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में जिस स्थूलसूक्ष्म आनंदरूप तीन प्रकार के भोग्य पदार्थ को साक्षी होकर देखता है अर्थात् जानता है वह देखने योग्य पदार्थ उसी अवस्था में टिकता है और दूसरी अवस्था में नहीं होता और द्रष्टा तो सर्वत्र अनुगत (एकरूप) है यह अनुभव सबको संमत है॥११॥

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ॥
दृष्ट्वैव पुण्यं पाप चेत्येवं श्रुतिषु डिंडिमः ॥१२॥

अब अनुभव को दिखाकर वेदको भी दिखाते हैं कि *'वह आत्मा जो कुछ उस अवस्था में देखता है अर्थात् भोग्य पदार्थ को भोगता है उस भोग्य पदार्थ से अन्वागत (आसक्त) न होकर रहता है अर्थात् उसका अनुयायी नहीं होता है उसके पुण्य पाप के सुख दुःखरूप फल को देख ही अर्थात् उसको ग्रहण न करके स्वयं ही दूसरी अवस्था में प्राप्त हो जाता है' यही इत्यादि श्रुतियों में डिंडिम (ढंडोरा) है कि मो वहां जी कुछ देखता है उसमें अनासक्त असंग यह पुरुष जो है वह इसमें रमकर पुण्य पाप के संबंध बिना फिर प्रतियोनि में गमन करता है॥१२॥

१–स यत्तव किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः । स वा एष एतस्मिन्संप्रसदिरत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्यां द्रवति ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपंचं यत्प्रकाशते ॥
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥१३॥

अब भोक्ता के तत्त्व का विवेक जिनसे हो ऐसी अन्य श्रुतियों को दिखाते हैं कि जो सत्यज्ञान आनंदरूप ब्रह्म साक्षीरूप से स्थित होकर जाग्रत् आदि प्रपंच को प्रकाशित करता है वही ब्रह्मरूप मैं हूं और बुद्धि चिदाभास रूप नहीं हूं, यह जानकर अर्थात् श्रुति और अनुभव से निश्चय करके प्रमातृत्व कर्तृत्व आदि संपूर्ण बंधनों से छूटता है॥१३॥

एक एवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥१४॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा मानना इस प्रकार विवेक ज्ञान से तीनों अवस्थाओं से विविक्त (पृथक्) आत्मा का पुनर्जन्म अर्थात् इस शरीर के पात के अनंतर दूसरे शरीर की प्राप्ति नहीं होती॥१४॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ॥
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥१५॥

तीनों अवस्थाओं में जो भोग्य पदार्थ है और भोक्ता और जो भोग है इन तीनों से विलक्षण जो चिन्मात्र साक्षी सदाशिव अर्थात् सर्वोत्तम आनंदरूप से सदैव शोभायमान है वह आत्मा मैं हूं॥१५॥

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ॥
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥१६॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से जब तत्त्व का विवेक हो गया अर्थात् असंग आत्मा का निश्चय होने पर विज्ञानमय जिसको कहते हैं ऐसा जो विकारी चिदाभास उसको ही भोक्तृत्व शेष रहता है अर्थात् वही भोक्ता है॥१६॥

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ॥
इंद्रजालं जगत्प्रोक्तं तदंतः पात्ययं यतः ॥१७॥

कदाचित् कहो कि चिदाभास को भोक्ता मानोगे तो 'किसी की कामना के लिये शरीर को दुःख दे' यह वचन भोक्ता के अभाव की विवक्षा के लिये है यह जो पूर्व कहा है वह असंगत होगा यह शंका करके और उस वचन को पारमार्थिक भोक्ताके अभाव का बोधक स्वीकार करके चिदाभासरूप भोक्ता को मायिक सिद्ध करते हैं कि यह चिदाभास मायिक (मिथ्या) है क्योंकि 'माया आभास से जीव ईश्वर को करती है' यह श्रुति है और अनुभव भी है कि यह चिदाभास दृष्टा आदि तीनों के मध्यम है उसको ही दिखाते हैं कि इस जगत् को इन्द्रजाल कहते हैं और जगत् के ही मध्य में

यह चिदाभास है अर्थात् इन्द्रजाल के समान मिथ्या जगत् के अंतर्गत होने से चिदाभास भी मिथ्या है यह सब विद्वानों का अनुभव है।।१७।।

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ।।१८।।

और जगत् के समान चिदाभास विनाशी है यह भी अनुभव दिखाते हैं कि, सुप्ति मूर्च्छा आदिकों में इस चिदाभास के विलय (नाश) को भी साक्षी देखता है और यह चिदाभास भी एतादृश (मिथ्या) अपने स्वभाव को बारंबार विवेक से जानता है अर्थात् कूटस्थ से पृथक् जब चिदाभास को जाना तब मिथ्यारूप अपने तत्त्व को कूटस्थ से पृथक् जानता है।।१८।।

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोग न वांछति ।।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवांछति ।।१९।।

कूटस्थ से पृथक् अपने स्वरूप को जानकर और अपने नाश का निश्चय करके फिर भोग की इच्छा नहीं करता जैसे मुमूर्षु (मरनेयोग्य) भूमि पर शयन कराया कौन मनुष्य अपने विवाह की वांछा करता है अर्थात् कोई भी नहीं करता है।।१९।।

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताऽहमिति पूर्ववत् ।।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ।।२२०।।

और पूर्व के समान मैं भोक्ता हूं ऐसा व्यवहार करने में भी लज्जित होता है। कदाचित् कहो कि ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर प्रारब्ध के अंतपर्यंत कैसे व्यवहार करता है सो ठीक नहीं क्योंकि छिन्न है नासिका जिसकी ऐसे (नकटे) पुरुष के समान लज्जित होकर क्लेश को प्राप्त होता हुआ अर्थात् अब भी प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता यह मानता हुआ प्रारब्ध कर्म के फल को भोगता है।।२२०।।

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ।।२२१।।

अब ज्ञान के अनन्तर साक्षी भोक्ता नहीं है यह कैमुतिकन्याय से दिखाते हैं कि जब यह चिदाभास अपने को भी भोक्ता मानने को अर्थात् मैं भोक्ता हूं यह जानने को लज्जित होता है तब अपने में वर्तमान भोक्तृत्व को असंग साक्षी में आरोप (मानना) करता है यह वृथा कथा कौन है अर्थात् कोई भी नहीं है क्योंकि आरोप मिथ्या होता है।।२२१।।

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशंकया ।।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्ज्वरो न हि ।।२२२।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रुति के आरूढ (अनुकूल) करते हैं कि 'किसकी कामना के लिये यह पूर्वोक्त श्रुति इसी अभिप्राय अर्थात् कूटस्थ वा चिदाभास को पारमार्थिक भोक्तृत्व के अभाव के तात्पर्य से शंका को छोड़कर भोक्ता का निषेध करती है इससे शरीर का संताप नहीं है।।२२।।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।
अवशं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ।।२३।।

अब तत्त्वज्ञानी को शरीर के अनुसार ज्वर का अभाव दिखाने के लिये शरीर के भेद और उनमें ज्वर के सम्भव को दिखाते हैं कि स्थूल सूक्ष्म कारण इन भेदों से शरीर तीन प्रकार का कहा है और उस २ शरीर में उचित ज्वर भी अवश (अयत्न से) है अर्थात् सर्वत्र संताप है।।२३।।

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।।
दुर्गंधित्वकुरूपत्वदाहभंगादयस्तथा ।।२४।।

अब स्थूल शरीर के ज्वरों को कहते हैं कि वात पित्त श्लेष्म (कफ) इनसे उत्पन्न कोटियों व्याधि और वैसे ही दुर्गन्धिरूप विरूप होना और देह का भंग आदि दुःख स्थूल देह में होते हैं।।२४।।

कामक्रोधादयः शांतिदान्त्याद्या लिंगदेहगाः ।।
ज्वरा द्वयेपि बांधते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ।।२५।।

अब सूक्ष्म शरीर के ज्वरों को दिखाते हैं कि काम क्रोध आदि और शांति दांति आदि ज्वर लिंगदेह में होते हैं ये दोनों प्रकारके भी ज्वर मिलने और न मिलने से मनुष्य को क्रम से बांधते हैं इसीसे ज्वर के तुल्य होने से ज्वर कहाते हैं।।२५।।

स्वं परं च न वेत्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।।
आगामि दुःखबीजं चेत्येतदिंद्रेण दर्शितम् ।।२६।।

कारण शरीर का ज्वर छांदोग्य श्रुति में कहा है कि 'कारणशरीर में आत्मा नष्ट के समान अपने और पर को नहीं जानता और कारण शरीर आगामी (भविष्य) दुःखों का बीज है' यह इन्द्र ने प्रजापति गुरु के आगे निवेदन इस श्रुति से किया है कि 'कारणशरीर में यह आत्मा ऐसे नहीं जानता कि यह मैं हूं और न इन भूतों को जानता है, विनाश में लीन हुआ यह जानता है कि इस समय मैं भोगने योग्य विषय को नहीं देखता हूं' इस* मन्त्र से अपने पराये ज्ञान से शून्यता और अज्ञान से

*** नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति ना ऐवमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि ।**

नष्टप्रायता और अग्रिम दिन में भविष्य दुःखों का हेतु शरीर है यह इन्द्र ने गुरु के आगे निवेदन किया है॥२६॥

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ॥
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२७॥

इस प्रकार तीनों देहों में ज्वरों को कहकर उनकी निवृत्ति के अभाव को कहते हैं कि तीनों प्रकार के भी शरीरों में प्रतीत हुए ये ज्वर स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीर के संग उत्पन्न होने से स्वाभाविक माने हैं अब स्वाभाविक होने को ही व्यतिरेक (निषेध) मुख से दृढ करते हैं कि जिस कारण से जब ज्वरों से उन शरीरों का वियोग होता हैं अर्थात दुःखों का अभाव होता है तब वे शरीर ही नहीं रहते इससे स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीर के संग ही हैं॥२७॥

तंतोर्विंयुज्येत पटो वालेभ्यः कम्बलो यथा ॥
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥२८॥

अब वियोग में दृष्टांत को कहते हैं कि जैसे तंतुओं से पट और जैसे बालों से कंबल और जैसे मिट्टी से घट वियुक्त (पृथक्) होता है ऐसे ही देह भी ज्वर से पृथक् होता है यह तुम देखो॥२८॥

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ॥
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२९॥

अब कूटस्थ में कैमुतिकन्याय से ज्वराभाव दिखाने के अभिलाषी आचार्य प्रथम चिदाभास में ज्वर का अभाव दिखाते हैं कि चिदाभास में तीनों शरीरों में वर्तमान् जो ज्वर उसके सबंध बिना कोई भी ज्वर नहीं है क्योंकि जिससे प्रकाश है एक स्वभाव जिसका ऐसे चित् को प्रकाशरूप देखा है अन्य रूप नहीं देखा॥२९॥

चिदाभासेऽप्यसभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ॥
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

अब जिसके लिये चिदाभास में ज्वर का अभाव कहा उसको दिखाते हैं कि जब चिदाभास में भी ज्वर नहीं हो सकते तो साक्षी के विषे ज्वर की क्या कथा है अर्थात् साक्षी में नहीं हो सकते ऐसा होने पर भी चिदाभास अज्ञान से एकता को मान लेता है इससे ही मैं ज्वरवान् हूं, यह अनुभव होता है॥२३०॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ॥
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥३१॥

संक्षेप से कही एकता का विस्तार से वर्णन करते हैं—चिदाभास अपने से युक्त

तीनों शरीरों में साक्षी की सत्यता का अध्यास करके उन ज्वरवाले तीनों शरीरों का अपना वास्तवरूप मानता है॥३१॥

एतस्मिन् भ्रांतिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्वस्वथ ॥
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुंबिवत् ॥३२॥

अब पूर्वोक्त भ्रम के फल को दिखाते हैं कि यह चिदाभास इस पूर्वोक्त भ्रांति के समय में शरीरों के दुःखी होने पर मैं ही दुःखी हूं, ऐसे कुटुंबी मनुष्यों के समान अपने को ही दुःखी समझता है॥३२॥

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ॥
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥३३॥

अब दृष्टांत को स्पष्टरीति से दिखाते हैं कि जैसे कुटुंबी मनुष्य पुत्र स्त्री इनके तपायमान होने से मैं तपता हूं ऐसें अपने में ही वृथा दुःख मानता है इसी प्रकार चिदाभास भी अपने में शरीर के दुःखों को मानता है॥३३॥

विविच्य भ्रांतिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन्सदा ॥
चिंतयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥३४॥

इस प्रकार अज्ञानदशा में चिदाभास को भ्रांति से ज्वर को दिखाकर विवेक अवस्था में ज्वर के अभाव को दिखाते हैं–चिदाभास पूर्वोक्त भ्रांति को छोड़कर और कूटस्थ अपनी आत्मा शरीर इनको पृथक् पृथक् जानकर और अपनी आत्मा को भी नहीं गिनता हुआ अर्थात् अपने भी अभाव के ज्ञान से अपने में भी आदर को नहीं करता हुआ और अपने आत्मारूप ज्वर आदि से रहित साक्षी की सदा चिंता करता हुआ किस कारण से ज्वरवाले शरीर का अनुयायी होकर ज्वर को प्राप्त हो अर्थात् नहीं हो सकता॥३४॥

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ॥
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥३५॥

अब भ्रांतिज्ञान ज्वर का और तत्त्वज्ञान ज्वर के अभाव का कारण है यह बात दृष्टांत को दिखाकर स्पष्ट कहते हैं–जैसे मनुष्य के पलायन (भागने) में मिथ्या वस्तुरूप सर्प आदि का ज्ञान हेतु है अर्थात् रज्जु को सर्प जानकर मनुष्य भागता है और आदि शब्द से स्थाणु में कल्पित चौर समझना और जब रज्जुओं से सर्प आदि की बुद्धि निवृत्त हो गयी तब अपने किये पलायन को सोचता है कि मैंने वृथा धावन किया क्योंकि यह तो रज्जु है, सर्प नहीं॥३५॥

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ।।३६।।

अब साक्षी की सदैव चिंता करता हुआ इस पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि जैसे लोक में मिथ्या अभियोग (दोष) का कर्ता मनुष्य उस दोष के प्रायश्चित्त के लिये जिसको दोष लगाया था उसकी बारंबार क्षमा करता है अर्थात् मेरे अपराध को क्षमा करो यह कहता है इसी प्रकार यह चिदाभास भी साक्षी असंग आत्मा में भोक्तृत्व का आरोप रूप जो मिथ्या अभियोगरूप दोष उसके प्रायश्चित्त के लिये साक्षीरूप आत्मा की शरण क्षमा करानेवाले के समान गया है।।३६।।

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ।।३७।।

उसमें ही अन्य दृष्टांत को कहते हैं कि जैसे पाप का कर्ता पुरुष आवृत्त (अभ्यास किये) पाप के दूर करने के लिये शास्त्रों में विहित स्नानदान आदि की आवृत्ति करता है उसी प्रकार यह साक्षी में तत्पर हुआ चिदाभास भी उसी में आरोप किये संसारित्व दोष की शांति के लिये ध्यान की आवृत्ति करनेवाले के समान होता है।।३७।।

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।।
जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।।३८।।

इस प्रकार दृष्टांतो से साक्षी में तत्परता का वर्णन करके चिदाभास अपने गुणों के कथन में लज्जित होता है इसको दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि जिसकी उपस्थ (योनि) में कुष्ठरोग है ऐसी वेश्या जैसे जानते हुए के आगे विलासों (भोगों) में लज्जित होती है ऐसे ही चिदाभास भी जानते हुए साक्षी के आगे अपने गुणों के वर्णन में लज्जित होता है।।३८।।

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः ।।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाभासः शरीरकैः ।।३९।।

अब तीनों शरीरों से पृथक् किये चिदाभास का फिर उन शरीरों के संग तादात्म्य (एकता) भ्रम के अभाव में दृष्टांत कहते हैं कि म्लेच्छों से ग्रहण किया (मिलाया) ब्राह्मण जैसे प्रायश्चित्त करने के अनन्तर फिर म्लेच्छों में नहीं मिलता है इसी प्रकार चिदाभास भी शरीर के संग नहीं मिलता है।।३९।।

यौवराज्यस्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवांछया ।।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ।।२४०।।

केवल अपराध की निवृत्ति के लिये ही साक्षी का शरण लेना नहीं किंतु महान् फल भी है इस बात को दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि जैसे युवराज पदवी पर स्थित राजा का पुत्र साम्राज्य (चक्रवर्ती होने) की वांछा से राजा का अनुकारी होता है अर्थात् राजा के समान प्रजा का अनुरंजन करता है वैसे ही यह चिदाभास भी साक्षी का अनुकारी हो जाता है।।२४०।।

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ।।४१।।

कदाचित् कहो कि युवराज को तो राजा के अनुसरण में साम्राज्य का फल दीखता है, ऐसे ही साक्षी के अनुसरण में फल को नहीं देखते, इससे चिदाभास साक्षी के अनुसरण में क्यों प्रवृत्त होता है सो ठीक नहीं क्योंकि 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है और इसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञानी से भिन्न नहीं होता, शोक और पाप को तरता है गुहा की ग्रंथि (वासना) ओं से रहित होकर अमृत हो जाता है इस श्रुति* में कहे ब्रह्म होनेरूप फल को सुनकर साक्षी में एकचित्त होकर ब्रह्म को जानता है, अन्य को नहीं, इससे इस फल की वांछा के लिये साक्षी का अनुसरण युक्तहै। भावार्थ यह है कि जो ब्रह्म को जाने वह ब्रह्म होता है, इस श्रुति को सुनकर ब्रह्म में एकचित् चिदाभास ब्रह्म को जानता है अन्य को नहीं।।४१।।

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशंति यथा तथा ।।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ।।४२।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म होने पर चिदाभास नष्ट ही हो जायगा तो कैसे अपने नाश में चिदाभास प्रवृत्त होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे जगत् में देवता होने से कामी मनुष्य अग्नि पर्वत प्रयाग गंगाप्रवेश आदि में प्रवृत्त होते हैं ऐसे ही साक्षीरूप से स्थिति के लिये और चिदाभासरूप की निवृत्ति के अर्थ ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त होता है।।४२।।

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ।।४३।।

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञान से आभासता चली जाती है तो तत्त्वज्ञानी भी जीव हैं यह व्यवहार कैसे होता है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे अग्नि आदि में प्रविष्ट पुरुष दाह

*** स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।**

आदि से जब तक अपने देह के दाह को नहीं करता तब तक मनुष्यभाव को नहीं छोड़ता है इसी प्रकार जब तक प्रारब्धकर्म का क्षय नहीं होता तब तक चिदाभास रूप की निवृत्ति नहीं होती है।।४३।।

रज्जुज्ञानेऽपि कंपादिः शनैरेवोपशाम्यति ।।
पुनर्मंदांधकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ।।४४।।

कदाचित् कहो कि भोक्ता के भ्रम से उपादान कारण जो अज्ञान उसके निवृत्त होनें से फिर कैसे भोगों में प्रवृत्ति और मैं मर्त्य हूं, यह विपरीत ज्ञान कैसे होते हैं, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे रज्जु का ज्ञान होने पर भी सर्प से पैदा हुए कंप आदि की शांति शनैः शनैः ही होती है और फिर भी मंद अंधकार में फेंकी हुई वह रज्जु सर्पिणी हो जाती है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के होने पर भी भोगों में प्रवृत्ति और मर्त्य हूं, यह ज्ञान हो सकते हैं।।४४।।

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ।।४५।।

सोई दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं कि इसी प्रकार प्रारब्ध का भोग भी शनैः शनैः ही शांत होता है, हठ से नहीं होता और भोग के समय में कदाचित् यह भी भान होता है कि मैं मर्त्य हूं।।४५।।

नैतावतापराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थिति खलुः ।।४६।।

कदाचित् कहो कि फिर मर्त्यबुद्धि होगी तो उससे तत्त्वज्ञान का बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि कदाचित् हुए 'मैं मर्त्य हूं' इस ज्ञान के होने रूप अपराध से आगमरूप प्रमाणों से पैदा हुआ तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता और यह मर्त्यबुद्धि का दूर करना रूप जो जीवन्मुक्ति का व्रत है वह नियम से करने योग्य नहीं है किंतु सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान से भ्रांतिज्ञान की निवृत्ति होती है यह वस्तु की स्थिति (स्वभाव) है इससे कदाचित् मर्त्यबुद्धि के उदय होने पर भी फिर तत्त्वज्ञानान्तर से मर्त्यबुद्धि का ही बोध होता है मर्त्यबुद्धि से तत्त्वज्ञान का बोध नहीं होता।।४६।।

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्धा न रोदिति ।।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ।।४७।।

कदाचित् कहो कि रज्जु सर्प आदि स्थल में विपरीत ज्ञान की निवृत्ति होने पर भी उसके कार्य कंप आदि होना रहे प्रकरण के (दशमस्त्वमसि) दशवां तू है इस द्रष्टांत में वाक्य के विचार से उत्पन्न ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होने पर उसके कार्य को नहीं

देखते सो ठीक नहीं क्योंकि 'दशवां मैं हूं' यह जानकर दशवां मनुष्य अज्ञान दशा में शिर को पीटकर जैसे रोता था उस प्रकार नहीं रोता है परंतु शिर के ताड़न से पैदा हुआ शिर को घाव तो मासभर से शनैः शनैः ही शांत होता है अर्थात् भ्रम का कार्य शिर का व्रण बना रहता है।।४७।।

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ।।४८।।

कदाचित् कहो कि ज्ञान के उत्तरकाल में भी संसार रहेगा जो जीवन्मुक्ति किस हेतु से पुरुषार्थ होगी सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे दशम् मनुष्य अपने अमरण के लाभ से प्रसन्न हुआ घाव के दुःख का आच्छादन करता है इसी प्रकार मुक्ति का लाभ प्रारब्ध के दुःख का आच्छादन करता है इससे दुःख का आच्छादन होने से जीवन्मुक्ति भी पुरुषार्थ है।।४८।।

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयोविविच्यताम् ।।
रससेवी दिने भुंक्ते भूयोभूयो यथा तथा ।।४९।।

जीवन्मुक्तिव्रत के अभाव से जब अध्यास हो तब ऐसे बारंबार विवेक करे जैसे रस का सेवक मनुष्य एक ही दिन में बारंबार भोजन करता है, इस प्रकार जीवन्मुक्ति को अध्यास की निवृत्ति के लिये पुनः पुनः विवेक करना चाहिये।।४९।।

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ।।२५०।।

कदाचित् कहो कि ज्ञान से भी निवृत्त होने के अयोग्य प्रारब्धकर्म की किससे निवृत्ति होती है सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे दशवां मनुष्य अपने शिर के घाव को औषध से शांत करता है ऐसे ही यह तत्त्वज्ञानी भी भोग से प्रारब्धकर्म को शांत करके मुक्त हो जाता है।।२५०।।

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ।।५१।।

अपरोक्ष ज्ञान और शोकनिवृत्ति ये दोनों अवस्था जीव की हैं यह 'आत्मानं चेत्' यह श्रुति कहती है इस पूर्वोक्त श्लोक से इस मंत्र में कही हुई कि 'आत्मा को मनुष्य इस प्रकार यदि जान ले कि यह आत्मा मैं हूं तो किसकी इच्छा और कामना से शरीर को दुःख दें' इससे पूर्वोक्त दोनों अवस्था जीव की हैं यह पहले कह आये, अब उन अवस्थाओं के कथन से सूचित कि जो जीव की तृप्तिरूप सावतीं अवस्था है उसका वृत्तांतपूर्वक वर्णन करते हैं कि 'क्या इच्छा करता हुआ' इस पिछले आधे वाक्य से

कहा जो शोक का मोक्ष (त्याग) है वह इतने पूर्वोक्त ग्रंथ के समूह से कहा और अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकमोक्ष और निरंकुशतृप्ति इस श्लोक में कही सातों जीव की अवस्थाओं के मध्य में यह शोकनिवृत्तिरूप शोक मोक्ष जीव की छठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्था का अब वर्णन करते हैं। भावार्थ यह है कि क्या इच्छा करता हुआ शरीर को दुःख दे इस श्लोक में कहा शोक का मोक्ष पूर्वोक्त ग्रंथ से वर्णन जो किया है वह चिदाभास की छठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्था का अब वर्णन करते हैं कि।।५१।।

सांकुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरंकुशा ।।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ।।५२।।

अपरोक्षज्ञान से उत्पन्न जो तृप्ति उसको निरंकुशरूप का प्रतियोगी (साँकुश) को दिखाकर वर्णन करते हैं कि विषयों के लाभ से जो तृप्ति होती है वह अंकुशसहित है क्योंकि उस तृप्ति के समय में अन्य विषय की कामना बनी रहती है और आत्मा के ज्ञान से जो तृप्ति होती है वह निरंकुश होती है क्योंकि इस तृप्ति में इस प्रकार मुमुक्षु तृप्त होता है कि मैंने करने के योग्य सब कर लिया और प्राप्त होने योग्य (ब्रह्म) मुझे प्राप्त हो गया अर्थात् करने वा प्राप्त होने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहा।।५२।।

ऐहिकामुष्मिकव्रातासिद्ध्यैढ मुक्तेश्च सिद्धये ।।
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ।।५३।।

अब कृतकृत्यता का ही वर्णन करते हैं कि इस विद्वान को तत्त्वज्ञान के उदय से पहले इस लोक की इष्टप्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिये कृषि वाणिज्य आदि और स्वर्ग आदि की सिद्धि के लिये यज्ञ उपासना आदि और मोक्ष के साधन ज्ञान की सिद्धि के लिये श्रवण मनन आदि बहुत प्रकार का कृत्य रहा, वह सब अब (ब्रह्मज्ञान होने पर) कर लिया अर्थात् संसार कें फल की इच्छा के अभाव से और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से वह सब कृषि, वाणिज्य आदि प्रायः कृतसा ही है कारण उसके करने का कुछ फल नहीं है। भावार्थ यह है कि इस लोक और परलोक और मुक्ति की सिद्धि के लिये ज्ञानी को ज्ञान से पूर्व बहुत कृत्य रहा वह सब अब कर लिया।।५३।।

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ।।५४।।

इस प्रकार कृतकृत्य को कह कर उसका फल जो तृप्ति उसका वर्णन करते हैं कि इस प्रकार प्रतियोगी के वर्णनपूर्वक जो यह कृतकृत्यता है उसका अनुसंधान (स्मरण)

करता हुआ यह चिदाभास प्रतिक्षण तृप्त होता है।।५४।।

दु:खिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।।
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ।।५५।।

उसी अनुसंधान को विस्तार से दिखाते हैं कि दु:खी और अज्ञानी मनुष्य पुत्र आदि की कामना से संसार (जन्म मरण) को यथेच्छ प्राप्त हो परंतु परमानंद से पूर्ण मैं किसकी इच्छा से संसार को प्राप्त होऊं। अर्थात् निरपेक्ष मेरा संसार से कुछ प्रयोजन नहीं है।।५५।।

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ।।५६।।

और परलोक में गमन के अभिलाषी पुरुष कर्मों को करे पर संपूर्ण लोकों का स्वरूप मैं क्यों किसी कर्म को किस प्रकार करूं अर्थात् परलोकार्थ कर्म भी मुझे कर्तव्य नहीं है।।५६।।

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ।।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।।५७।।

कदाचित् कहो कि अपने लिये प्रवृत्ति के न होनें पर भी पर के अर्थ प्रवृत्ति हो जायगी सो भी ठीक नहीं क्योंकि वे शास्त्रों की व्याख्या करें वा वेदों को पढ़ावें जो इसमें अधिकारी है, मेरा तो इसमें अधिकार नहीं है क्योंकि मैं क्रिया से रहित हूं अर्थात् वाणी के व्यापार का अकर्ता हूं।।५७।।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।।५८।।

कदाचित् कहो कि अपने देह के पोषणार्थ भिक्षा लाना और परलोकार्थ स्नान आदि का करना आप में देखते हैं इससे क्रिया से रहित रूप कैसे आप में घट सकता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच इनकी न मैं इच्छा करता हूं, न इन्हें करता हूं, यदि द्रष्टालोग मुझमें कल्पना करें, अन्योंकी कल्पना से मुझे क्या ? अर्थात् वह मेरी बाधक नहीं है।।५८।।

गुजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।।
नान्यारोपितसंसारधमनिवमहं भजे ।।५९।।

कदाचित् कहो कि अन्य की कल्पना से भी बाध होता है सो ठीक नहीं क्योंकि गुंजा (लालघूंघची) समूह को कोई अग्नि समझे तो उस अग्नि से वह गुंजा का पुंज जैसे नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार मुझमें अन्य पुरुषों के आरोप किये जो संसार के

धर्म हैं उनको मैं भी नहीं भज सकता हूँ।।५९।।

श्रृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।।
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ।।२६०।।

कदाचित् कहो कि अन्य फलों की इच्छा के अभाव से कर्म का अनुष्ठान मत हो तत्त्वज्ञान के लिये श्रवण आदि तो करने ही पड़ेंगे सो भी ठीक नहीं क्योंकि नहीं जाना है तत्त्व जिन्होंने ऐसे वे सब अज्ञानी सुनें, जानता हुआ मैं क्यों सुनूं और तत्त्व ऐसा है वा अन्य प्रकार का है ऐसे संशय से युक्त पुरुष मनन करे, पूर्वोक्त संशय से रहित मैं क्यों मनन करूं अर्थात् अज्ञान के अभाव से श्रवण मनन आदि का कर्ता भी हो सकता। भावार्थ यह है कि अज्ञात है तत्त्व जिनको वे सुनें, मैं जानता हुआ क्यों मैं नहीं सुनूं और संशय से युक्त मनुष्य मनन करे असंशय मैं क्यों करूं?।।२६०।।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।।
देहात्मत्वपिर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ।।६१।।

कदाचित् कहो कि श्रवण मनन मत हो विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिये निदिध्यासन तो ज्ञानी को अवश्य अपेक्षित है सो ठीक नहीं, कारण कि जिसे विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे, विपरीतज्ञान के अभाव से मुझे निदिध्यासन करना निष्फल है क्योंकि देह आत्मा है यह जो विपरीतज्ञान उसको मैं कदाचित् भी नहीं भजता हूं अर्थात् वह मुझे कभी भी नहीं होता है।।६१।।

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाऽप्यमुम् ।।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ।।६२।।

कदाचित् कहो कि विपरीत ज्ञान के अभाव में मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार कैसे घटेगा सो ठीक नहीं क्योंकि मैं मनुष्य हूं, यह व्यवहार तो विरीत ज्ञान के बिना भी चिरकाल से है अभ्यास जिसका ऐसी वासना से कल्पना किया जाता है।।६२।।

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ।।६३।।

कदाचित् कहो कि विपरीत ज्ञान के नाशार्थ ध्यान करना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धकर्म के नाश होने पर ही इस व्यवहार की निवृत्ति होती है और प्रारब्ध के क्षय बिना तो यह सहस्र प्रकार के ध्यान से भी शांत नहीं होता।।६३।।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्धयानमस्तु ते ॥
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥६४॥

कदाचित् कहो कि प्रारब्ध से उत्पन्न व्यवहार की विरलता (श्रेष्ठता) के लिये ध्यान करने योग्य है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि तू व्यवहार को विरल मानता है तो तू ध्यान को कर अर्थात् ध्यान से व्यवहारनिवृत्ति तेरे मत में रहे और व्यवहार को अबाधक (हानि का न कर्ता) देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करूं अर्थात् मेरी दृष्टि में ज्ञानी का व्यवहार बाधक नहीं है।।६४।।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥६५॥

कदाचित् कहो कि ध्यान का न करना हो परंतु विक्षेप की निवृति के लिये समाधि तो करनी ही चाहिये सो ठीक नहीं किंतु जिससे मुझे विक्षेप नहीं है इससे समाधि भी मुझे नहीं है क्योंकि विक्षेप वा समाधि ये दोनों विकारी मन को होते हैं इससे विक्षेप का निर्वतक समाधि में भी मेरा अधिकार नहीं है।।६५।।

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥६६॥

कदाचित् कहो कि समाधि का फल अनुभव तो करना चाहिये सो भी ठीक नहीं कि नित्य अनुभव (ज्ञान) रूप जो मैं हूं उस मुझसे पृथक् अनुभव कौन है अर्थात् कोई नहीं इससे कृत्य (करने योग्य) कर लिया और प्राप्त होने योग्य प्राप्त हो गया यह निश्चय जो मेरा है सो सिद्ध हुआ।।६६।।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथाऽपि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम् ॥६७॥

कदाचित् कहो कि सब कर्मों में आत्मा को कर्ता न मानोगे तो सब व्यवहार में नियम न रहेगा कि यही हो अन्य न हो सो भी ठीक नहीं क्योंकि लोक का वा शास्त्रोक्तव्यवहार अर्थात् भिक्षा, भोजन और जप समाधि आदि वह अन्यथा (हिंसा आदि) जो व्यवहार है वह कर्ता भोक्ता से भिन्न जो मैं हूं उसे प्रारब्धकर्म के अनुसार वर्ते अर्थात् उससे मेरी कुछ हानि नहीं है।।६७।।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ॥
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥६८॥

अथवा कृतकृत्य भी मैं प्राणियों के अनुग्रह की कामना से शास्त्रोक्त मार्ग से ही वर्तूं तो मेरी क्या हानि है अर्थात् कुछ हानि नहीं है।।६८।।

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ॥
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥६९॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥

कदाचित् कहो कि शास्त्रीय मार्ग से प्रवृत्ति मानोगे तो उसके अभिमान से ही विकार हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि देवपूजन, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में देह प्रवृत्त हो और वाणी ओंकार को जपे वा वेदांतशास्त्र को पढ़े और बुद्धि विष्णु का ध्यान करे वा ब्रह्मानंद में लय हो इन सबका साक्षीस्वरूप मैं न करता हूं न कराता हूं॥६९॥२७०॥

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ॥
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥७१॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से कर्म से कर्ता भी मुझे कलह किस प्रकार हो सकता है क्योंकि पूर्व और पश्चिम के समुद्र जैसे भिन्न हैं इसी प्रकार मैं भी इनसे भिन्न हूं॥७१॥

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि ॥
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बंधो नेतरत्र हि ॥७२॥

कर्मों का देह, वाणी, बुद्धि मन में आग्रह है साक्षी में नहीं और ज्ञानी का साक्षी निर्लेप है इसमें आग्रह है देह आदि में नहीं॥७२॥

एवं चान्योन्यवृत्तांतानभिज्ञौ बधिराविव ॥
विवदेतां बुद्धिमंतो हसंत्येव विलोक्य तौ ॥७३॥

इससे परस्पर का जो वृत्तांत उसके अज्ञानी, जो ज्ञानी और कर्मी हैं वे दोनों बधिर मनुष्यों के समान विवाद को करें उनको देखकर बुद्धिमान् मनुष्य हँसे होंगे प्रशंसा न करेंगे॥७३॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ॥
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥७४॥

बिना विषय (निष्प्रयोजन) कलह के हेतु को कहते हैं कि कर्म का कर्ता मनुष्य कर्म करने के उपयोगी जो देह, वाणी, बुद्धि हैं उनसे भिन्न जिस प्रत्यगात्मारूप साक्षी को नहीं जानता है उस साक्षी को ही तत्त्व का ज्ञाता ब्रह्म समझ ले तो इसमें कर्मों की क्या हानि है अर्थात् कुछ नहीं॥७४॥

देहवाग्बुद्धयंस्त्यक्त्वा ज्ञानिनाऽनृतबुद्धितः ॥
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥७५॥

और ज्ञानी ने मिथ्या समझकर त्यागे हुए, वाणी, बुद्धियों से कर्मी मनुष्य प्रवृत्त हो अर्थात् देह आदि के द्वारा कर्मों को करे उससे ज्ञानी की क्या हानि है?।।७५।।

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद् बुभुत्सायां तथेतरा ।।७६।।

अब यह शंका करते हैं कि प्रयोजन से शून्य होने से ज्ञानी कर्म के अनुष्ठान को नहीं मानते कि प्रवृत्ति का उपयोग नहीं है तो निवृत्ति का किसमें उपयोग है कदाचित् कहो कि निवृत्ति बोध का हेतु है तो बोध की अभिलाषा से प्रवृत्ति का भी उपयोग है।।७६।।

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ।।७७।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी को बोध की इच्छा के अभाव से प्रवृत्ति का उपयोग नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानी को बोध की इच्छा न मानोगे तो पुनः (फिर) बोध के अभाव से ज्ञानी को निवृत्ति का भी उपयोग न होगा कदाचित् कहो कि एक बार पैदा हुए बोध की स्थिरता के लिये निवृत्ति की अपेक्षा है सो ठीक नहीं क्योंकि बाध के अभाव से ही बोध की स्थिरता बनी रहेगी अन्य साधन से नहीं अर्थात् वाक्यरूप प्रमाणों से पैदा हुआ ज्ञान किसी बलवान् प्रमाण से भी नहीं बाधा जा सकता इससे उसका अनुवृत्ति (स्थिरता) हो जायगी उसमें अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है।।७७।।

नाविद्या नापि तत्काय बोधं बाधितुमर्हति ।।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ।।७८।।

कदाचित् कहो कि अन्य प्रमाण से बोध मत हो परंतु अविद्या और अविद्या के कार्य वा कर्तृत्व के अध्यास से बोध का बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि अविद्या और उसके कार्य बोध को नहीं बाध सकते हैं क्योंकि पहले ही उन दोनों का तत्त्वबोध बाध कर चुका है।।७८।।

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हंति हन्यात्कथं मृतः ।।७९।।

कदाचित् कहो कि अविद्या के बोध होने पर भी प्रतीत हुए उसके कार्य का बाध नहीं हो सकता और उस कार्य से बोध का बाध हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान से बाधा हुआ अविद्या का कार्य नेत्रों से दीखे परन्तु वह बोध को इस प्रकार

नहीं बाध सकता जैसे जो मूसा जीता हुआ ही मार्जार (बिलाव) को नहीं मार सकता तो वह मरा हुआ किस प्रकार मार सकता है।।७९।।

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।।
निष्फलेषुवितुन्नांगो नंक्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ।।२८०।।

अब द्वैत के दर्शन से तत्त्वबोध के बाध का अभाव कैमुतिकन्याय से दृष्टांतके द्वारा दिखाते हैं कि जो समर्थ पाशुपत अस्त्र से विंधा भी नहीं मरा तो वह फल (भाल) से रहित बाणों से पीड़ा को प्राप्त है अंग जिसका ऐसा वह नाश को प्राप्त हो जायगा, इसमें क्या प्रमाण है अर्थात् कोई नहीं।।२८०।।

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।।
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ।।८१।।

दृष्टांत से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टांतिक में दिखाते हैं, प्रथम विद्याभ्यास के समय में अनेक प्रकार के प्रमाता भोक्ता आदि अपने कार्यों से वृद्धि को प्राप्त हुई अविद्या के संग युद्ध करके जिस बोध ने अविद्या को जीत लिया, अभ्यास की कुशलता से भली भांति दृढ़ हुआ वही बोध अविद्या की निवृत्ति होने पर निर्मूल उन अविद्या के कार्य अध्या से किस प्रकार बाधित हो सकता है अर्थात् नहीं बाधा जाता है।।८१।।

तिष्ठंत्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ।।८२।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रोताओं की बुद्धि में आरूढ होने के लिये रूपक से वर्णन करते हैं कि अज्ञान और उसके कार्यरूप जो बोध के मारे हुए शव (मुर्दे) हैं वे भूमि पर बने रहें उनसे बोधरूपी चक्रवर्ती को भय नहीं प्रत्युत उनसे उनकी कीर्ति है।।८२।।

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्य किम् ।।८३।।

जो मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार के शूरवीर बोध से वियुक्त नहीं होता अर्थात् अविद्या और उसके कार्यों के नाशक ब्रह्मज्ञान से युक्त रहता है उस पुरुष को देह आदि की प्रवृत्ति और निवृत्ति से क्या इष्ट है और क्या अनिष्ट है अर्थात् कुछ नहीं।।८३।।

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ।।८४।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी के समान अज्ञानी को भी प्रवृत्ति में आग्रह युक्त नहीं सो ठीक नहीं किन्तु बोध से हीन पुरुष को प्रवृत्ति में आग्रह करना युक्त है क्योंकि मनुष्यों को स्वर्ग वा नरक के लिये यत्न करना योग्य है।।८४।।

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ।।८५।।

कदाचित् कहो कि विद्वान् आग्रह न करे तो कर्मियों के मध्य में रहकर उसे क्या करना युक्त है इसलिये कहते हैं कि यदि विद्वान कर्मियों के मध्य में रहे तो उनके अनुरोध सें अर्थात् उन्हीं के अनुसार काया, मन, वाणी से संपूर्ण कर्मों को करे ही और उन कर्मियों को भी मने न करे।।८५।।

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ।।८६।।

अब तत्त्वज्ञानियों के मध्य में टिके विद्वान् के कृत्य को कहते हैं कि यदि यह विद्वान् तत्त्वबोध के अभिलाषियों के मध्य में टिके तो उनको बोध के लिये उनके सब कर्मों में दोष देता हुआ आप भी संपूर्ण कर्मों को त्याग दे।।८६।।

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।।
स्तनंधयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ।।८७।।

इस प्रकार ज्ञानी के कर्तव्य में हेतु को कहते हैं कि ज्ञानी की वृत्ति अज्ञानियों के अनुसार युक्त है क्योंकि पिता का वर्ताव बालक के अनुसार होता है।।८७।।

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ।।८८।।

जैसे बालक अपने पिता का अधिक्षेप (गाली देना) करे वा ताड़ना दे तो भी पिता उसका क्लेश नहीं मानता, न उस पर क्रोध ही करता है, प्रत्युत उसका लाड करता है।।८८।।

निंदितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निंदति ।।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाऽऽचरेत् ।।८९।।

अब दृष्टांत को दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं, अज्ञानी विद्वान् की निन्दा करे वा स्तुति करे पर ज्ञानी उनकी न निन्दा करता है न स्तुति किन्तु ऐसा आचरण करता है कि जिससे उनको बोध हो।।८९।।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत्कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ।।२९०।।

ज्ञानी के इस प्रकार आचरण में हेतु को कहते हैं कि इस अज्ञानी को जिस प्रकार के आचरण से इस जगत् में बोध हो उस प्रकार के आचरण को ज्ञानी अवश्य करे अन्य कुछ न करे क्योंकि तत्त्वज्ञानी का इस लोक में अज्ञानियों को भले प्रकार बोध कराने से अन्य कोई कार्य नहीं हैं।।२९०।।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।।
तृप्यनैवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ।।९१।।

अब पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण के तात्पर्य को कहते हैं कि यह ज्ञानी पूर्वोक्त प्रकार की कृतकृत्यता से और वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्ति के योग्य की प्राप्ति से तृप्त हुआ अपने मन से निरन्तर इस प्रकार मानता है कि।।९१।।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानंदो विभति मे स्पष्टम् ।।९२।।

जिससे मैं सदा देश काल आदि से असंयुक्त अपने प्रत्यगात्मा को साक्षात् जानता हूं इससे मुझे धन्य है धन्य है अर्थात् आत्मज्ञान के लाभ से मैं संतुष्ट हूं और ब्रह्मरूप आनंद मुझे स्पष्ट प्रकाशित होता है इससे मुझे धन्य है धन्य है अर्थात् आत्मज्ञान का फल जो ब्रह्मानंद उससे मैं संतुष्ट हूं।।९२।।

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।।९३।।

इस प्रकार इष्टप्राप्ति के संतोष को कहकर अनिष्ट निवृत्ति के सन्तोष को कहते हैं कि अब मैं संसाररूप दुःख को नहीं देखता इससे मुझे धन्य है धन्य है और अनेक कर्मों की वासना का समूहरूप मेरा अज्ञात कहीं पलायमान हो गया अर्थात् नष्ट हुआ इससे मुझे धन्य है धन्य है।।९३।।

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ।।९४।।

अब अज्ञान निवृत्ति के फल को दिखाते हैं अब मुझे किंचित् भी कर्तव्य नहीं है इससे मैं धन्य हूं धन्य हूं और जो प्राप्त होने योग्य था वह सब प्राप्त हो गया इससे मैं धन्य हूँ धन्य हूँ।।९४।।

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः ।।९५।।

इससे परे जगत् में मेरी तृप्ति की क्या उपमा हो सकती है इससे मुझे धन्य है धन्य है अबसे आगे कोई वक्तव्य (कहने योग्य) नहीं दीखता इससे मुझे धन्य है, धन्य

है, धन्य है और फिर भी धन्य है, धन्य है॥९५॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥९६॥

इस पूर्वोक्त संतोष के कारणरूप पुण्यपुंज का स्मरण करके जो संतोष उसको कहते हैं–बड़ा पुण्य है, बड़ा पुण्य है जिसका ऐसा दृढ़फल हुआ और इस प्रकार पुण्य के संपादक जो हम वे भी महान् हैं अर्थात् ऐसे आत्मस्वरूप हम आश्चर्यस्वरूप हैं॥९६॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥९७॥

अब सम्यक्ज्ञान के साधक शास्त्र और उसके उपदेशकर्ता आचार्य का स्मरण करके संतोष करते हैं कि यह शास्त्र आश्चर्यरूप है! आश्चर्यरूप है!! इसके गुरु भी आश्चर्यरूप हैं २ और इस शास्त्र से उत्पन्न हुआ ज्ञान और ज्ञान की प्राप्ति का सुख भी आश्चर्यरूप है २ अर्थात् सबसे उत्तम है॥९७॥

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
ब्रह्मानंदे निमज्जंतस्ते तृप्यंति निरंतरम् ॥२९८॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य इस तृप्तिदीपका नित्य अनुसंधान (विचार) करते हैं ब्रह्मानंद में स्नान करते हुए वे निरन्तर तृप्त होते हैं॥२९८॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्यां पंडितमिहिरचंद्रकृतभाषा–
विवृतौ तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ॥७॥

इति तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ॥७॥

अथ कूटस्थदीपप्रकरणम् ८

खादित्यदीपिते कुडचे दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ।।१।।

इस कूटस्थदीप प्रकरण में मुमुक्षु के मोक्ष का साधन जो ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान, उसको त्वंपदार्थ के शोधन से जन्य होने के कारण त्वंपदार्थ के शोधक कूटस्थ दीपका प्रारंभ करते हुए आचार्य त्वंपद के लक्ष्य अर्थ और वाच्य अर्थ जो क्रम से कूटस्थ जीव हैं उनको भेद से दृष्टांत देकर दिखाते हैं कि आकाश में प्रसिद्ध जो सूर्य उसके प्रकाश से प्रकाशित हुई भित्तिपर दर्पण में प्रतिबिंबित सूर्य की दीप्ति (प्रकाश) के समान अर्थात् दर्पण में पड़कर लौटे सूर्य के और भित्ति पर आकाशके सूर्यके इन दोनों से भित्ति के प्रकाश के समान कूटस्थ (अविकारी चैतन्य) से प्रकाशित देह को बुद्धि में प्रतिविंवित चिदाभास प्रकाशित करता है। इससे यह प्रतिज्ञान हुआ कि जैसे भित्ति के प्रकाशक सामान्य विशेषरूप दो प्रकाश सूर्य के हैं इसी प्रकार देह के प्रकाशक दो चैतन्य हैं। भावार्थ यह है कि आकाश के सूर्य के प्रकाशित किये कुडच (भीत) को जैसे दर्पण का सूर्य प्रकाशित करता है उसी प्रकार कूटस्थ के प्रकाशित किये देह को बुद्धि को स्थित जीव प्रकाशित करता है।।१।।

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ।।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशत्ते ।।२।।

कदाचित् कहो कि वहां दर्पण के सूर्य की दीप्ति के अतिरिक्त आकाश के सूर्य की दीप्ति नहीं मिलती है यह शंका करके दर्पण के सूर्य की दीप्तियों से आकाश के सूर्य की दीप्ति को पृथक् करके दिखाते हैं कि जो अनेक दर्पण में प्रतिबिंबित सूर्यो की दीप्ति वहां २ मंडलाकर दीखती हैं उनकी संधियों (मध्य २) में आकाश के सूर्य की दीप्ति भी सामान्य प्रकाशरूप से प्रतीत होती है और दर्पण से पैदा हुई प्रभाओं के अभाव में तथा होने पर भी वह सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होती है इससे वह उनसे भिन्न है। भावार्थ यह है कि अनेक दर्पण के सूर्यों की दीप्तियों के मध्य २ की अनेक संधियों में आकाश के सूर्य की दीप्ति स्पष्ट है और उनके अभाव में भी प्रकाशित होती है।।२।।

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ।।
संधिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ।।३।।

अब दृष्टांत से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि उसी प्रकार चिदाभास विशिष्ट अर्थात् चित् के प्रतिबिंब से युक्त जो अनेक बुद्धि की वृत्ति (घटज्ञान आदि शब्दों के अर्थरूप) हैं उनकी संधि (मध्य) को जाग्रत् आदि अवस्थाओं में और उन्हीं पूर्वोक्त बुद्धिवृत्तियों के अभाव को सुषुपि आदि अवस्थाओं में प्रकाशित करते हुए इस कूटस्थ को उन वृत्तियों से भिन्न जानो। भावार्थ यह है कि चिदाभास से युक्त अनेक बुद्धियों को और बुद्धियों के अभाव को प्रकाशित करते हुए कूटस्थ को भी आकाश के सूर्य की प्रभा के समान भिन्न जानो।३।।

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ।।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ।।४।।

अब देह के मध्य में कूटस्थ और चिदाभास का भेद दिखाने के लिये देह से बाहर भी चिदाभास और ब्रह्म को पृथक् २ दिखाते हैं कि एक घट के समान है आकार जिसका ऐसी बुद्धि में वर्तमान जो चिदाभास वह एक घट को प्रकाशित करता है और उस घट का जो ज्ञातता नामका धर्म है अर्थात् मैंने घट को जाना इस व्यवहार का जो हेतु है वह घट की कल्पना का अधिष्ठानरूप जो साधनरूप ब्रह्मचैतन्य है उससे ही प्रकाशित होता है। भावार्थ यह है कि एक घटाकार बुद्धि में स्थित चैतन्य घट का ही प्रकाश करता है और घट की ज्ञातता का प्रकाश ब्रह्म चैतन्य से होता है।।४।।

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्धचुदयात्पुरा ।।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ।।५।।

कदाचित् कहो कि ज्ञातता के प्रकाशक चैतन्य से ही घट की प्रतीति हो जायगी बुद्धि का क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि के उदय से पूर्व ब्रह्म से इसी घट का अज्ञातरूप से प्रकाश हुआ था और बुद्धि की उत्पति के अनंतर ज्ञातरूप से ब्रह्म ने प्रकाशित किया है यही भेद है अन्य नहीं।।५।।

चिदाभासांतधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहांतकुंतवत् ।।
जाडयमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ।।६।।

कदाचित् कहो कि एक घट के ज्ञात और अज्ञात दो रूप कैसे हो सकते हैं यह शंका करके उनके ज्ञानार्थ ज्ञातता और अज्ञातता के निमित्त ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप को पृथक् २ दिखाते हैं कि चित्प्रतिबिंबरूप जो चिदाभास वह पुरः (अग्र)

भाग में है जिसके ऐसी जो बुद्धि की वृत्ति वह ज्ञान कहलाती है क्योंकि आचार्यों ने यह बुद्धि का स्वरूप कहा है कि जो बोध से इद्ध हो वह बुद्धि है और वह ऐसी है जैसे लोहे के सिरे में कुंत (भाला) होता है और जड़ता अर्थात् स्वतः प्रकाशरहित को अज्ञात कहते हैं इन ज्ञान और अज्ञानों से व्याप्त जो घट है वह दो प्रकार का कहलाता है अर्थात् जाने हुए को ज्ञात और न जाने हुए को अज्ञात कहते हैं। भावार्थ यह है कि लोहे के अग्रभाग में कुंत के समान चिदाभास के अग्रभाग में जो बुद्धि की वृत्ति उसे ज्ञान और जड़ता को अज्ञान कहते हैं इन दोनों से व्याप्त घट ज्ञात अज्ञान भेद से दो प्रकार का होता है।।६।।

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुंभस्तथा न किम् ।।
ज्ञानत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ।।७।।

कदाचित् कहो कि अज्ञात घट का ब्रह्म से प्रकाश रहे और ज्ञान से व्याप्त (ज्ञात) जो घट उसका ब्रह्मचैतन्य से प्रकाश क्यों मानते हो यह शंका करके यह कहते हैं कि जैसे अज्ञातता को पैदा करके अज्ञान उपक्षीण है ऐसे ज्ञातता को पैदा करके ज्ञान भी उपक्षीण है इससे अज्ञात घट के समान ज्ञात घट का भी ब्रह्म से ही प्रकाश होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे अज्ञात घट ब्रह्म से भासमान होता है वैसे ही ज्ञात घट भी ब्रह्म से प्रकाशमान क्यों न होगा किन्तु अवश्य होगा क्योंकि ज्ञातता को पैदा करके ही चिदाभास का परिक्षय (नाश) हो जाता है।।७।।

आभासहीनया बुद्धचा ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।।
तादृगबुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ।।८।।

कदाचित् कहो कि अज्ञातता के जन्मार्थ जैसे अज्ञान को मानते हो ऐसे ही ज्ञातता के जन्मार्थ बुद्धि ही बहुत हैं चिदाभास मानने का क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं क्योंकि चिदाभास से रहित जो बुद्धि है वह ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकती है कारण यह है कि चिदाभास से रहित बुद्धि में और विकाररूप मिट्टी आदि में कुछ विशेष (भेद) नहीं हैं अर्थात् चिदाभास से रहित बुद्धि घट आदि के समान अप्रकाशरूप है इससे ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकती है।।८।।

ज्ञात इत्युच्यते कुंभो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।।
धीमात्रव्याप्तकुंभस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ।।९।।

अब चिदाभास रहित बुद्धि से व्याप्त घट को ज्ञातता का अभाव दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि जैसे जगत् में शुक्ल वा कृष्णरूप मिट्टीसे व्याप्त (लिपे) घट को कोई भी ज्ञात नहीं कहता इसी प्रकार चिदाभासरहित बुद्धि से व्याप्त घट को भी ज्ञान

नहीं मानते हैं।।९।।

ज्ञातत्वं नाम कुंभेऽऽतश्चिदाभासफलोदयः ।।
न फलं ब्रह्म चैतन्यं मानात्प्रागति सत्त्वतः ।।१०।।

अब फलित का वर्णन करते हैं कि जिससे केवल बुद्धि ज्ञातता के पैदा करने में समर्थ नहीं है इससे कुंभ में चिदाभासरूप फल की जो उत्पत्ति वही ज्ञातता नाम से प्रसिद्ध है। कदाचित् कहो कि ब्रह्म चैतन्यरूप फल के रहते चिदाभास की कल्पना न करनी चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म चैतन्य को फल नहीं कह सकते क्योंकि वह मान (प्रमाणवृत्ति) से पूर्वकाल में भी विद्यमान है और फल प्रमाण के उत्तरकालमें ही हुआ करता है। भावार्थ यह है कि इससे घट में चिदाभासरूप फल का उपाय ही ज्ञातता प्रसिद्ध है और प्रमाण से पहले भी विद्यमान होने से ब्रह्म चैतन्य फल नहीं हो सकता।।१०।।

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदांतोक्तिप्रमाणतः ।।११।।

कदाचित् कहो कि (परागर्थप्रमेयेषु) इत्यादि जो सुरेश्वर का वार्तिक उसके विरुद्ध है सो ठीक नहीं क्योंकि पराक् (बाह्य) जो घट आदि पदार्थ हैं उन प्रमेयो (प्रमाण के विषय) के विद्यमान होते हुए जो प्रमाण का फलरूप संवित् (ज्ञान) है वही इस वेदांतशास्त्र में वेदांतरूप वाक्यों के प्रमाण से मेय (जानने योग्य) अर्थ माना है अर्थात् उनके फल को ही हम मेय मानते हैं।।११।।

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः ।।१२।।

और इस पूर्वोक्त सुरेश्वर वार्त्तिककार ने ब्रह्म चैतन्य सदृश चिदाभास प्रमाण का फल माना है ब्रह्म चैतन्य नहीं और यह वार्तिककार का अभिप्राय इससे जानते हैं कि उनके गुरु श्रीमान् शंकराचार्य ने उपदेशसहस्री ग्रंथ में ब्रह्म चैतन्य और चिदाभास का भेद कहा है।।१२।।

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद्घटे ।।
तत्पुनर्ब्रह्मणा भास्यमज्ञातत्ववदेव हि ।।१३।।

जिससे ब्रह्मचित् और फल का भेद प्रसिद्ध है इससे घट में उत्पन्न हुआ आभास ज्ञातता को पैदा करता है और वह ज्ञातता अज्ञातता के समान ब्रह्म से ही प्रकाशित होती है यह प्रसिद्ध है।।१३।।

धीवृत्त्याभासकुंभानां समूहो भास्यते चिदा ॥
कुंभमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥१४॥

इस प्रकार ब्रह्मचित् और आभास के कहे हुए भेद को विषय भेद दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मचैतन्य से बुद्धि की वृत्ति, चिदाभास, कुंभ इन तीनों के समूह का प्रकाश होता है और चिदाभास तो केवल कुंभ में वर्तमान फलरूप है इससे चिदाभास से केवल घट का ही स्फुरण (प्रकाश) होता है॥१४॥

चैतन्य द्विगुणं कुंभे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ॥
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥१५॥

अब कुंभ का प्रकाश चिदाभास और ब्रह्म दोनों से होता है इसमें लिंग को कहते हैं कि इसी से घट में द्विगुण चैतन्य है क्योंकि वह ब्रह्म से ज्ञान होकर स्फुरता है अर्थात् ब्रह्म चिदाभास दोनों से प्रकाशित होता है और इसी घट की ज्ञातता के अव भासक (प्रकाशक) चैतन्य को नैयायिक अनुव्यवसाय कहते है अर्थात् अनुव्यवसाय नाम का अन्य ही ज्ञान मानते हैं॥१५॥

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ॥
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

अब व्यवहार के भेद से भी चिदाभास और ब्रह्म का भेद मानने योग्य है यह वर्णन करते हैं कि 'यह घट है' यह कथन तो आभास के प्रसाद से होता है और 'मैंने घट जाना' यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से होता है॥१६॥

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्वियेचिते ॥
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

जिस प्रकार चिदाभास और ब्रह्मका विवेक देहसे बाहर किया है उसी प्रकार चिदाभास और कूटस्थ का विवेक देह के भीतर भी करना योग्य है॥१७॥

अहवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ॥
सव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥१८॥

कदाचित् कहो कि जैसे बाहर चिदाभास से व्याप्य घटाकारवृत्ति है ऐसे देह के भीतर किसी विषय की वृत्ति नहीं है इससे उसके व्यापक चिदाभास को कैसे मानते हो सो ठीक नहीं क्योंकि विषयाकारवृत्ति के अभाव से भी अहमाकारवृत्ति के होने से उसके व्यापक चिदाभास का स्वीकार दृष्टांत से कहते हैं कि अहंवृत्ति और काम क्रोध आदिकों में चिदाभास उस प्रकार व्याप्त होकर वर्तता है जैसे तपायमान लोह में अग्नि एकरूप प्रतीत होती है॥१८॥

स्वमात्रं भासयेतप्त लोहं नान्यत्कदाचन ।।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ।।१९।।

अब अहम् आदि वृत्तियों का चिदाभास से प्रकाश दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि जैसे तपायमान लोहा अपने स्वरूप ही का प्रकाश करता है अन्य का प्रकाश कदाचित् नहीं करता है इसी प्रकार चिदाभास सहित अहम् आदि वृत्ति भी अपना २ ही प्रकाश करती हैं अन्य का नही।।१९।।

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु ।।२०।।

इस प्रकार चिदाभास को कहकर कूटस्थ का स्वरूप कहने के लिये उसके उपयोगी वृत्तियों के अभावों का समय दिखाते हैं कि इस प्रकार विच्छेद २ से (पृथक्) संपूर्ण वृत्तियां क्रम से होती हैं और वे संपूर्ण सुषुप्ति, मूर्छा, समाधियों में लय (नष्ट) हो जाती हैं अर्थात् नहीं रहतीं।।२०।।

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ।।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ।।२१।।

कदाचित् कहो कि इस प्रकार समाधि आदिकों में वृत्तियों का अभाव रहे तो इससे कूटस्थ की सिद्धि कैसे हो सकती है सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण वृत्तियों की संधि और अभावों का जिस निर्विकाररूप से प्रकाश होता है वह कूटस्थ कहलाता है अर्थात् साक्षी कूटस्थ कहते हैं।।२१।।

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे ।।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ।।२२।।

अब फलित का वर्णन करते हैं कि जैसे बाह्य घट में चैतन्य है अर्थात् घटमात्र का अवभासक चिदाभास और घट की ज्ञातता का अवभासक ब्रह्मचैतन्य ये दो हैं वैसे ही आंतर (भीतर) अहंकार आदि वृत्तियों में भी कूटस्थ चैतन्य और वृत्तियों का अवभासक चिदाभास यह द्विगुण चैतन्य है और जिससे द्विगुण चैतन्य है इसीसे संधियों की अपेक्षा वृत्तियों में अधिक वैशद्य (निर्मलता) देखते हैं।।२२।।

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ।।२३।।

कदाचित् कहो कि यहां भी घट आदिकों के समान ज्ञातता अज्ञातता के भासक कूटस्त को क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि घट के समान ही कहीं भी वृत्तियों में ज्ञातता अज्ञातता नहीं होती क्योंकि ज्ञान और अज्ञान की व्याप्तियों से ज्ञातता व

अज्ञातता होती है और वृत्तियों को स्वप्रकाशरूप होने से मान की व्याप्ति नहीं हो सकती और उन वृत्तियों ने उत्पन्न होते ही अपने अज्ञान को नष्ट कर दिया इससे अज्ञान की व्याप्ति भी नहीं हो सकती। भावार्थ यह है कि घट के समान वृत्तियों में ज्ञातता अज्ञातता नहीं होती क्योंकि अपना ज्ञान अपने से नहीं होता और उन वृत्तियों से अज्ञान का नाश हो जाता है॥२३॥

द्विगुरीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ॥
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

कदाचित् कहो कि कूटस्थ और चिदाभास दोनों चित् हैं तो एक को कूटस्थ और दूसरे को अकूटस्थ यह किस कारण से कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि उस द्विगुणी कृत चैतन्य में चिदाभास के तो जन्म और नाश अनुभवसिद्ध हैं इससे चिदाभास अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होने से कूटस्थ है॥२४॥

अंतःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ॥
कूटस्थ एक सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

कदाचित् कहो कि चिदाभास से भिन्न कूटस्थ स्वकपोलकल्पित (स्वयं माना) है सो ठीक नहीं क्योंकि 'अन्तःकरण और अंतःकरण की वृत्तियों के साक्षी चैतन्यरूप, आनंदरूप, सत्यस्वरूप आत्मा की शरण क्यों नहीं लेता इत्यदि शास्त्रों में आचार्यों ने सर्वत्र कूटस्थ का ही वर्णन किया है॥२५॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ॥
गम्यंते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

और कूटस्थ से भिन्न चिदाभास का भी वर्णन आचार्यों ने ही किया है क्योंकि आत्मा, आभास और आश्रय ये तीनों इस प्रकार होते हैं जैसे मुख, आभास और आश्रय होते हैं अर्थात् जैसे मुख, आभास (प्रतिबिंब), आश्रय (दर्पण) ये तीनों हैं, इसी प्रकार आत्मा (कूटस्थ), आभास (चिदाभासजीव) और आश्रय (अंतःकरण आदि) ये तीनों भी शास्त्र और युक्तियों से जाने जाते हैं, यहां आभास शब्द से कूटस्थ से भिन्न चिदाभास का वर्णन किया है और मन* का साक्षी, बुद्धि का साक्षी यह शास्त्र बुद्धि के साक्षी कूटस्थ का प्रतिपादक है और रूप रूप** के प्रतिरूप हुआ यह चिदाभास का प्रतिपादक शास्त्र है और एक विकारी, दूसरा अधिकारी है यह युक्ति पहले कह आये हैं। भावार्थ यह है कि जैसे मुख, प्रतिबिम्ब, दर्पण ये तीन होते

---

* 'मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी' । २ 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

हैं, इसी प्रकार आत्मा, चिदाभास, अंतःकरण ये तीन होते हैं, इस प्रकार शास्त्र और युक्तियों से आभास का वर्णन किया है।।२६।।

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकांतरगमागमौ ।।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ।।२७।।

अब चिदाभास के विषय में शंका करते हैं कि अपने में कल्पना की बुद्धि से अवच्छिन्न (युक्त) कूटस्थ ही घट के द्वारा घटाकाश के समान अन्य लोकों में गमन और अगमन करने को समर्थ है तो चिदाभास की कल्पना क्यों करते हो अर्थात् क्यों मानते हो।।२७।।

शृण्वसंगः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।।
अन्यथा घटकुडयाद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ।।२८।।

पूर्वोक्त शंका का समाधान करते हैं कि सुनो, असंग कूटस्थ परिच्छेद (बुद्धि) मात्र से जीव नहीं हो सकता यदि परिच्छेदमात्र से ही जीव मानोगे तो घटकुडय आदि से अवच्छिन्न कूटस्थ भी जीव हो जायगा इससे आभास का मानना आवश्यक है।।२८।।

न कुडयसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।।
अस्तु नाम परिच्छेदः किं स्वाच्छयेन भवेत्तव ।।२९।।

अब बुद्धि और कुडय की विषमता में शंका करते हैं कि बुद्धि स्वच्छ (निर्मल) है इससे कुडय के सदृश नहीं हो सकती, इससे स्वच्छ से परिछिन्न के गमन अगमन में दोष नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यह स्वच्छता का भेद रहे, स्वच्छता से परिच्छेद के विषे तुझे क्या है अर्थात् स्वच्छता परिच्छेद में हेतु नहीं होती है।।२९।।

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ।।
विक्रेतुस्तंडुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ।।३०।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि काष्ठ का प्रस्थ हो चाहे कांसी का प्रस्थ हो उनसे तंडुल आदि का जो विक्रय (बेचना) करनेवाला है उसके परिणाम (तोल) में कुछ विशेषता नहीं होती है अर्थात् स्वच्छता, अस्वच्छता न्यून अधिक भाव को पैदा नहीं कर सकते।।३०।।

परिमाणविशेषेऽपि प्रतिबिंबो विशिष्यते ।।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ।।३१।।

कदाचित् हो कि परिमाण की विशेषता न रहे तो भी कांसी के प्रस्थ में प्रतिबिंब पड़ने की अधिकता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिबिंब की विशेषता मानोगे तो

बुद्धि में भी स्वच्छ होने से आभास बल से हो जायगा अर्थात् आपने ही आभास को मान लिया॥३१॥

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिंबस्तथाविधः ॥
बिंबलक्षणहीनः सन् बिंबवद्भासते स ॥३२॥

कदाचित् कहो कि हमने प्रतिबिंब माना है चिदाभास नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि ईषत् (किंचित्) प्रकाश को आभास कहते हैं और प्रतिबिंब का भी भासन किंचित् ही होता है क्योंकि बिंब के लक्षणों से हीन वह प्रतिबिंब बिंब के समान भासता है इससे बिंब का आभास है॥३२॥

ससंगत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता ॥
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः ॥३३॥

अब आभास के लक्षणों की योग्यता को स्पष्ट करते हैं कि यह चिदाभास ससंग (संग से युक्त) और विकारी है इससे बिंब के लक्षण जो असंग अविकारी है उनसे हीन है और जो इसमें स्फुरणरूप है वही बिंब के समान अवभासन है यह बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं और जैसे हेतु के लक्षणों से हीन होकर हेतु के समान जो दीखे वे हेत्वाभास होते हैं इसी प्रकार चैतन्य के लक्षण से हीन होकर चेतन के समान जो दीखे वह चिदाभास होता है॥३३॥

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ॥
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

इस प्रकार चिदाभास की अप्रयोजकता का निराकरण करके अब बुद्धि से पृथक् उसकी सिद्धि के लिय पूर्वपक्ष को कहते हैं कि जैसे मिट्टीके होने पर ही होता हुआ घट मिट्टी से पृथक् नहीं होता, इसी प्रकार बुद्धि की सत्ता से होनेवाला चिदाभास भी बुद्धि से पृथक् नहीं होगां, ऐसा यदि कहोगे तो अल्प ही तुमने कहा क्योंकि ऐसे ही देह से भिन्न बुद्धि भी सिद्ध न होगी (यह प्रतिबंदी उत्तर है) ॥३४॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथा सति ॥
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

अब प्रतिबंदी से छूटने की शंका करते हैं कि देह के मरने पर भी बुद्धि है अर्थात् 'देह से भिन्न बुद्धि इस शास्त्र से सिद्ध है कि 'वह आत्मा विज्ञान सहित हुआ' इस श्रुति के बल से देह से भिन्न बुद्धि को मानते हो तो बुद्धि से अन्य चिदाभास भी प्रवेश की बोधक श्रुतियों में सुना है अतः उसे भी मानना चाहिये॥३५॥

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ॥
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

अब यह शंका करते हैं कि बुद्धि से युक्त का ही प्रवेश है अन्य का नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि ऐतरेय श्रुति में यह कहा है कि बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा प्रवेश का संकल्प करके प्रविष्ट हुआ॥३६॥

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ॥
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

अब उस श्रुति के ही अर्थ को पढ़ते हैं कि 'इंद्रिय और देह सहित यह जड़ का समूह मेरे विना कैसे होगा' यह विचार कर यह परमात्मा जगत् में प्रविष्ट होकर संसार को प्राप्त होता है अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं को भोगता है॥३७॥

कथं प्रविष्टोऽसंगश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ॥
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

अब असंग आत्मा के प्रवेश में शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि असंग आत्मा का प्रवेश कैसे हो सकता है तो इस आत्मा से सृष्टि कैसे हो सकती है यह तुम कहो अर्थात् यह शंका तुम्हारी सृष्टि में भी तुल्य है कदाचित् कहो कि सृष्टि का कर्त्ता मायिक है तो प्रवेश का कर्त्ता भी मायिक है अर्थात् दोनों (सृष्टि, जीव) मायिक हैं और उनका विनाश तुल्य है अर्थात् दोनों का नाश होता है॥३८॥

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ॥
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

अब प्रज्ञानघन इस श्रुति* के अर्थ को पढ़ते हैं कि यह प्रज्ञानघन आत्मा इन देह इंद्रिय आदि पंचभूतों के कार्यरूप निमित्तों से अर्थात् उपाधियों की महिमा से भले प्रकार उठकर अर्थात् मैं जीव हूं, इस अभिमान को प्राप्त होकर उन्हीं देह आदिकों के नाश होते नष्ट होता है अर्थात् जीव अभिमान को त्याग देता है इस प्रकार सोपाधिक का विनाश याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति स्पष्ट कहा है। भावार्थ यह है कि यह आत्मा भूतों की महिमा से जीव भाव को प्राप्त होकर और उनके नाश होने के समय नाश को प्राप्त होता है यह याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति स्पष्ट कहा है॥३९॥

---

*प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसंगत्वस्य कीर्तनात् ।।४०।।

'यह आत्मा अविनाशी अनुच्छित्ति (नाश का अभाव) धर्मवान् है', इस श्रुति* से जीव से भिन्न कूटस्थ को अविनाशी दिखाया और मात्रा (देह आदि विषय) ओ का संसर्ग (संबध) इस आत्मा को नहीं होता है इस श्रुति** से अविनाशिता में हेतु की असंगता को कहा है।।४०।।

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किंतु लोकांतरे गतिः ।।४१।।

कदाचित् कहो कि 'जीव से रहित यह शरीर मरता है और निश्चय है कि जीव नहीं मरता' इस श्रुति*** से औपाधिकजीव को भी अविनाशी कहा है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह श्रुति अन्य देह की प्राप्ति के विषय में है, सर्वथा नाश के अभाव का बोधन नहीं करती इससे जीव से रहित शरीर का मरण है जीव का नहीं, यहां विमोक्ष (अत्यंत नाश का न होना) अर्थ नहीं है किंतु लोकांतर में गति अर्थात् जीव को अन्य देह की प्राप्ति अर्थ है।।४१।।

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ।।४२।।

कदाचित् कहो कि जीव को विनाशी मानने में 'मैं ब्रह्म हूं' यह अविनाशी ब्रह्म के संग एकता का ज्ञान न घट सकेगा कि वह जीव विनाशी है तो है उसको 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि मुख्य सामानाधिकरण्य के अभाव में भी जीवभाव का बाध होने पर सामाधिकरण्य हो सकता है अर्थात् जीवभाव के बाध से ब्रह्मभाव का ज्ञान हो सकता है इससे विनाशी जीव और अविनाशी ब्रह्म की एकता होने में कोई बाधक नहीं है।।४२।।

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।।
ब्रह्मास्मीति धिया शेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ।।४३।।

अब बाध में सामानाधिकरण्य करके वाक्यार्थज्ञान का प्रकार वार्तिककारों ने जो दृष्टांतपूर्वक कहा है उसको उदाहरणपूर्वक दिखाते हैं कि 'जो यह स्थाणु है वह पुरुष है' इस वाक्य में जैसे पुरुषबुद्धि से स्थाणुबुद्धि की निवृत्ति होती है इसी प्रकार 'अहं

*** अविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा । ** मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति । *** जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते ।**

ब्रह्मास्मि' इस बोध से अहंबुद्धि (कर्ता भोक्ता अहम्) की निवृत्ति हो जाती है।।४३।।

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ।।४४।।

इसी प्रकार वार्तिककार आचार्यों ने नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रंथ में स्पष्ट कहा है कि सामाधिकरण्य बाध के लिये है इसी कारण से 'ब्रह्माहमस्मि' इस वाक्यमें बाध के लिये सामानाधिकरण्य रहे।।४४।।

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।।
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ।।४५।।

कदाचित् कहो कि श्रुति में बाध के विषे सामानाधिकरण्य कहीं नहीं देखा सो ठीक नहीं क्योंकि 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) इस श्रुति में जैसे जगत् के संग सामानाधिकरण्य है ऐसे ही 'अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यहां जीवके संग सामानाधिकरण्य हो जायगा।।४५।।

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ।।४६।।

कदाचित् कहो किविवरणाचार्योंने बाध में सामानाधिकरण्य का खंडन कैसे किया है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उन्होंने अहं शब्द से कूटस्थ लेने की इच्छा से 'सामानाधिकरण्य बाध के लिये है' इसका निराकरण प्रयत्न से विवरणग्रंथ में किया है।।४६।।

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ।।४७।।

अब कूटस्थ की विवक्षा से इस पूर्वोक्त का वर्णन करते हैं कि शोधित अर्थात् बुद्धि आदि से पृथक् किया जो त्वंपद का लक्ष्य अर्थ कूटस्थ है उसको ब्रह्मरूप (सत्य आदिरूप) कहने के लिये विवरण आदि और अन्य ग्रंथों में बाध सामानाधिकरण्यके निषेधपूर्वक मुख्य समानाधिकरण्य कहतेहै अर्थात् त्वंपद के लक्ष्य कूटस्थ और ब्रह्म का सामानाधिकरण्य सिद्ध किया है।।४७।।

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य वा ।।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ।।४८।।

अब कूटस्थ और ब्रह्म की एकता की संभावना के लिये कूटस्थ शब्द के अर्थ को कहते हैं कि देह, इंद्रिय, मन आदि से युक्त जो आभासरूप जीव उस भ्रम का

अधिष्ठान जो चित्ति (चेतन) है वह इस वेदांतशास्त्र में कूटस्थपद से विवक्षित कहने योग्य है।।४८।।

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।।
त्रय्यंतेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ।।४९।।

अब ब्रह्म शब्द के अर्थ को कहते हैं कि संपूर्ण जगत्रूप जो भ्रम उसका जो अधिष्ठान कहा है वह यहां वेदांतो में ब्रह्मशब्द से विवक्षित है अर्थात् उसको ब्रह्म कहते हैं।।४९।।

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ।।५०।।

कदाचित् कहो कि जीव भ्रम का अधिष्ठान कूटस्थ नहीं हो सकता क्योंकि जीव आरोपित नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि जब इसी चैतन्य में जगत् का आरोप है तो जगत् का एकदेश जो जीवाभास उसकी क्या कथा है अर्थात् उसका आरोप अवश्य हो सकता है और जीव जगत् का एकदेश इस श्रुति से सिद्ध है कि इस जीवरूप से जगत् में प्रविष्ट होकर नामरूप किये।।५०।।

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।।
तत्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ।।५१।।

कदाचित् कहो कि जगत् का अधिष्ठान चैतन्य एक है उससे तत् त्वं पदों के अर्थ का भेद नहीं होगा तो तत् त्वंपद के अर्थ भिन्न रहें यहां पुनरुक्ति दोष होगा सो ठीक नहीं क्योंकि आरोप करने योग्य जो जगत् और जगत् का एकदेश (जीव) हैं उनके भेद से तत् त्वंपदों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं और वस्तुतः (सिद्धांत से) तो चिति (चेतन) की एकता है अर्थात् उपाधि से भेद है स्वतः नहीं है।।५१।।

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ।।५२।।

कदाचित् कहो कि चिदाभास में शुक्ति रजत आदि के समान अधिष्ठान और आरोप्य (भ्रम के योग्य) दोनों धर्म नहीं देखते इससे आरोपित कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि कर्तृत्व आदि जो बुद्धि के धर्म हैं और स्फुरणलक्षण जो आत्मा का धर्म है उन दोनों को धारण करता हुआ चिदाभास अग्रभाग में (स्पष्ट) दीखता है इससे आभास भ्रम होता है अर्थात् बुद्धिरूप उपाधि से कर्तृत्व आदि और चैतन्य को धारण करने से भ्रमरूप हो सकता है।।५२।।

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत्कथम् ।।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ।।५३।।

अब बुद्धि आदिकों के स्वरूप का जो अज्ञान उसको भ्रम का कारण कहते हैं कि बुद्धि कौन है ? और यह आभास कौन है ? इसमें आत्मा कौन है ? जगत कैसे हुआ? इस प्रकार निर्णय को न करते हुए मनुष्य को जो मोह है उसको ही संसार कहते हैं।।५३।।

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।।
स एव मुक्त इत्येव वेदांतेषु विनिश्चयः ।।५४।।

बुद्धि आदि के स्वरूप का जो विवेचन करता है अर्थात् पृथक् पृथक् जानता है वही तत्त्ववेता है और वही मुक्त है यह वेदांतो में निश्चय है अर्थात् बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक ही पूर्वोक्त भ्रम का निवर्तक है और वह विवेकी ही ज्ञानी है।।५४।।

एवं च सति बंधः स्यात्कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।।
विडंबना दृढं खंड्याः खंडनोक्तिप्रकारतः ।।५५।।

जब बंध और मोक्ष का इस पूर्वोक्त प्रकार से अविवेक ही मूल है तो अद्वैतवाद में किसको बंध और किसको मोक्ष होगा इत्यादि कुतर्कों से तार्किकों की जो विडंबना है वे खंडन में कहे हुए प्रकार से भले प्रकार खण्डन करने योग्य हैं।।५५।।

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ।।५६।।

इस प्रकार श्रुति और युक्तियों से बुद्धि आदि से पृथक् कूटस्थ को दिखाकर पुराणोक्त कूटस्थ के विवेक को कहते हैं कि काम आदि वृत्तियों की उत्पत्ति के समय में और वृत्तियों से पूर्व वृत्तियों के प्रागभाव के समय में और बोध की इच्छा के समय में और बोध से पूर्व 'मैं अज्ञ हूं' इस प्रकार अनुभूयमान अज्ञान के समय में साक्षीरूप शिव (कूटस्थ) ही टिकता है।।५६।।

असत्यालंबनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ।।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ।।५७।।
आनंदरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।।
सर्वसंबन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ।।५८।।

जो मिथ्याभूत जगत् का आलंबन (अधिष्ठान) होने से सत्यरूप, संपूर्ण जड़ पदार्थों का प्रकाशक होने से चिद्रूप और सदा प्रेम का आनन्द होने से आनंदरूप है तथा जो

संपूर्ण पदार्थों का प्रकाशक होने से और संपूर्ण पदार्थों का संबंधी होने से संपूर्ण रूप शिव है। यहां यह अनुमान है कि विवाद का आस्पद शिव वृत्ति आदि से भिन्न है, वृत्ति आदि का साक्षी होने से जो वृत्ति आदि से भिन्न नहीं वह वृत्ति आदि का साक्षी भी नहीं यथा वृत्ति आदि। विवाद का स्थान शिव सत्य होने योग्य है मिथ्या का अधिष्ठान होने से असत्य रजत के अधिष्ठान शुक्ति के समान। विवाद का स्थान शिव चिद्रूप है, जड़मात्र का आभासक होने से जो चिद्रूप नहीं होता वह जड़ का प्रकाशक भी नहीं होता जैसे घट आदि। विवाद का स्थान शिव परमानंद रूप है श्रेष्ठ प्रेम का आश्रय होने से जो परमानंद नहीं वह परम प्रेम का आस्पद नहीं जैसे घट आदि। विवाद का स्थान शिव परिपूर्ण है सबका संबंधी होने से आकाश के समान सबका संबंधी, संपूर्ण अर्थों के प्रकाश करने से जानना। विवाद का स्थान शिव सबका संबंधी है सबका प्रकाशक होने से जो सबका संबंधी नहीं होता वह सबका प्रकाशक भी नहीं होता जैसे दीप आदि।।५७।।५८।।

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ।।५९।।

अब पूर्वोक्त पुराण वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि इस प्रकार सूत संहिता आदि शैवपुराणोंमें जीव, ईश्वर आदि की कल्पना से रहित केवल, अद्वितीय स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, शिवरूप जो कूटस्थ है उसका विवेचन किया है।।५९।।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुंभवत् ।।६०।।

अब जीव ईश से भिन्न कूटस्थ को दिखाते हैं कि 'माया आभा से जीव और ईश्वर को करती है' इस श्रुति से जीव और ईश मायिक हैं अर्थात् माया और अविद्या के अधीन वे दोनों चिदाभास मायिक हैं। कदाचित् कहो कि मायिक मानने से वे देह आदि से विलक्षण न होंगे सो ठीक नहीं क्योंकि कांच के कुंभ के समान वे दोनों स्वच्छ हैं अर्थात् जैसे कांच का कुंभ पार्थिव होने पर घट आदि से स्वच्छ है इसी प्रकार मायिक भी जीव ईश्वर देह आदि से स्वच्छ हैं।।६०।।

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ।।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ।।६१।।

कदाचित् कहो कि घट और काच के कुंभ के हेतु जो मृद्विशेष (भिन्न भिन्न मिट्टी) हैं उनके भेद से उनकी विलक्षणता उचित है पर जगत् और जीव ईश्वर के भेद का हेतु जो माया है वह एक है इससे जीव ईश्वर जगत् से विलक्षण कैसे हो सकते हैं सो

ठीक नहीं क्योंकि जैसे अन्न से पैदा हुआ मन अन्न से पैदा हुए देह से स्वच्छ है वैसे ही जीव और ईश मायिक होने पर भी अन्य सबसे स्वच्छ हैं।।६१।।

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ।।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ।।६२।।

कदाचित् कहो कि काच आदि के समान स्वच्छ रहे जीव और ईश चेतन कैसे हो सकते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि चिद्रूप से प्रकाश होने से जीव और ईश को चिद्रूप होने की संभावना हो सकती है। कदाचित् कहो कि मायिक जीव और ईश चिद्रूप नहीं हो सकते सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण कल्पना करने में समर्थ माया को कौन वस्तु दुष्कर है अर्थात् माया में सब वस्तु बन सकती हैं।।६२।।

अस्मन्निद्राऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ।।६३।।

अब कैमुतिकन्याय से पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं कि हमारी निद्रा भी स्वप्न के चेतन जीव ईश को रच लेती है तो महामाया जीव ईश को रचती है इस बात में आपको क्या आश्चर्य है ? ।।६३।।

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।।
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ।।६४।।

कदाचित् कहो कि ईश्वर को मायिक मानोगे तो जीव के समान असर्वज्ञ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि वह माया ईश्वर में सर्वज्ञत्व आदि को भी कल्पना करके दिखाती है क्योंकि जिसने धर्मी (ईश्वर) की कल्पना की उसको धर्म की कल्पना करने में कौन भार है अर्थात् सर्वज्ञत्वरूप धर्म की कल्पना माया कर सकती है।।६४।।

कूटस्थेऽप्यतिशंका स्यादिति चेन्माऽतिशंक्यताम् ।।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ।।६५।।

कदाचित् कहो कि यह अतिप्रसंग (शंका) कूटस्थ में भी हो सकती है अर्थात् कूटस्थ भीमायिक हो जायगा सो ठीक नहीं कारण कूटस्थ में शंका मत करो क्योंकि कूटस्थ भी मायिक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है।।६५।।

वस्तुत्वं घोषयंत्यस्य वेदांताः सकला अपि ।।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहंतेऽत्र किञ्चन ।।६६।।

कदाचित् कहो कि कूटस्थ के वास्तवरूप में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण वेदांत इस कूटस्थ को वस्तु कहते हैं और कूटस्थ के पारमार्थिक

होने में जो तर्क आदि सपत्न (शत्रु) हैं उनको किंचित् भी विद्वान् मनुष्य नहीं सहते।।६६।।

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किञ्चन ।।
तेन तार्किकशंकानामत्र कोऽवसरो वद ।।६७।।

कदाचित् कहो कि जीव ईश के अवास्तव वास्तव में श्रुतियों को पढ़ते हो, तर्क तो कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि हम श्रुति के अर्थ को विशद करते हैं तर्क से किंचित् भी नहीं कहते इससे तार्किक की शंका का यहां कौन अवसर है अर्थात् नहीं है।।६७।।

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ।।६८।।

इससे मुमुक्षु पुरुष कुतर्क को त्यागकर श्रुति का आश्रय लें और श्रुति में तो यह दिखाया ही है कि माया जीव और ईश को करती है।।६८।।

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।।
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकर्तृकः ।।६९।।

ईक्षण आदि और प्रवेशपर्यंत सृष्टि तो ईश्वर की हुई है और जाग्रत से मोक्षपर्यंत संसार जीव का किया है।।६९।।

असंग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ।।७०।।

कूटस्थ की असंगता और मरण आदिरूप व्यवहार की असत्ता का वर्णन कर चुके इससे मुमुक्षु सदैव अपने मन में यह विचारे कि कूटस्थ असंग ही है और इस कूटस्थ को किंचन (कोई) भी व्यवहार का अतिशय (जन्म मरण आदि) नहीं है।।७०।।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।७१।।

अब कूटस्थ में जन्म आदि का अतिशय नहीं इसमे श्रुति को प्रमाण कहते हैं कि न निरोध (नाश) है न उत्पत्ति है न कोई बद्ध (बँधा हुआ) है और न कोई साधक है और न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है यही परमार्थता है अर्थात् सिद्धांत है।।७१।।

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितु सदा ।।
जीवमीश जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ।।७२।।

कदाचित् कहो कि जहां तहां श्रुतियों में जीव ईश्वर का प्रतिपादन किस लिये किया है सो ठीक नहीं क्योंकि जीव ईश वा जगत् का आश्रय लेकर श्रुति वाणी और मन से अगम्य कूटस्थ के बोधनार्थ मुमुक्षु को बोधन करती है।।७२।।

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ।।७३।।

कदाचित् कहो कि यदि एक ही तत्त्व श्रुतियों से जाना जाता है तो श्रुतियों में विगान (फरक) क्यों दीखता है सो ठीक नहीं क्योंकि तत्त्व में भेद नहीं है किन्तु उसके बोधन की रीतियों में भेद है और वह भी बोधन के योग्य पुरुष के चित्त की विषमता के अनुसार होता है यह सुरेश्वराचार्यों ने कहा है कि जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों की प्रत्यगात्मा का ज्ञान हों वही २ प्रक्रिया यहां श्रेष्ठ है यह आचार्यों ने कहा है।।७३।।

श्रुतितात्पर्यखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ।।
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानंदवारिधौ ।।७४।।

कदाचित् कहो कि श्रुति एकरूप है तो उसके वक्ता क्यों विवाद करते है सो ठीक नहीं क्योंकि श्रुति के संपूर्ण तात्पर्य को न जानकर जड मनुष्य भ्रम को प्राप्त होता है और विवेकी तो श्रुति के संपूर्ण तात्पर्य को जानकर आनंद के समुद्र में टिकता है।।७४।।

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ।।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ।।७५।।

अब विवेकी के निश्चय को कहते हैं कि यह मायारूप मेघ जगत्रूप जल की वर्षा जैसे वैसे करे न इससे चिदाकाश का कुछ लाभ है और न हानि है यह सिद्धान्त हैं।।७५।।

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरंतरम् ।।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरंतरम् ।।७६।।

अब ग्रंथ के अभ्यास का फल कहते हैं कि इस कूटस्थदीपका जो मुमुक्षु स्मरण कहता है वह स्वयं कूटस्थरूप से सदैव प्रकाशित होता है।।७६।।

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्याः पं० मिहिरचन्द्रकृतभाषा–
विवृतौ कूटस्थदीपं प्रकरणम् ।।८।।

इति कूटस्थदीपप्रकरणम् ८

अथ ध्यानदीपप्रकरणम् ९

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते ।।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ।।१।।

इस वेदांतशास्त्र में नित्य अनित्य वस्तु के विवेक आदि चार साधनों से युक्त और श्रवण, मनन, निदिध्यासनशील मुमुक्षु को तत् त्वंपद के अर्थ की विवेचना के द्वारा महावाक्यों के अर्थज्ञान से मोक्ष होता है यह प्रतिपादन (वर्णन) किया है उसमें उपनिषदों के सुनने से भी जिसको बुद्धि की मंदता आदि प्रतिबंध से महावाक्यों के अर्थ का अपरोक्षज्ञान न हुआ हो उसको भी महावाक्यों के अर्थज्ञानार्थ उपासनाओं के दिखाने का अभिलाषी आचार्य प्रथम दृष्टांतसहित यह कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी मुक्ति होती है कि संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को इष्टलाभ के समान ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी मुक्ति होता है इसीसे उत्तरतापनीय में अनेक प्रकार से ब्रह्मतत्त्व की उपासना सुनी है अर्थात् वर्णन की है।।१।।

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ।।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।२।।

अब संवादी भ्रम को ही दिखाते हैं कि मणि और दीपक की जो दो प्रभा हैं उनको मणि समझ कर दौड़ते हुए जो दो मनुष्य हैं उन दोनों के मिथ्याज्ञान में कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनों का भ्रम है तथापि अर्थक्रिया में विशेष है अर्थात् मणि की प्रभा में मणि की बुद्धि से तो मणि मिलती है और दीपक की प्रभा में मणि का लाभ नहीं होता।।२।।

दीपोऽपवरकस्यांतर्वतते तत्प्रभा बहिः ।।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ।।३।।

अब वार्तिक का व्याखान करते हैं कि किसी मंदिर में अपवरक (आच्छादनकर्ता) के मध्य में दीपक वर्तता है और दीपक की प्रभा बाहर द्वार पर रत्न के समान वर्तुल (गोल) दीखती है और वैसे ही दूसरे मंदिर में अपवरक के मध्य में स्थित रत्न (मणि) की प्रभा बाहर द्वारदेश में दीपक की प्रभा के समान रत्न के तुल्य वर्तुल नहीं दीखती है किंतु अन्यथा दीखती है।।३।।

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ॥
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥

दूर से इन दोनों प्रभाओं को देखकर दौड़ते हुए जो दो मनुष्य हैं उन दोनों की जो प्रभाओं में मणिबुद्धि है वह दोनों का मिथ्याज्ञान है अर्थात् दोनों भ्रांत हैं॥४॥

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ॥
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

तथापि दीपक की प्रभा के प्रति दौड़ते हुए मनुष्य को मणि का लाभ नहीं होता है और मणि की प्रभा में दौड़ते हुए मनुष्य को तो मणि का लाभ अवश्य होता है॥५॥

दीपप्रभामणिभ्रांतिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ॥
मणिप्रभामणिभ्रांतिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

कदाचित् कहो कि यह वार्तिक का अर्थ रहे, प्रकरण में क्या आया? सो ठीक नहीं क्योंकि दीपक की प्रभा में जो मणि की भ्रांति है वह विसंवादी भ्रम कहा है और मणि की प्रभा में जो मणि की भ्रांति है वह संवादी भ्रम कहलाता है॥६॥

बाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्रांगारानुमानतः ॥
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय में संवादी भ्रम को दिखाकर अनुमान से भी दिखाते हैं कि किसी देश में टिके वाष्प (भाप) को धूम जानकर वहां यह अनुमान कोई करे कि यह देश अग्निमान् है, धूप होने से, महानस के समान और उस देश में गये पुरुष को यदि दैवगति से अग्नि मिल जाय तो वाष्प में जो उसका धूमज्ञान है वह संवादी भ्रम माना है॥७॥

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये ॥
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

अब शास्त्र में संवादी भ्रम को कहते हैं कि गोदावरी के जल को गंगाजल मानकर और शुद्धि के लिये अपने देह पर छिड़ककर मनुष्य शुद्धि को प्राप्त होता है वह भी संवादी भ्रम माना है अर्थात् गोदावरी का जल भी शास्त्र में शुद्धि का हेतु प्रसिद्ध है इससे उसके प्रोक्षण से भी शुद्धि है तथापि गोदावरी के जल में जो गंगाजल की बुद्धि है वह भ्रम ही है॥८॥

ज्वरेणाप्तः सन्निपात भ्रांत्या नारायणं स्मरन् ॥
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

अन्य भी संवादी भ्रम के उदाहरण देते हैं कि ज्वर से संन्निपात को प्राप्त हुआ मनुष्य यह नारायण का स्मरण मेरे स्वर्ग का साधन है इस ज्ञान के बिना भी सन्निपात से पैदा हुए भ्रम के वश अन्य सावधान पुरुष के समान नारायण का स्मरण करता हुआ जो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होता है वह संवादी भ्रम कहाता है क्योंकि 'दुष्टचित्तों* से स्मरण किया भी हरि पापों को हरता है' और पापी अजामिल भी पुत्र के नारायणनाम का उच्चारण करके मुक्ति को प्राप्त हुआ, इत्यदि पुराण के वचनों से नारायण नाम को पुत्रनाम समझना भ्रम है।।९।।

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ॥
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विषय में पूर्वोक्त न्याय से कोटियों संवादी भ्रम हैं अर्थात् कार्यकारी भ्रम हैं।।१०।।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ॥
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥११॥

अब विपक्ष (न मानने) में बाधक को कह कर पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं कि अन्यथा (संवादी भ्रम को न मानोगे तो) फलसिद्धि के लिये मिट्‌टी, काष्ठ, शिला ये देवता मानकर पूजन के योग्य किस प्रकार हो क्योंकि ये स्वतः देवता नहीं है और घोषित (स्त्री आदि भी अग्नि आदि की बुद्धि से उपासना के योग्य कैसे होते अर्थात् नहीं होते जैसे कि पंचाग्निविद्या में जो यह कहा है कि स्त्रीपुरुष** दोनों गोतमाग्नि हैं और पृथिवी मेघ और यह सर्वलोक ये सब गोतमाग्नि हैं अर्थात् इनकी अग्नि समझकर जो उपासना करता है उससे ब्रह्मलोक मिलता है और आदि पद से (***मन की ब्रह्मरूप से उपासना करे) इसका ग्रहण और आदित्य का ब्रह्म नाम है, इसका**** ग्रहण समझना। अर्थात् भ्रम के न मानने में ये सब असंगत हो जायँगे। भावार्थ यह है कि उक्त भ्रम न मानोगे तो मिट्‌टी, काठ, शिला देवता कैसे होंगे और स्त्री आदिकों

---

*'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः' आक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्' । ** योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः पृथिवी वाव गोतमाग्निः पर्जन्यो वाव गोतमाग्निरसौ वाव द्युलोको गोतमाग्निः *** मनाब्रह्मोत्युपासीत **** आदित्यो ब्रह्मेत्यावेशः ।

की अग्नि आदि की बुद्धि से उपासना कैसे होगी, इससे संवादी भ्रम का मानना आवश्यक है।।११।।

अयथावस्तुविज्ञानत्फलं लभ्यत ईप्सितम् ।।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ।।१२।।

अब अनेक ग्रंथों में वर्णन किये संवादी भ्रम को संक्षेप से दिखाते हैं कि जहां अयथार्थ वस्तु (विपरीत) के ज्ञान से काकतालीयन्याय (दैवगति) से वांछित फल की प्राप्ति हो जाय वहां यह संवादी भ्रम माना है और काक के आते ही तालके फलके पडने से जो अकस्मात् काक का मरण उसे काकतालीय कहते हैं।।१२।।

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ।।
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा ।।१३।।

कदाचित् कहो कि अयथार्थ वस्तुविषयक ब्रह्म की उपासना से मुक्ति न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे स्वयं भ्रमरूप भी संवादी भ्रम सम्यक् फल का दाता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व की उपासना भी मुक्तिरूप फल की दाता है।।१३।।

वेदांतेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखंडैकरसात्मकम् ।।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ।।१४।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्मतत्त्व को जानकर उपासना करते हो वा बिना जाने? जानकर तो नहीं कह सकते क्योंकि मोक्ष के हेतु ज्ञान के होते हुए उपासना ही व्यर्थ हो जायंगी और दूसरा पक्ष इससे नहीं घट सकता कि उपासना के विषय के ज्ञान बिना उपासना किसकी होगी? सो ठीक नहीं क्योंकि वेदांतों से अखंड एक रसरूप ब्रह्मतत्त्व को परोक्ष जानकर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) ऐसी उपासना की जाती है अर्थात् ब्रह्म आत्मा की एकता का जो अपरोक्ष ज्ञान है वह वेदातों से नहीं होता इससे उपासना व्यर्थ नहीं है और शास्त्र के द्वारा परोक्ष जाना जो ब्रह्म है वह उपासना का विषय है।।१४।।

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।।
अस्ति ब्रह्मेतिसामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ।।१५।।

अब उपासना के योग्य ब्रह्मतत्त्व के परोक्षज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हैं कि जहां बुद्धि आदि के साक्षी आनंदरूप आत्मा की प्रत्यक् व्यक्ति का उल्लेख (नाम) न हो ऐसा जो सत्यज्ञान आदि शास्त्र के वाक्यों से पैदा हुआ ब्रह्म है यह ज्ञान वह सामान्य ज्ञान इस उपासना में इस प्रकार परोक्षज्ञान कहा है जैसे विष्णु आदि की मूर्ति के प्रतिपादक शास्त्र से विष्णु का परोक्षज्ञान होता है।।१५।।

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ।।१६।।

कदाचित् कहो कि शास्त्र से विष्णु आदि की चतुर्भुज मूर्ति का आदि का ज्ञान होने से उसका ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है? सो ठीक नहीं क्योंकि चतुर्भुज आदिका ज्ञान होने पर भी मूर्ति को नेत्रों से विषय नहीं करता हुआ पुरुष उस समय विष्णु को नहीं देखता इससे परोक्षज्ञानी ही है।।१६।।

परोक्षत्वापराधेनभवेन्नातत्त्ववेदनम् ।।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेर्विभासनात् ।।१७।।

कदाचित् कहो कि विष्णु आदि के परोक्ष ज्ञान में व्यक्ति के उल्लेख का अभाव होने से भ्रमत्व हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि परोक्षता के अपराध से अतत्त्ववेदन नहीं होता अर्थात् परोक्षज्ञान भ्रम का कारण नहीं होता किंतु प्रमाणरूप शास्त्र से सत्त्वमूर्ति के भासमान होने से यह ज्ञान यथार्थ है क्योंकि भ्रम वही होता है जिसका विषय असत्य हो।।१७।।

सच्चिदानंदरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ।।
प्रत्यंचं साक्षिणं तत्तु ब्रह्मसाक्षान्न वीक्षते ।।१८।।

कदाचित् कहो कि सच्चिदानंद व्यक्ति का उल्लेखी ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान जो शास्त्र से पैदा होता है वह परोक्ष कैसे हो सकता है? सो ठीक नहीं क्योंकि *'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है, नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन जो है वही सब है तत् सत् रूप है' इत्यदि शास्त्र से सच्चिदानंदरूप ब्रह्म का भान होने पर भी प्रत्यक् साक्षीरूप के अनुल्लेख से उस ब्रह्म के प्रत्यक् आत्मास्वरूप को न जानता हुआ मुमुक्षु पुरुष उस ब्रह्म को साक्षात् नहीं देखता भावार्थ यह है कि शास्त्र से सच्चिदानंदरूप के भान होने पर भी साक्षीरूप प्रत्यक व्यक्ति को विषय न करने से वह मुमुक्षु उस ब्रह्म को साक्षात् नहीं देखता है।।१८।।

शास्त्रोक्तेनैवं मार्गेण सच्चिदानंदनिश्चयात् ।।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्वज्ञानं न तु भ्रमः ।।१९।।

कदाचित् कहो कि उस पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान को तत्त्वज्ञान कैसे कहते हो? सो ठीक नहीं क्योंकि शास्त्रोक्त मार्ग से ही सच्चिदानंदरूप के निश्चय से परोक्ष भी ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान ही है, भ्रमरूप नहीं अर्थात् यथार्थ ज्ञान है।।१९।।

***सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म । नित्यः शुद्धा बुद्धः सत्या मुक्ता निरंजनः सद्धीदं सर्वं तत्सत् ।**

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ॥
महावाक्यैस्तथाऽप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

कदाचित् कहो कि जैसे सत्य ज्ञान आदि वाक्यों से ब्रह्म सच्चिदानंदरूप जाना जाता है इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से प्रत्यक् रूप का भी बोध हो जायगा इससे शास्त्र से जन्य ज्ञान भी प्रत्यक् व्यक्ति को विषय करने से अपरोक्ष ही हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि वेदांतशास्त्रों में महावाक्यों से ब्रह्म प्रत्यक् रूप से वर्णन किया है तथापि वह वर्णन किया प्रत्यक्रूप अन्वयव्यतिरेक से उस मनुष्य को जानने को अशक्य है जिसको तत त्वं पद के अर्थ का विवेक नहीं है इससे केवल वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है। भावार्थ यह है कि यद्यपि शास्त्रों में महावाक्यों से प्रत्यक् ब्रह्म का वर्णन किया है तथापि विचारहीन को उसका ज्ञान दुर्लभ है॥२०॥

देहाद्यात्मत्वविभ्रांतौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ॥
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मंदधीत्वतः ॥२१॥

कदाचित् कहो कि सम्यक् ज्ञान प्रमाण वस्तु के अधीन है और प्रमाण भी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यरूप है और ब्रह्म आत्मा की एकतारूप वस्तु भी है तो विचार के बिना प्रत्यक् ब्रह्म दुर्बोध कैसे है ठीक नहीं क्योंकि जब तक देह आदिकों में आत्मत्व बुद्धि जागती है तब तक मनुष्य हठ से और मंदबुद्धि के कारण ब्रह्म को आत्मस्वरूप जानने में समर्थ नहीं होता है अर्थात् ब्रह्म आत्मा की एकता का विरोधी और विचार से निवृत्ति होने योग्य जो देह इन्द्रिय आदि में आत्मत्व का भ्रम उसके लिये विचार अपेक्षित है। भावार्थ यह है कि देह आदि में आत्मा का भ्रम रहने पर मंदबुद्धि मनुष्य हठ से ब्रह्म को आत्मस्वरूप नहीं जान सकता॥२१॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ॥
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

कदाचित् कहो कि देह इंद्रिय आदि द्वैत भ्रम के रहते अद्वितीय ब्रह्म का परोक्षज्ञान भी न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जो शास्त्र का द्रष्टा श्रद्धावान् है उसको ब्रह्ममात्र का ज्ञान भले प्रकार हो सकता है क्योकि अपरोक्ष द्वैत का ज्ञान परोक्ष अद्वैत ज्ञान को निर्वतक नहीं हो सकता है अर्थात्–वे परस्पर विरोधी नहीं है॥२२॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ॥
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

अब अपरोक्ष भ्रम परोक्ष यथार्थ ज्ञान का अविरोधी है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि प्रत्यक्ष जो शिला का ज्ञान है वह अपरोक्ष ईश्वरज्ञान को दूर नहीं कर सकता क्योंकि प्रतिमा आदिकों में विष्णु के स्वरूप में कौन विवाद करता है अर्थात् सब विष्णुरूप मानते हैं।।२३।।

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ।।२४।।

कदाचित् कहो कि कोई २ विवाद भी करते हैं सो ठीक नहीं किन्तु अश्रद्धालु जो है उसके अविश्वास में उदाहरण देना ही योग्य नहीं है क्योंकि सब वेदोक्त कर्मों में श्रद्धावान् पुरुष का ही अधिकार है।।२४।।

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ।।२५।।

एक बार ही यथार्थ वक्ता जो आप्त मनुष्य उसके उपदेश से परोक्षज्ञान होता है क्योंकि विष्णु की मूर्त्ति के उपदेश में कुछ मीमांसा (विचारकी) अपेक्षा नहीं है, कहते ही विष्णुबुद्धि हो जाती है।।२५।।

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ।।२६।।

कदाचित् कहो कि फिर शास्त्रों में विचार क्यों किये जाते हैं यह शंका करके करने योग्य कर्म और उपासना के भेद से संदेह की निवृत्ति के लिये विचार की कर्तव्यता को कहते हैं कि करने योग्य के अनिर्णय से कर्म और उपासना का विचार करते हैं क्योंकि अनेक शाखाओं से युक्त जो वेद है उसके निर्णय करने को कौन मनुष्य प्रभु (समर्थ) है।।२६।।

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्तिकः ।।
विचारमंतरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमंजसा ।।२७।।

कदाचित् कहो कि, तो कर्म उपासना का भी न करना ही प्राप्त हुआ सो ठीक नही क्योंकि जैमिनि आदि पूर्वाचार्यों ने जिस अर्थ का निश्चय किया है वह कल्पसूत्रों में ग्रंथित (संग्रह किया) है उससे ही अर्थात् कल्पसूत्रों के लेख से ही उनमें जिसका विश्वास है ऐसा पुरुष विचार के बिना भी सुखपूर्वक अनुष्ठान करनेको समर्थ है अर्थात् कर सकता है।।२७।।

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।।
विचाराक्षममर्त्याश्च तत्च्छ्रुत्वोपासते गुरोः ।।२८।।

कदाचित् उपासना के विचाराभाव से अनुष्ठान न होगा अर्थात् कोई न करेगा सो ठीक नहीं क्योंकि आर्ष (ऋषियों के कहे) ग्रंथों में उपासनाओं का करना कहा है और विचार में असमर्थ मनुष्य कल्पसूत्र में कही उनकी उपासना को गुरु के मुख से सुनकर उपासना करते हैं।।२८।।

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ।।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत् ।।२९।।

कदाचित् कहो कि फिर आजकल के भी ग्रंथकार वेदवाक्यों का विचार क्यों करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि वेदों के वाक्यों का निर्णय करने का अभिलाषी जन मीमांसा (विचार) करे किंतु अनुष्ठान को आप्त मनुष्यों के उपदेश मात्र से ही हो सकता है इससे अपनी अपनी बुद्धि के संतोषार्थ ही विचार आवश्यक है न कि अनुष्ठान के लिये।।२९।।

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित् ।।३०।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म की उपासना के समान ब्रह्म का साक्षात्कार भी बिना विचार उपदेश से ही हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) तो विचार के बिना मनुष्यों को आप्तों के उपदेशमात्र से कहीं भी नहीं होता इससे उसके लिये विचार आवश्यक है।।३०।।

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञाननस्य प्रतिबन्धकः ।।३१।।

आप्तों के उपदेश से ही उपासना करने का उपयोगी परोक्षज्ञान हो जाता है और अपरोक्ष ज्ञान तो विचार के बिना नहीं होता यह कह आये, अब उसमें कारण का वर्णन करते हैं कि जिससे अश्रद्धा (अविश्वास) ही परोक्षज्ञान का प्रतिबंधक है अविचार नहीं, इससे अश्रद्धा की निवृत्ति होने पर एक बार के उपदेश से ही परोक्षज्ञान हो जायगा और अविचार का है प्रतिबंध जिसमें ऐसे अपरोक्षज्ञान की तो विचारद्वारा अविचार की निवृत्ति के बिना उत्पत्ति नहीं होती है इससे उसके लिये विचार कर्तव्य है। भावार्थ यह है कि श्रद्धा परोक्षज्ञान की प्रतिबंधक है अन्य की नहीं और अविचार अपरोक्षज्ञान का प्रतिबंधक है।।३१।।

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ।।३२।।

कदाचित् कहो कि विचार करने पर भी जब अपरोक्ष ज्ञान न हो तब क्या करे

सो ठीक नहीं किंतु विचार करके भी अर्थात् तत् त्वं पद के अर्थ का निश्चय होने के अनंतर भी ब्रह्म आत्मा की एकता का अपरोक्षज्ञान न हो तो बारंबार विचार ही करना क्योंकि विचार से अन्य कोई अपरोक्ष ज्ञान का हेतु नहीं हैं।।३२।।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत् चेत् ।।
जन्मांतरे लभेतैव प्रतिबंधक्षये सति ।।३३।।

कदाचित् कहो कि बारंबार विचार करने पर भी साक्षात्कार न हो तो विचार व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि विचार करता हुआ मरण पर्यंत आत्मा को प्राप्त न हो तो जन्मांतर में प्रतिबंध का क्षय होने पर अवश्य प्राप्त होगा अर्थात् उसको आत्मज्ञान हो जायगा।।३३।।

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।।
श्रृण्वंतोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ।।३४।।

कदाचित् कहो कि यह किस से जाना कि जन्मांतर में फल होता है इस शंका का उत्तर ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास के वचन से कहते हैं कि 'इस लोक में वा परलोक में विद्या फल देती है' यह सूत्रकार ने कहा है और 'सुनते हुए भी बहुत से मुमुक्षु इस जन्म में जिस आत्मा को नहीं जानते' यह श्रुति है।।३४।।

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ।।३५।।

इस जन्म में श्रवण आदि का जो कर्ता है उसको जन्मांतर में अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमें भी इस श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं कि गर्भ में सोता हुआ ही वामदेव पूर्वजन्माभ्यास के विचार से ब्रह्म को जानता हुआ कि 'गर्भ* में ही रहता मैं इन इन देवताओं को जानता हूं' जैसे अध्ययन आदिको में फल जन्मांतर में होता है।।३५।।

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ।।
दिनांतरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ।।३६।।

अब दृष्टांत को स्पष्ट करते हैं कि यदि बहुत बार पढ़ने पर भी न आवे तो पुनः दूसरे दिन बिना पढ़े ही पूर्व पढ़े हुए का पुरुष स्मरण कर लेता है अर्थात् स्वतः ही आ जाता है।।३६।।

कालेन परिपच्यंते कृषिगर्भादयो यथा ।।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ।।३७।।

---

* गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमह देवानां जनिमानि विश्वा ।

अब अन्य भी दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे कृषि, गर्भ आदि का परिपाक समय पर होता है ऐसे ही आत्मविचार भी शनैः २ काल पाकर ही पकता है।।३७।।

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबंधतः ।।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ।।३८।।

बारंबार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबंध से तत्त्व को नहीं जानता यह वार्तिककारों ने भले प्रकार वर्णन किया है, अर्थात् पुनः २ विचार को बांधकर प्रतिबंध से ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता।।३८।।

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात् ।।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ।।३९।।

अब उन्हीं वार्तिकों को कहते हैं और प्रथम पहले जिसको ज्ञान न हुआ सो इस काल में ज्ञान होने के कारण को पूछते हैं कि वह ज्ञान कैसे होता है? ऐसा यदि कोई कहे तो वह ज्ञान बंधक के परिक्षय (नाश) से होता है और वह बंध भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है।।३९।।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।।
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम् ।।४०।।

कदाचित् कहो कि प्रतिबंध रहे वह क्या करेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि जिसने वेद और वेद के अर्थ को पढ़ लिया है वह प्रतिबंध के होने से ही मुक्त नहीं होता और प्रतिबंध के रहते ज्ञान नहीं होता यह बात हिरण्यनिधि* (सोने का खजाना) के दृष्टांत से दिखाई है कि दबी हुई हिरण्य की निधि को ऊपर २ विचरते क्षेत्रज्ञों (स्थानज्ञों) से अन्य जैसे नहीं जानते इसी प्रकार ये संपूर्ण प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हुई असत्य से युक्त हुई इस ब्रह्मलोक को नहीं जानती।।४०।।

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबंधतः ।।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ।।४१।।

अब व्यतीत हुए प्रतिबंध से ज्ञान के अभाव को कहते हैं कि भूत भी महिषी के स्नेहरूप प्रतिबंध से कोई भिक्षु तत्त्व को न जानता हुआ यह गाथा लोक में गायी जाती है। वह गाथा यह है कि कोई सन्यासी गृहस्थ के समय किसी महिषी में स्नेह करके फिर सन्यास के अनंतर श्रवण में प्रवृत्त हुआ भी उसी स्नेहरूप प्रतिबंध से गुरु

*** हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विंदेयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छंत्य एतं ब्रह्मलोकं न विंदंति अनृतेन हि प्रत्यूढाः ।।**

के उपदेश किये तत्त्व को न जानता हुआ॥४१॥

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ॥
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबंधस्य संक्षयात् ॥४२॥

कदाचित् कहो कि फिर महिषी के स्नेही उसको कैसे ज्ञान हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि उसको तत्त्व के उपदेशकर्ता गुरु ने महिषी में स्नेह के अनुसार ही तत्त्व को कहा अर्थात् महिषीरूप उपाधिवाले ब्रह्म का वर्णन किया इससे उस सन्यासी ने प्रतिबंध के नाश होने पर यथार्थ ब्रह्म को जाना अर्थात् महिषी को असत्य समझकर ब्रह्मज्ञानी हो गया॥४२॥

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ॥
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

इस प्रकार भूत प्रतिबंध को दिखाकर वर्तमान् को दिखाते हैं कि वर्तमान् प्रतिबंध ये चित्त के विषयों में आसक्ति और बुद्धि की मंदता अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि का न होना, कुतर्क अर्थात् शुष्क तर्कों से श्रुति के अन्यथा अर्थ करने और विपर्यय में दुराग्रह अर्थात् आत्मा को कर्ता आदि मानने में हठ करना युक्ति से रहित आग्रह को दुराग्रह कहते हैं। इन प्रतिबंधों में एक के भी होने में ज्ञान नहीं हुआ करता है॥४३॥

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ॥
नीतेऽस्मिन्प्रतिबंधेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

अब इस प्रतिबंध की भी निवृत्ति के हेतुओं को कहते हैं कि शम, दम, उपरम, तितिक्षा, सावधानता और श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये जो उस २ समय में उचित हैं उनसे प्रतिबंध के क्षय होने पर अपने प्रत्यगात्मा के ब्रह्मरूप को प्राप्त होता है॥४४॥

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः ॥
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

अब भावी प्रतिबंध को दिखाते हैं कि आगामी प्रतिबंध वामदेव में भले प्रकार कहा है कि जन्मांतर का हेतु आगामी प्रतिबंध (प्रारब्ध का शेष) जिसकी भोग के बिना निवृत्ति ही नहीं होती और निवृत्ति में भी काल का नियम नहीं है वह प्रतिबंध वामदेव का तो एक जन्म से नष्ट हुआ और भरत का तीन जन्म में क्षीण हुआ॥४५॥

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ॥
प्रतिबंधक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥४६॥

कदाचित् कहो कि एक जन्म तीन जन्म के कहने से काल का नियम तो तुमने ही कह दिया सो ठीक नही किंतु योगभ्रष्ट के प्रतिबंध का क्षय गीता में बहुत जन्मों के बीतने पर कहा है इससे विचार भी निष्फल नहीं क्योंकि प्रतिबंध की निवृत्ति होने पर ही अपरोक्षज्ञानरूप फल का संभव है॥४६॥

प्राप्यपुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥४७॥

अब गीता में कहे अर्थ को ही कहते हैं कि योग से भ्रष्ट मनुष्य पुण्यात्माओं के लोकों में प्राप्त होकर अर्थात् स्वर्ग आदि में जाकर वहां बहुत काल तक सुख भोग कर उस भोग के अनंतर अभिलाषा हो तो इस लोक में मातापिता के वीर्य से शुद्ध जो लक्ष्मीवालों का कुल उसमें जन्म लेता है॥४७॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति भवति धीमताम् ॥
निस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥४८॥

अथवा यह योगभ्रष्ट निस्पृह अर्थात् विषयों से अत्यन्त विरक्त हो तो बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही ब्रह्मतत्त्व के विचार से पैदा होता है क्योंकि वह योगियों के कुल में जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और आत्मतत्त्व के विचार से जिनका चित्त एकाग्र है वे योगी होते हैं, उनके कुल में जन्म होना पुण्य का फल है॥४८॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४९॥

अब उसकी दुर्लभता को कहते हैं कि जिससे उस जन्म में पूर्वदेह के उसी बुद्धि के संयोग को अर्थात् तत्त्वविचार के योग्य बुद्धि को प्राप्त होता है और कुछ यही लाभ नहीं है किंतु उसी पूर्वजन्म के यत्न से फिर भी आत्मा के विचार से अधिक यत्न करता है उससे यह योगियों के कुल में जन्म दुर्लभ है अर्थात् पुण्य के बिना मिलना कठिन है॥४९॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०॥

अब पुनः अभ्यास में कारण को कहते हैं कि योगभ्रष्ट वह मनुष्य उसी पूर्वजन्म के अभ्यास से अवश (पराधीन) आकर्षण (खींचना) किया जाता है अर्थात् वह पूर्वाभ्यास उसी तरफ खींच ले जाता है इसी प्रकार करते २ अनेक जन्मों में सिद्धि

को भले प्रकार प्राप्त हुआ परमगति को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है॥५०॥

ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम् ॥
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥५१॥

अब अन्य भी आगामी प्रतिबंध को दिखाते हैं कि ब्रह्मलोक की वांछा होने पर उसको भले प्रकार रोककर जो आत्मविचार करे वह आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्मलोक की वांछारूपी प्रतिबंध से वह ब्रह्मज्ञानी नहीं होता॥५१॥

वेदांत*विज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ॥
ब्रह्मलोके स कल्पांते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥५२॥

कदाचित् कहो कि फिर उसकी कभी भी मुक्ति न होगी सो ठीक नहीं किन्तु वेदांत के ज्ञान से भले प्रकार निश्चित किया है अर्थ जिन्होंने ऐसे सन्यासी शुद्ध अंतःकरण हुए अंतसमय में ब्रह्मलोक में सब मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्मा के संग वे सब प्रलय के समय परमपद परमेश्वर के मध्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, इस शास्त्र के कथनानुसार वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति के अनन्तर तत्त्व को जानकर ब्रह्म के संग उनकी मुक्ति हो जाती है॥५२॥

केषांचित्स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३॥

इस प्रकार तत्त्वविचार करने पर प्रतिबंध के वश यहां ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता यह कहकर जो मनुष्य महापापी हैं उनको वह विचार भी दुर्लभ है इसका वर्णन करते हैं कि किन्हीं २ मनुष्यों के तो उस विचार का भी कर्म से प्रतिबंध हो जाता है क्योंकि 'श्रवण के लिये भी वह ब्रह्म बहुत से मनुष्यों को लभ्य नहीं अर्थात् ब्रह्म की वार्ताओं का श्रवण भी दुर्लभ है' यह श्रुति में लिखा है॥५३॥

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ॥
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

---

* वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परांतकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यांते कृतात्मानःप्रविशन्ति परं पदम् ।

इतने ग्रंथ से प्रतिबंध के रहते तत्त्व का साक्षात्कार और उसका हेतु विचार नहीं होता यह कहकर अब कहते हैं कि विचार में असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ चाहे तो वह क्या करे कि अत्यन्त बुद्धि की मंदता से वा सामग्री के न होने से जिसको विचार की प्राप्ति न हो अर्थात् उपदेश का कर्ता गुरु न मिले वा देशकाल के अभाव से विचार न कर सके तो वह रात्रिदिन ब्रह्म की उपासना करे।।५४।।

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ।।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ।।५५।।

कदाचित् कहो कि निर्गुणब्रह्मतत्त्व को गुणरहित होने से उसकी उपासना न घटेगी सो ठीक नहीं किन्तु निर्गुणब्रह्मतत्त्व की उपासना का असंभव नहीं है क्योंकि सगुण ब्रह्म के समान निर्गुण ब्रह्म में भी प्रत्यावृत्ति (ब्रह्माकारवृत्ति) का संभव है अर्थात् ब्रह्माकार प्रतीति को ही उपासना कहते हैं।।५५।।

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ।।५६।।

कदाचित् कहो कि निर्गुण ब्रह्म वाणी और मन का अविषय होने से उपासना के योग्य नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि यदि वाणी और मन के अविषय की उपासना न मानोगे तो वाणी और मन के अविषय का वेदन (ज्ञान) भी न होगा अर्थात् यह दोष उसके ज्ञान में भी आ सकता है।।५६।।

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ।।५७।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म वाणी और मन का अगोचर है यही ज्ञान इस मुमुक्ष को होता है तो वाणी आदि का अविषयाकार ब्रह्म है यह उपासना भी क्यों न होगी अर्थात् अवश्य होगी।।५७।।

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ।।
वेद्य चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ।।५८।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म को उपासना योग्य मानोगे तो सगुण हो जायगा सो भी ठीक नहीं, आपके मत में भी ब्रह्म को जानने योग्य होने से सगुण हो जाना तुल्य है। कदाचित् कहो कि वेद्य तो लक्षणावृत्ति से ब्रह्म को मानते हैं तो लक्षणा से ज्ञात की ही उपासना करो इसमें क्या दोष है।।५८।।

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विद यदुपासते ।।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ।।५९।।

अब यह शंका करते हैं कि ब्रह्म की उपासना श्रुति में निषिद्ध है कि तू उसी को ब्रह्म जान और यह ब्रह्म नहीं है जिसकी सब लोक उपासना करते हैं, इस श्रुति* से ब्रह्म की उपासना का निषेध है कि जिसको मन से नहीं जानता और मन जिससे माना जाता है उसी को तू ब्रह्म जान और जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।।५९।।

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।।
यथा श्रुत्यैव वेद्य चेत्तथा श्रुत्याऽप्युपास्यताम् ।।६०।।

अब उपासना के समान वेद्य (जानने योग्य) में भी तुल्य दोष को कहते हैं कि वह ब्रह्म विदित (ज्ञात) और अविदित से अन्य है इस श्रुति से ब्रह्म को वेदत्व भी नहीं है। कदाचित् कहो कि ऐसे विदित** अविदित से अन्य ब्रह्म का ज्ञान श्रुति कहती है तो वैसे ही ब्रह्म का उपासना करो अर्थात् उपासना में भी यह समाधान तुल्य है।।६०।।

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ।।६१।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म की वेद्यता वास्तव नहीं है तो ब्रह्म की उपासना को भी अवास्तवी क्यों न मानो। कदाचित् कहो ब्रह्म की वेद्यता तो ब्रह्माकार वृत्ति की व्याप्ति से हो जाती है तो उपासना में भी ब्रह्माकार वृत्ति की व्याप्ति तुल्य है।।६१।।

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वषस्तदीरय ।।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ।।६२।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्म की उपासना में आपकी क्या भक्ति है अर्थात् क्यों मानते हो तो ब्रह्म की उपासना में आपका क्या द्वेष है यह तुम कहो। कदाचित् कहो कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना में कोई प्रमाण नहीं है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि बहुत सी श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म की उपासना को देखते हैं।।६२।।

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ।।
मांडूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ।।६३।।

*** यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।**

**** तद्विदितादथोऽविदितादधि ।**

अब बहुत श्रुतियों में उपासना को दिखाते हैं कि उत्तर तापनीय उपनिषद्* में कहा है कि 'प्रथम देवता प्रजापति को बोले सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ओंकारूप आत्मा को हमारे प्रति कहो' इत्यादि से बहुधा निर्गुण की उपासना कही है और वैसे ही शैब्य के प्रश्न के विषे प्रश्नोपनिषद्** में पंचम प्रश्न के विषे कहा है कि 'जो इस ब्रह्म को तीन मात्रावाले ओम् इस अक्षर से ही कहता है' इस काठक*** में अर्थात् कठवल्ली में कि 'संपूर्ण वेद जिस पद को मानते हैं यह प्रारंभ करके यही अक्षर ब्रह्म है यही श्रेष्ठ आलंबन है' इत्यादि से ओंकार की उपासना कही है और मांडूक्य उपनिषद् में भी 'ओं' यह अक्षर ही संपूर्ण जगत्‌रूप है' इत्यादि**** से अवस्थाओं से अतीत तुरीय ब्रह्म की उपासना कही है, आदि पद से तैत्तिरीय, मुंडक आदि उपनिषद् समझने। भावार्थ यह है कि उत्तर तापनीय शैब्य प्रश्न और कठवल्ली और मांडूक्य आदि संपूर्ण उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म की उपासना कही है।।६३।।

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पंचीकरणः ईरितः ।।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ।।६४।।

अब निर्गुण उपासना करने का प्रकार कहते हैं कि निर्गुण उपासना करने का प्रकार पंचीकरण के विषे कहा है, कदाचित् कहो कि वह तो ज्ञान का साधन है, मुक्ति का साधन नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी मुक्त होता है यह कहते हुए हमको वह भी अनुकूल है अर्थात् वह ज्ञानसाधन नहीं यह कौन निवारण करता है।।६४।।

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु ।।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ।।६५।।

कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासा को कोई भी नहीं करता किंतु सगुणोपासना करते है तो मत करे, क्या पुरुषों के अपराध (न करने) से निर्गुण उपासना में दोष हो सकता है अर्थात् नहीं होता।।६५।।

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मंत्रान्वश्यादिकारिणः ।।
मूढा जपंतु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ।।६६।।

अब प्रमाणसिद्ध के न करने से त्याग नहीं होता, इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे कालांतर में फल की दाता सगुण उपासनाओं से वशीकरणं आदि के मंत्रों में इस

---

* ताबद्देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व । ** यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषभिधीयीत । *** सर्वे वेदा यत्पदमामनंति एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्मं एतदालंबनं श्रेष्ठम् । **** ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

लोक के फल की अधिकता को देखकर मूढों की वशीकरण मंत्र के जप आदि में प्रवृत्ति होने पर भी विवेकी पुरुष सगुण उपासना को नहीं त्यागते और जैसे नियम से करने की है अपेक्षा जिनको ऐसे वशीकरण आदि मंत्रो से भी कृषि आदि में अधिकता और नियम की अपेक्षा के अभाव को मानकर अत्यंत मूढों की उसमें प्रवृत्ति होने पर उन मंत्रों के अनुष्ठान को कोई नहीं त्यागते, वैसे संसार के फलाभिलाषी पुरुष निर्गुण उपासना को भी न करे तो भी मुमुक्ष पुरुष निर्गुण उपासना को नहीं त्यागते। भावार्थ यह है कि इनसे भी अधिकता को मानकर मूढपुरुष वशीकरण मंत्रों को जपे और उनसे भी अधिकता मान मूढ़पुरुष कृषि को करें।।६६।।

तिष्ठंतु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ।।६७।।

अब प्रासंगिक को समाप्त करके प्रकरण में आते हैं कि जगत् में मूढ रहें, अब प्रकृत जो निर्गुण उपासना उसका वर्णन करते हैं कि विद्या (ज्ञान) की एकता से संपूर्ण शाखाओं के गुणों का एक स्थान में ही उपसंहार (समाप्ति) करे अर्थात् निर्गुण उपासना को एक होने से उस उस शाखा में सुने जो उपासना योग्यों के गुण हैं उनको एक निर्गुण में ही समाप्त करके उपासना करनी।।६७।।

आनंदादेर्विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।।
आनंदादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ।।६८।।

वे गुण दो प्रकार के हैं विधेय और निषेध्य, अर्थात् कर्तव्य और न कर्तव्य हैं, उनमे* 'आनंद ब्रह्म है, विज्ञान आनंद ब्रह्म है, नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन विभु अद्वय आनंद पर प्रत्यक् एक रस है' इत्यादि जो विधान करने योग्य गुण हैं उनका उपसंहार आनंद आदि गुण प्रधान के हैं इस अधिकरण में व्यासजी ने कहा है भावार्थ यह है कि विधान के योग्य आनंद आदि गुणों का उपसंहार आनंदादय इस सूत्र में व्यासजी ने वर्णन किया है।।६८।।

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ।।६९।।

और जो अस्थूल अनणु अह्रस्व अदृश्य अग्राह्य अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय आदि निषेध के योग्य गुण हैं उनके समूह का उपसंहार 'अक्षरधियां त्ववरोधः' इस सूत्र में

---

* आनंदा ब्रह्म। विज्ञानमानंद ब्रह्म। नित्यः शुद्धः बुद्धः सत्यो मुक्तः निरंजनः विभुरद्वयः आनंदः यः प्रत्यगेकरसः।

व्यासजी ने वर्णन किया* है अर्थात् जिनकी अक्षररूप ब्रह्म में बुद्धि है उनको सामान्यरूप और उनकी भावना से अवरोध होता है अर्थात् उपसंहार हो जाता है॥६९॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ॥
न युज्येतेत्युपालंभो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

कदाचित् कहो कि निर्गुण विद्या में गुणों का उपसंहार उचित नहीं है क्योंकि उसकी निर्गुणता ही न रहेगी सो ठीक नहीं किन्तु निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की विद्या (ज्ञान) में गुणों का उपसंहार उचित नहीं, यह आपकी शंका व्यासजी के प्रति ही है हमारे प्रति नहीं क्योंकि हम तो व्यासजी के कहे हुए का ही वर्णन करते हैं कि अपनी उक्ति से नहीं कहते॥७०॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ॥
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

कदाचित् हो कि सुवर्ण के समान हैं श्मश्रु जिसके ऐसी जो सूर्य आदि की मूर्ति हैं उसके न कहने से यह भी निर्गुण की ही उपासना है, ऐसा मानोंगे तो निर्गुण मानने में कोई विरोध नहीं है इससे आपको भी संतोष करना चाहिये॥७१॥

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तः प्रवेशनम् ॥
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्म तत्त्वमुपास्यताम् ॥७२॥

कदाचित् कहो कि आनंद और अस्थूल आदि गुणों का उपासना के योग्य ब्रह्मतत्त्व के मध्य में अप्रवेश है तो उन गुणों से विशिष्ट की उपासना कैसे होगी सो ठीक नहीं क्योंकि उनका तत्त्व के मध्य में प्रवेश न हो तो भी वे गुण लक्षक हैं उनसे लक्षित जो ब्रह्म वही उपासना के योग्य है॥७२॥

आनंदादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ॥
अखंडैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥७३॥

अब उसी उपासना के प्रकार को दिखाते हैं कि इन पूर्वोक्त श्रुतियों में आनन्द आदि और अस्थूल आदि गुणों से जो आत्मा लक्षित किया है वह अखंड एकरस रूप मैं हूं इस प्रकार मुमुक्षुजन उपासना करते हैं॥७३॥

बोधोपास्त्योर्विशेषः कः इति चेदुच्यते शृणु ॥
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतंत्रमुपासनम् ॥७४॥

अब विद्या और उपासना के भेद को कहते हैं कि बोध और उपासना का भेद क्या

---

* अस्थूलमनण्वह्रस्वं यत्तददृश्यमग्राह्यमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।

है ऐसा कहोगे तो सुनो कि बोध वस्तु के अधीन है और उपासना कर्ता के अधीन है॥७४॥

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छायां न निवर्तयेत् ॥
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥

अब अन्य विशेषता के लिये बोध के हेतु आदि को दिखाते हैं कि वस्तु के तत्त्वविचार से वह बोध होता है जिसको बोध मत हो, यह अनिच्छा निवृत्ति (नष्ट) नहीं कर सकती और उत्पन्न होता ही वह बोध संसार में संपूर्ण प्रपंच की सत्यता को नष्ट कर देता है अर्थात् उस ज्ञान से संसार में मिथ्यात्वबुद्धि का निश्चय हो जाता है॥७५॥

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ॥
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

उतने ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिमात्र से कृतकृत्यता को प्राप्त हुआ और सदैव तृप्त मुमुक्ष जीवन्मुक्ति को प्राप्त होकर प्रारब्ध के क्षय को देखता है॥७६॥

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ॥
चिंतयेत् प्रत्ययैरन्यैरनंतरितवृत्तिभिः ॥७७॥

अब उपासना को बोध से विलक्षणता की सिद्धि के लिये उपासना की विलक्षणता को दिखाते हैं कि आप्त जो गुरु उनके उपदेश को अर्थात् उपासना के योग्यस्वरूप के प्रतिपादक जो वाक्य उनके समूह को विश्वास से मानकर विचारता हुआ पुरुष उपासना के योग्य तत्त्व को इस प्रकार चिंतन करे जो विजातीय प्रतीतियों से व्यवहित न हो अर्थात् तदाकार वृत्ति ही रखे॥७७॥

यावच्चिंत्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ॥
तावद्विचिंत्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७८॥

अब चिंता के काल की अवधि को कहते हैं कि जब तक चिंता के योग्य स्वरूप (ब्रह्म) का अभिमान अपने को न हो अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं, यह बुद्धि न हो तब तक चिंता को करके फिर उसी प्रकार की वृत्ति को मरणपर्यंत धारण करे॥७८॥

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ॥
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

अब उपासक को तद्रूपता का अभिमान उदाहरण दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि कोई संवर्गविद्या से युक्त ब्रह्मचारी अर्थात् प्राण का उपासक भिक्षा मांगता हुआ

अपने चित्त में, सवर्गरूपता को धारणकर भिक्षा मांगता हुआ कि हे अभिप्रतारिन्* राजन्! चार महात्माओं को (उदान, व्यान, समान, अपान) कौन एक वह देव निगलता हुआ और वह भुवन का रक्षक है और देह में टिके और बसते हुए उसको बहुधा मनुष्य नहीं देखते हैं अर्थात् उदान आदि का लय जिसमें हो ऐसे प्राण को नहीं जानते हैं इस मंत्र को पढ़कर ही उक्त ब्रह्मचारी ने भिक्षाटन किया।।७९।।

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ।।८०।।

मरणपर्यंत धारण करने में निमित्त को दिखाते हुए अनिच्छा (इच्छा का अभाव) जिसका निवारण नहीं कर सकती यह जोबोध का धर्म उससे विलक्षणता कहते हैं कि उपासना पुरुष की इच्छा से करने को, न करने को और अन्यथा करने को शक्य है अर्थात् चाहे जैसे कर सकते हैं, इससे पुरुष की इच्छा के अधीन होने से उपासना सर्वदा करने योग्य है अर्थात् सदैव ब्रह्माकार प्रतीतियों का विस्तार करे।।८०।।

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ।।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ।।८१।।

अब सदा चिंतन का फल कहते हैं कि अप्रमत्त (सावधान) वेद का पाठी अर्थात् सदैव पढ़नेवाला और सदैव जप का कर्ता ये दोनों स्वप्न में भी अधिवास (दृढ़ वासना) से पढ़ना और जप को ही करते रहें इसी प्रकार उपासक भी वासना की दृढ़ता से स्वप्न आदि में भी ध्यान को ही करता है।।८१।।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरंतर्येण भावयन् ।।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ।।८२।।

अब स्वप्नआदि में भी ध्यान के अनुवर्तन में कारण को कहते हैं कि विरोधी जो प्रत्यय (प्रतीति) उसको छोड़कर निरन्तर भावना करता हुआ मनुष्य वासना की दृढ़ता से स्वप्न आदि में भी भावना (ध्यान) को प्राप्त होता है।।८२।।

भुंजानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ।।८३।।

कदाचित् कहो कि प्रारब्धकर्म के वश विषयों को भोगते हुए को कैसे भावना की

---

* महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेयं नाभिपश्यंति मर्त्याः अभिप्रतारिन् बहुधा वसंतम्'

सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि विषयों के व्यसनी के समान विश्वास का अतिशय (अधिकता) होने पर ध्यान की सिद्धि को कहते हैं कि विश्वास की अधिकता से रात्रि दिन अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ विषयों के व्यसनवाले के समान ध्यान कर सकता है इसमें संदेह नहीं।।८३।।

परव्यसनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।।
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ।।८४।।

अब दृष्टांत का विवरण कहते हैं कि परपुरुष में है व्यसन जिसका ऐसी स्त्री घर के कार्य में व्यग्र (लगी) भी हुई उसी पर पुरुष के संगरूप रसायन (औषध) का अपने मन में स्वाद लेती है।।८४।।

परसंगं स्वादयंत्या अपि नो गृहकर्म तत् ।।
कुंठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ।।८५।।

परपुरुष के संग का स्वाद लेती हुई स्त्री का वह घर का कर्म कुंठित नहीं होता अर्थात् ज्यों का त्यों ऊपरी तौर से चला जाता है परन्तु उसकी वासना परपुरुष के संग में रहती है।।८५।।

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ।।८६।।

अब मरणपर्यंत गृह के कार्य की स्थिति का वर्णन करते हैं कि घर के कार्यों का जिसे व्यसन है वह स्त्री गृहकार्य को जैसे भले प्रकार करती है उस प्रकार परपुरुष का जिसको व्यसन है वह सर्वथा नहीं करती।।८६।।

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लोकिक सम्यगाचरेत् ।।८७।।

अब दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि इसी प्रकार एक ध्यान में ही निष्ठा जिसकी ऐसा पुरुष भी लेशमात्र (थोड़ा सा) लौकिक कर्म करता है। कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी लौकिक व्यवहार को लेशमात्र करता है वा भले प्रकार से, सो ठीक नहीं किंतु तत्त्वज्ञानी तो लौकिक व्यवहार को भले प्रकार करता है क्योंकि व्यवहार तत्त्वज्ञान का विरोधी नहीं है।।८७।।

मायामयः प्रपंचोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ।।८८।।

अविरोध को ही दिखाते हैं कि प्रपंच मायामय है और आत्मा चैतन्य रूपधारी है ऐसा बोध होने पर लौकिक व्यवहार के कर्ता का कौन विरोध है अर्थात् कोई

नहीं॥८८॥

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ॥
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥८९॥

व्यवहार को प्रपंच की सत्यता की अपेक्षा नहीं है और न आत्मा की जड़ता की अपेक्षा है अर्थात् ऐसा नहीं है कि प्रपंच सत्य और आत्मा जड़ हो तो व्यवहार चले किंतु व्यवहार अपने साधनों की ही अपेक्षा करता है॥८९॥

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ॥
तत्त्वविन्नोपमृद्‌नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

अब व्यवहार के साधनों को दिखाते हैं कि मन, वाणी, देह और गृह, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ ये साधन हैं, इनको तत्त्वज्ञानी निवारण नहीं करता है तो तत्त्वज्ञानी का व्यवहार क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा॥९०॥

उपमृद्‌नाति चेदं चेद्ध्यातोऽसौ न तु तत्त्ववित् ॥
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥९१॥

कदाचित् कहो कि विषय का निवारण तत्त्वज्ञानी को मत हो चित्त की निवृत्ति तो होनी ही चाहिये सो ठीक नहीं किंतु यदि तत्त्वज्ञानी चित्त का उपमर्दन करता है तो वह ध्यानी है तत्त्वज्ञानी नहीं क्योंकि घट के तत्त्व का ज्ञाता कोई भी बुद्धि को पीड़ित करता नहीं देखा ॥९१॥

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ॥
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

कदाचित् कहो कि स्थूल घट के दर्शन में चित्त की पीड़ा की अपेक्षा नहीं है, सूक्ष्म रूप ब्रह्म के ज्ञान में चित्त की पीडा अवश्य चाहिये सो ठीक नहीं किंतु यदि एक बार ही प्रतीतिमात्र से घट भासता है तो सदैव स्वप्रकाशरूप यह आत्मा क्या घट के समान नहीं भासता अर्थात् स्वप्रकाश आत्मा घट से भी अत्यंत स्पष्ट रीति से भासता है॥९२॥

स्वप्रकाशतया किं तत्तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ॥
बुद्धिश्च क्षणनाश्यति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९३॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्म स्वप्रकाश रहे, ब्रह्मविषयक जो बुद्धि है वही तत्त्वज्ञान है और वह बुद्धि क्षणिक है इससे ब्रह्म में पुनः पुनः (बारंबार) स्थिति की अपेक्षा है सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रकाशरूप ब्रह्मबुद्धि को तत्त्वज्ञानरूप और बुद्धि को क्षणिक मानोगे तो यह शंका घट आदि में भी तुल्य है॥९३॥

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ॥
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥९४॥

यदि घट का ज्ञान क्षणिक भी है तो भी एक बार निश्चित किये घट से सदा व्यवहार कर सकते हैं उसमें चित्त की स्थिरता का कुछ प्रयोजन नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि घट आदि के निश्चय होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है और उस घट को अन्य स्थान में ले जा सकते हैं तो यह बात आत्मा में तुल्य है॥९४॥

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ॥
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥९५॥

अब आत्मा में समता का ही वर्णन करते हैं कि एक बार आत्मा के निश्चय को करके तत्त्वज्ञानी जिस समय अपेक्षा हो उसी समय उस आत्मा के कहने, मानने और ध्यान करने में समर्थ है अर्थात् कथन आदि कर सकता है॥९५॥

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ॥
विस्मरत्वेव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥९६॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी को भी उपासक के समान आत्मा के स्मरणवश जगत् का अनुसंधान नहीं देखते सो ठीक नहीं किंतु यदि उपासक के समान ध्यानी को भी लौकिक पदार्थों का विस्मरण हो जायगा तो वह विस्मरण हो परंतु वह विस्मरण ध्यान से होता है ज्ञान से नहीं॥९६॥

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ॥
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिंडिमः ॥९७॥

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी को भी मुक्ति के लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नहीं कि इस तत्त्वज्ञानी को ध्यान तो इच्छा के अनुसार कर्तव्य है क्योंकि मुक्ति तो ज्ञान* से ही सिद्ध है और वेदांतशास्त्र में वह डिंडिम (प्रसिद्धि वा ढंडोरा) है कि ज्ञान से ही इन श्रुतियों के अनुसार मोक्ष होता है कि ज्ञान से वह कैवल्य होता है जिससे मुक्ति होती है, उस ब्रह्म को जानकर मृत्यु का अवलंघन करता है अन्य मार्ग मोक्ष के लिये नहीं है, देव को जानकर सब पापों से छूटता है॥९७॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ॥
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥९८॥

---

* ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यत्ते येन मुच्यते । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय । ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ।

कदाचित् तत्त्वज्ञानी को ध्यान की आवश्यकता न मानोगे तो वह बाह्य विषयों में प्रवृत्त हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि कहोगे कि तत्त्वज्ञानी ध्यान न करेगा तो बाह्मय विषयों में प्रवृत्त हो जायगा तो सुख से प्रवृत्त हो इसकी प्रवृत्ति में कोई बाध (हानि) नहीं है।।९८।।

अतिप्रसंग इति चेत् प्रसंगं तावदीरय ।।
प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ।।९९।।

कदाचित् कहो कि बाह्य विषयों में प्रवृत्ति मानने से अतिप्रसंग (दोष) होगा सो ठीक नहीं क्योंकि यदि अतिप्रसंग कहोगे तो प्रथम उस प्रसंग को कही विधिशास्त्र को प्रसंग कहोगे तो सो भी नहीं कह सकते क्योंकि वह विधिशास्त्र तत्त्व ज्ञानी के लिये नहीं है किंतु विधि और निषेध दोनों भी अज्ञानी के लिये हैं।।९९।।

वर्णाश्रमवयोवऽस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ।।१००।।

विधि और निषेध शास्त्र को अज्ञानी के विषय में ही दिखाते हैं कि वर्ण, आश्रम, वय (आयु) का स्थिति इनका अभिमान जिसको है उसके लिये ही संपूर्ण विधि और निषेध हैं, ज्ञानी के लिये तो न विधि है और न निषेध है।।१००।।

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ।।१।।

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी को भी देहधारी होने से वर्ण आश्रम आदि का अभिमान है सो ठीक नहीं क्योंकि वर्ण आश्रम आदि देह के विषे माया से कल्पित है बोधरूप आत्मा में नहीं है इस प्रकार का निश्चय तत्त्वज्ञानी को होता है।।१।।

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ।।२।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी को पूर्वोक्त तत्त्व का निश्चय रहो शास्त्र ने तो उसके भी कर्म कहे हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जिस ज्ञानी ने हृदय में से संपूर्ण आस्थाओं (आसक्ति विशेष) का त्यागकर दिया है और उत्तम है अभिप्राय (निर्मल ज्ञान) जिसका ऐसा मुक्त पुरुष समाधि वा कर्म को मत करे वा करे कोई हानि उसकी नहीं है।।२।।

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ।।३।।

अब विद्वान् को कुछ भी कर्तव्य नहीं इसमें अन्य वचन का भी उदाहरण देते हैं कि नैष्कर्म्य (कर्म के त्याग) से उसका कुछ अर्थ नहीं है और न कर्मों से है और न समाधि से और न जप से कुछ अर्थ है जिसका मन बासनाओं से रहित है॥३॥

आत्मासंगस्ततोऽन्यत्स्यादिंद्रजालं हि मायिकम् ॥
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि बासना ॥४॥

कदाचित् कहो कि विद्वान् को भी वासनानिवृत्ति के लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नहीं क्योंकि आत्मा असंग है और उससे अन्य सब माया का इंद्रजाल है इस प्रकार अचंचल निर्णय किये मन में वासना कहां से हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती है॥४॥

एवं नास्ति प्रसंगोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसंजनम् ॥
प्रसंगो यस्य तस्यैव शंक्येतातिप्रसंजनम् ॥५॥

इस प्रकार जब ज्ञानी को प्रसंग ही नहीं तो अतिप्रसंग कहां से होगा क्योंकि जिसके प्रसंग (विषयों का संग) होता है उसको ही अतिप्रसंग की शंका हुआ करती है॥५॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ॥
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥६॥

अब इसका उदाहरण देते हैं कि जैसे बालक को विधि के अभाव से अतिप्रसंग (दोष) नहीं देखते हैं, इसी प्रकार विधि का अभाव समान होने पर ज्ञानी को भी अतिप्रसंग कैसे हो सकता है॥६॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ॥
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥७॥

कदाचित् कहो कि बालक को तो विधि के अभाव में अज्ञता हेतु है विद्वान् में वह अज्ञता नहीं है सो भी ठीक नहीं, किन्तु यदि बालक किंचित् भी नहीं जानता है तो तत्त्वज्ञानी सबको जानता है अर्थात् उसकी सर्वज्ञता ही विधि के अभाव में हेतु है क्योंकि अल्पज्ञ को ही सब विधि होती हैं, अन्य जो अज्ञ सर्वज्ञ दोनों हैं उनके लिये विधि नहीं होती है॥७॥

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ॥
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥८॥

कदाचित् कहो कि व्यास आदि के समान शाप और अनुग्रह में जिसकी सामर्थ्य

हो वही तत्त्वज्ञानी है अन्य नहीं सो ठीक नहीं, क्योंकि शाप आदि का जो सामर्थ्य है वह तप का फल है॥८॥

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ॥
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥९॥

कदाचित् कहो कि व्यास आदि ज्ञानियों को भी शाप आदि का सामर्थ्य देखते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि व्यास आदि का जो शाप और अनुग्रह का सामर्थ्य है वह तप के बल से है तत्त्वज्ञान से नहीं कदाचित कहो कि 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर' इस श्रुति* से तप से हीन को तत्त्वज्ञान भी न होना चाहिये सो भी ठीक नहीं क्योंकि शाप आदि के कारण तप से भिन्न जो तप वह ज्ञान का कारण होता है अर्थात् तप भी अनेक प्रकार का है॥९॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ॥
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

कदाचित् कहो कि तो उन व्यास आदिकों को तत्त्वज्ञानी होने पर शाप आदि की कारणता कैसे देखते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि दोनों प्रकार का तप जिसने किया है उसको ही शाप आदि का सामर्थ्य और ज्ञान दोनों पैदा होते हैं और एक एक तप को करता हुआ मनुष्य एक एक फल को ही प्राप्त होता है, दोनों को नहीं॥११०॥

सामर्थ्यहीनो निंद्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ॥
निंद्यंते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलंपटैः ॥११॥

कदाचित् कहो कि सामर्थ्य से हीन जो विधिवर्जित (शास्त्रोक्त का त्यागी) है उसकी सन्यासी निंदा करेंगे तो करें उस सन्यासियों की भी तो भोगलंपट मनुष्य सदा निंदा करते हैं॥११॥

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ॥
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमंथरम् ॥१२॥

कदाचित् कहो कि तो संन्यासी भी भोगों से संतोष के लिये विषयों का संचय करे सो ठीक नहीं किंतु यदि ये सन्यासी भी भोगों से प्रसन्न होने के लिये भिक्षा और वस्त्र आदि की रक्षा करें तो इनका सन्यासी होना आश्चर्य है क्योंकि वह वैराग्य के भार से मंद है अर्थात् वैराग्यरहित हैं॥१२॥

---

* 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।'

वर्णाश्रमपरान्मूढा निदंत्वित्युच्यते यदि ।।
देहात्ममतयो बुद्धं निदंत्वाश्रममानिनः ।।१३।।

कदाचित् कहो कि विषयों में लंपट पामरों की की हुई निन्दा से कर्म के कर्ताओं की कुछ हानि नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि यदि वर्ण आश्रम में तत्परों की मूढ निंदा करेंगे, ऐसा कहोगे तो देहाभिमानी, कर्म में तत्पर, मूर्ख, आश्रम के अभिमानी ज्ञानी की भी निंदा करे उससे तत्त्वज्ञानी की कुछ हानि नहीं।।१३।।

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।।
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ।।१४।।

अब प्रसंग से कहे की समाप्ति करके प्रकरण में आते हैं कि इससे इस पूर्वोक्त प्रकार से तत्त्वविज्ञान के होने पर लौकिक व्यवहार के साधन जो मन आदि हैं उनके लय का जो अनुभव उससे ज्ञानी मनुष्य लौकिक राज्य आदि को भले प्रकार कर सकता है अर्थात् राज्य आदि करने में उसकी कुछ भी हानि नहीं है।।१४।।

मिथ्यात्वबुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि माऽस्तु तत् ।।
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन्यथाऽऽरब्धं वसत्वयम् ।।१५।।

कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी की प्रपंच के मिथ्याज्ञान से राज्य आदि में इच्छा ही न होगी इस पर कहते है कि यदि मिथ्यात्वबुद्धि में उनमे इच्छा नहीं है तो मत हो क्योंकि यह ज्ञानी ध्यान वा व्यवहार को करता हुआ अपने प्रारब्ध के अनुसार बसे कुछ चिंता नहीं है।।१५।।

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ।।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ।।१६।।

अब उपासक की ज्ञानी से विषमता को दिखाते हैं कि जिससे उपासक को ब्रह्मभाव ध्यान से ही हुआ है अन्य प्रमाणों से नहीं, इससे उपासक निरंतर ध्यान करता हुआ ही बसे उसमें यह दृष्टांत कि जैसे अपने में ध्यान से संपादन किया विष्णुत्व पारमार्थिक (सत्य) नहीं होता ऐसे ही उपासक का ब्रह्मत्व भी पारमार्थिक नहीं है।।१६।।

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ।।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ।।१७।।

कदाचित् कहो कि ध्यान से संपादन किया ब्रह्मभाव भी पारमार्थिक हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि ध्यान जिसका उपादान कारण है ऐसे वाग्वेनु आदि ध्यान का अभाव होने पर नष्ट हो जाते हैं और जिससे ब्रह्मता वास्तव है इससे ज्ञान के अभाव

में लय नहीं होती।।१७।।

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।।
ज्ञापकाभावमात्रेण नहि सत्यं विलीयते ।।१८।।

और वास्तव होने से ही ब्रह्मत्व ज्ञान से पैदा भी नहीं होता यह कहते हैं कि जिससे यह ब्रह्मत्व नित्य है इससे ज्ञान उसका अवबोधक (जनानेवाला) है जनक नहीं है क्योंकि ज्ञापक के अभावमात्र से सत्यता का नाश नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञान से पैदा होता तो ज्ञान के नाश होने पर ब्रह्मत्व भी लय को प्राप्त हो जाता इससे ज्ञान से जन्य ब्रह्मत्व नहीं है।।१८।।

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ।।१९।।

अब ज्ञानी के समान उपासक के ब्रह्मत्व की भी सत्यता में शंका करते हैं कि यदि उपासक की भी ब्रह्मता वास्तवी (सच्ची) है तो क्या पामर (मूर्ख) और तिरछे (सर्प आदि) इनकी ब्रह्मता सत्य नहीं है।।१९।।

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ।।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ।।१२०।।

कदाचित् कहो कि विद्यमान भी वह ब्रह्मत्व अज्ञान से पामरों के पुरुपार्थ का उपयोगी नहीं होता इस पर कहते हैं कि यह दोप तो दोनों पक्षों में तुल्य है अर्थात् उपासक के भी पुरुषार्थ का उपयोगी अज्ञात ब्रह्मत्व नहीं है। कदाचित् कहो कि उपासना का क्या फल है इस पर कहते हैं कि उपवास से जैसे भिक्षा श्रेष्ठ है वैसे ही अन्य कर्मों से ध्यान भी श्रेष्ठ है।।१२०।।

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ।।२१।।

अन्य कर्मों से श्रेष्ठता को ही दिखाते हैं कि पामरों के व्यवहार से जैसे कर्मों का करना श्रेष्ठ है और कर्मों से सगुणब्रह्म की उपासना और उससे भी निर्गुणोपासना उसी प्रकार श्रेष्ठ है।।२१।।

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्द्धते ।।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ।।२२।।

अब उत्तरोतर श्रेष्ठता में कारण कहते हैं कि जितनी ज्ञान की समीपता है उतनी ही श्रेष्ठता की वृद्धि होती है। अब निर्गुणोपासना की सर्व श्रेष्ठता में कारण कहते हैं कि शनैः शनैः निर्गूण की जो उपासना है वह साक्षात् ब्रह्मज्ञानरूप है।।२२।।

यथा संवादिविभ्रांतिः फलकाले प्रमायते ॥
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥२३॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टांत देकर दृढ़ करते हैं कि जैसे संवादी भ्रम फल के होने पर प्रमा (यर्थाथज्ञान) रूप हो जाता है उसी प्रकार उपासना भी मुक्ति के समय में अत्यन्त पाक से विद्या (ज्ञान) रूप हो जाती है अर्थात् उपासना ही ज्ञानरूप हो जाती है॥२३॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ॥
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तिरे कारणायताम् ॥२४॥

कदाचित् कहो कि संवादी भ्रम स्वयं प्रमारूप नहीं होता किन्तु भ्रम से प्रवृत्त हुए मनुष्य को इंद्रिय और विषय के संबंध से प्रमा हो जाती है इस पर कहते हैं कि संवादिभ्रम से प्रवृत्त हुए मनुष्य को अन्य प्रमाण से यदि प्रमा होती है तो उपासना भी निदिध्यासनरूप होकर महावाक्यों से पैदा हुए अपरोक्षज्ञान में कारण हो जायगी॥२४॥

मूर्तिध्यानस्य मंत्रादेरपि कारणता यदि ॥
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥२५॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकार मूर्ति के ध्यान आदि में भी चित्त की एकाग्रता के संपादन द्वारा अपरोक्षज्ञान के कारण हो जायँगे, इस पर कहते हैं कि यदि मूर्ति का ध्यान और मंत्र आदि भी ज्ञान के कारण हो जायँगे तो हों तथापि उपासना में ज्ञान की समीपता का विशेष है अर्थात् उपासना के अनंतर ही ब्रह्मज्ञान होता है और मूर्ति आदि के ध्यान आदि से विलंब होता है॥२५॥

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छंनैस्ततः ॥
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥२६॥

अब समीपता के प्रकार को ही दिखाते हैं कि जब निर्गुण उपासना पक जाती है तब सविकल्पक समाधि हो जाती है फिर शनैः शनैः निरोध नाम की समाधि हो जाती है और उस निरोध नाम की समाधि के भी निरोध होने पर निर्बीज समाधि जो सबका निरोधरूप इस* सूत्र में कही है उसका अनायास से लाभ होता है॥२६॥।

निरोधलाभे पुंसोऽतरसङ्ग वस्तु शिष्यते ॥
पुनःपुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥२७॥

---

* **'सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।'**

अब निर्विकल्प समाधि के फल को कहते हैं कि निरोध समाधि का लाभ होने पर मनुष्य के अंतर्गत असंग वस्तु (ब्रह्म) का शेष रह जाता है और पुनः पुनः (बारबार) इस असंग वस्तु की भावना करने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से तत्त्वज्ञान हो जाता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं' यह ज्ञान होता है।।२७।।

निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णतः ।। ।।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहंत्यविवादतः ।।२८।।

अब तत्त्वज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं कि निर्विकार असंग, नित्य, स्वप्रकाश एक, पूर्ण ये जो ब्रह्म के रूप शास्त्रों में कहे हैं वे शीघ्र ही बिना विवाद के बुद्धि में जम जाते हैं अर्थात् निर्विकार आदि स्वरूप ज्ञान हो जाता है।।२८।।

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिंद्वादिषु श्रुतः ।।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ।।२९।।

कदाचित् कहो कि निर्विकल्पक समाधि से अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नहीं क्योंकि योगाभ्यास का फल ज्ञान है यह अमृतबिन्दु आदि श्रुतियों में कहा है इसके दृष्ट के द्वारा अर्थात् निर्विकल्पक समाधि के लाभ से और निर्गुण उपासना, अपरोक्षज्ञान के समीप होने से सगुण उपासना से श्रेष्ठ है।।२९।।

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ।।१३०।।

इस प्रकार जब अपरोक्षज्ञान का साधन है तो उसको त्याग कर जो अन्य कर्मों में प्रवृत्त हैं उनके श्रम को वृथा दिखाते हैं कि निर्गुण उपासना को छोड़ कर जो तीर्थ यात्रा और जप आदि को करते हैं उनमें यह न्याय घटेगा कि जैसे कोई मनुष्य पिंड (ग्रास) को त्यागकर अपने हाथ को चाटने लगे ऐसे ही वे हैं।।१३०।।

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ।।३१।।

कदाचित् कहो कि जो आत्मतत्त्वविचार को त्यागकर निर्गुणोपासना करते हैं उनको भी यह न्याय समान है सो ठीक है क्योंकि यदि विचार के त्याग से उपासकों को भी ऐसा ही मानोगे तो सत्य आपका कथन है कि जिससे उपासकों में भी उक्त न्याय घटता है, इसी से विचार के असंभव में योग कहा है अर्थात् उपासना का विधान है।।३१।।

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ॥
यो यो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥३२॥

अब विचार के असंभव में कारण कहते हैं कि बहुत व्याकुल जिनका चित्त है उनके विचार से तत्त्वज्ञान नहीं होता है इससे योग ही मुख्य होने से कर्तव्य है क्योंकि उस योग से बुद्धि का दर्प (अभिमान) नष्ट हो जाता है॥३२॥

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ॥
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥३३॥

इस प्रकार व्याकुल चित्तों को योग की मुख्यता को कहकर समाहित चित्तों को विचार की ही मुख्यता को कहते हैं कि जिनकी बुद्धि तो व्याकुल नहीं है और केवल मोह से मन आच्छादित है उनको सांख्य नाम का विचार करने योग्य है क्योंकि वही मुख्य और शीघ्र सिद्धि का दाता है॥३३॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥३४॥

अब सांख्य योग दोनों मुक्ति के कारण हैं इसमें गीता का वचन प्रमाण देते हैं कि जिस स्थान को सांख्य प्राप्त होते हैं उसी स्थान में योगीजन जाते हैं इस प्रकार फल के द्वारा सांख्य और योग को जो एक देखता है वही शास्त्र के अर्थ को भले प्रकार देखता है॥३४॥

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ॥
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥३५॥

केवल गीता का वाक्य ही नहीं किंतु उस वाक्य की मूल श्रुति को भी दिखाते हैं कि मुक्ति के कारण सांख्ययोग है क्योंकि श्रुति में यह लिखा है कि सांख्ययोग से आत्मा प्राप्त होने योग्य है, कदाचित् कहो कि सांख्ययोग दोनों को तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति का कारण मानोगे तो सांख्यशास्त्र में कहे तत्त्व भी कारण हो जायँगे सो ठीक नहीं क्योंकि सांख्य और योग में जो श्रुति से विरुद्ध है वह आभास है अर्थात् प्रतीतिमात्र है और जो आभास होता है उसका बोध हो जाता है॥३५॥

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ॥
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥३६॥

कदाचित् कहो कि यदि उपासक तत्त्वज्ञान से पहले मर जाय तो उसको मोक्ष न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जिसकी उपासना अत्यन्त पकी न हो वह इस जन्म में वा परलोक में मरण के समय वा ब्रह्मलोक में तत्त्व को जानकर मुक्त हो जाता

है।।३६।।

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ।।३७।।

अब मरण समय में ज्ञान से मुक्ति के लाभ में प्रमाण कहते हैं कि जिस २ भाव का स्मरण करता हुआ मनुष्य अंतसमय में देह को त्यागता है उसी उसी भाव को प्राप्त होता है क्योंकि शास्त्र में यह लिखा है जिसमें चित्त हो उसी मार्ग से जाता है।।३७।।

अंत्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ।।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ।।३८।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति के वाक्यों से अंत समय की प्रतीति से भावी जन्म कहा है ज्ञान से मुक्ति नहीं कही सो ठीक है किन्तु अन्त मे निश्चय से भावी जन्म अवश्य होता है। कदाचित् कहो कि मरणकाल में ज्ञान से मोक्ष होता है इसमें ये दोनों वाक्य प्रमाण क्यों दिये सो ठीक नहीं क्योंकि जब अंत की प्रतीति से भावी जन्म का निश्चय है तो जैसे सगुण उपासना में मरण के समय पूर्व अभ्यास के वश सगुण ब्रह्माकार प्रतीति होता है वैसे ही निर्गुण उपासक के भी निर्गुण ब्रह्मविषयक प्रतीति भी हो जायगी।।३८।।

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ।।३९।।

कदाचित् कहो कि निर्गुणप्रतीति के अभ्यास से निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति ही होगी मुक्ति न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि वह ब्रह्म नित्यनिर्गुणरूप है ऐसे नाममात्र से कहो अर्थात् शब्द का ही भेद है अर्थ से तो यही मोक्ष है क्योंकि स्वरूप से स्थिति को मोक्ष कहते हैं जैसे संवादिभ्रम नाममात्र से भ्रम है वस्तुतः तत्त्वज्ञानरूप है ऐसे ही यह मोक्ष है।।३९।।

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ।।१४०।।

कदाचित् कहो कि मन की क्रियारूप निर्गुण उपासना भी मुक्ति का साधन नहीं हो सकती सो ठीक नहीं क्योंकि निर्गुण उपासना के सामर्थ्य (बल) से मूल अविद्या का निवर्तक ब्रह्मज्ञान होता है, जैसे अविमुक्त सगुण ब्रह्म की उपासना से तारक ब्रह्मविद्या होती है इसी प्रकार निर्गुण उपासना से निर्गुण ब्रह्मज्ञान होता है।।१४०।।

सोऽकामो* निष्काम इति ह्यशरीरो निरिंद्रियः ।।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ।।४१।।

कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासना का मोक्ष फल है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नहीं क्योंकि वह अकाम है, निष्काम है, आत्मकाम है, उस मुक्त के प्राण नहीं निकलते किंतु वहां ही लीन हो जाते हैं, ब्रह्मरूप हुआ वह ब्रह्म को प्राप्त होता है वह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन इनसे रहित है, सच्चिदानंदरूप स्वराट् (स्वयं प्रकाश) होता है और 'जो इस प्रकार जानता है वह चिन्मय ओंकाररूप है और यह सब जगत् चिन्मय है इससे वह परमेश्वर एक ही होता है यही अमृत अभय है यह ब्रह्म अभय है इससे जो ऐसे जानता है वह ब्रह्मरूप ही होता है यही रहस्य (गुप्त) है' इत्यादि वाक्यों से तापनीय उपनिषद् में निर्गुण उपासना का मोक्ष फल सुना है। भावार्थ यह है कि वह कामनाओं से रहित है, अशरीर, निरिंद्रिय है, अभयरूप है ऐसा मुक्तत्वरूपफल तापनीय उपनिषद् में निर्गुण उपासना का सुना है।।४१।।

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ।।
नान्यः पंथा इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ।।४२।।

कदाचित् कहो कि उपासना के सामर्थ्य से मुक्ति हो जायगी तो 'ज्ञान से अन्य मार्ग मोक्ष का नहीं है, इस श्रुति** का विरोध होगा सो ठीक नहीं क्योंकि उपासना के बल से ज्ञान होता है और ज्ञान से मोक्ष होता है अर्थात् उपासना ज्ञान के द्वारा मोक्ष का कारण है साक्षात् नहीं इससे 'ज्ञान से अन्य कोई भी मोक्ष का पंथा (मार्ग) नहीं है, इस शास्त्र का भी विरोध नहीं है।।४२।।

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्र समीरितः ।।४३।।

मरण के समय वा ब्रह्मलोक में तत्त्व को जानकर मुक्त होता है इस पूर्वोक्त अर्थ में श्रुति का प्रमाण देते हैं कि तापनीय उपनिषद् में निष्काम उपासना से मुक्ति कही है और सकाम मनुष्य को ब्रह्मलोक की प्राप्ति शैब्यप्रश्न में भले प्रकार से कही है।।४३।।

---

*सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव संलीयंते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिंद्रियोऽप्राणोह्यमनाः सच्चिदानंदमात्रः स्वस्वराट् भवति यएवं वेद चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिद सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभ यं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् । ** नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ।।४४।।

अब शैब्यप्रश्नोपनिषद् के अर्थ को पढ़ते हैं कि 'जो त्रिमात्र* ॐ इस अक्षर से पर पुरुष का ध्यान करता है वह सूर्यरूप तेज में संपन्न हुआ इस प्रकार पाप से रहित होता है जैसे त्वचा से सर्प। फिर वह सामवेदों की महिमा से ब्रह्मलोक में जाता है' इन मंत्रों से सकाम को ब्रह्मलोक की प्राप्ति सुनी है। कदाचित् कहो कि शैब्यप्रश्न में सकाम को ब्रह्म लोक में गमन ही कहा है सो ठीक नहीं क्योंकि वहां तत्त्व का साक्षात्कार भी सुना है कि ब्रह्मलोक में गया वह उपासक यह जो जीवघन है अर्थात् जीव समष्टिरूप हिरण्यगर्भ है उससे श्रेष्ठ जो पुरुष है अर्थात् निरुपाधि चैतन्यरूप परमात्मा है उसको साक्षात् देखता है। भावार्थ यह है कि जो ओंकार से उपासना करता है वह ब्रह्मलोक में जाता है और वह हिरण्यगर्भ से परम (श्रेष्ठ) परमात्मा को देखता है।।४४।।

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ।।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ।।४५।।

और बादरायण (व्यास) ने कहा है कि अप्रतीक (निर्गुण) आलंबन से ब्रह्मलोक में जाता** है और दोनों पक्षों*** में दोष है इससे तत्क्रतुन्याय भी अप्रतीक अधिकरण में कहा है अर्थात् जिस कामना से ऋतु (यज्ञ) करोगे उसी फल की प्राप्ति होती है इससे सकाम पुरुष को भी ब्रह्मलोकरूप फल होता है यह वर्णन किया है।।४५।।

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।।
पुनरावर्तते नायं कल्पांते च विमुच्यते ।।४६।।

अब सकाम को तत्त्वज्ञान में कारण को कहते हैं कि निर्गुण उपासना के सामर्थ्य से उस ब्रह्मलोक में तत्व को देखता है और इस जगत्‌रूप आवर्त (भँवर) में यह फिर नहीं आता है किन्तु कल्प के अंत में ब्रह्मा के संग मुक्त हो जाता है इत्यादि श्रुतिस्मृतियों**** से उसका फिर जन्म नहीं होता।।४६।।

---

* य पुनरेतत्त्रिमात्रणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । **अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायणः । ***उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च । ****इमं मानव मावर्तं नावर्तंते न स पुनरावर्वते न स पुनरावर्त्तते। ब्रह्मणा सह ते सर्वे०।

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ॥
क्वचित्सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥४७॥

अब प्रणव (ॐ) की उपासना के प्रसंग से ओंकार की उपासना के जो दो भेद बुद्धि में स्थित हैं उनको कहते हैं कि प्रायः वेद में प्रणव की उपासना निर्गुण ही है और कहीं २ प्रणव की उपासना सगुण भी कही है॥४७॥

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ॥
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥४८॥

अब दोनों भेदों में प्रमाण कहते हैं कि पिप्पलादमुनि ने प्रश्न करते हुए सत्यकाम के प्रति परब्रह्म अपरब्रह्मरूप ओंकार का वर्णन किया है कि 'हे सत्यकाम! *यह ओंकार पर और अपर ब्रह्मरूप है' इससे विद्वान् इसी मार्ग से एकतर (कोई से) को प्राप्त होता है॥४८॥

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥४९॥

कठवल्ली में यम ने भी 'इस** आलंबन (आश्रय) को जानकर' इत्यादि मंत्रों से जो जिसकी इच्छा करता है उसको वही होता है' यह पूछते हुए नचिकेता के प्रति कहा है॥४९॥

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत् ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

अब पूर्वोक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं कि इसी लोक में मरण के समय वा ब्रह्म लोक में ब्रह्म का साक्षात्कार भले प्रकार से निर्गुण के उपासक को होता है॥१५०॥

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ॥
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥५१॥

और जो विचार से तत्त्वज्ञान में असमर्थ है उसका निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में. अधिकार है यह अर्थ आत्मगीता में भी स्पष्ट कहा है अर्थात् विचार न हो सके तो निरंतर आत्मा की उपासना करे॥५१॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः ॥
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥५२॥

---

*एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति।
**एतदालम्बनं ज्ञात्वा०।

अब आत्मगीता के वाक्यो को ही कहते हैं कि जो मुमुक्षु साक्षात्कार करने को असमर्थ है वह शंका को छोड़कर मेरी चिंता करे तो समय पर अनुभव (ज्ञान) में आरूढ हुआ मैं निश्चय से फलित होता हूं अर्थात् कालांतर में मेरा ज्ञान हो जाता है।।५२।।

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वा न चापरः ।।५३।।

अब ध्यान सम्यक् ज्ञान का उपाय है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अगाध निधि के लाभ में खनन (खोदने) से अन्य कोई उपाय नहीं है इसी प्रकार मेरे लाभ में भी अपने आत्मा की चिंता से अन्य उपाय नहीं है।।५३।।

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ।।५४।।

बुद्धिरूप कुद्दालक से देहरूप पत्थर को दूर करके और फिर खोदकर मन में विद्यमान जो निधिरूप मैं हूं उसे ग्रहण करे अर्थात् जाने।।५४।।

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्यताम् ।।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ।।५५।।

ज्ञान में असमर्थ का ध्यान में अधिकार है इसमें अन्य वचन को पढ़ते हैं कि अनुभव के अभाव में भी 'मैं ब्रह्म हूं' इसी प्रकार चिंता करे क्योंकि ध्यान करने से असत् अर्थात् प्रथम अविद्यमान भी देवत्व आदि की प्राप्ति जब होती है तो स्वरूप से नित्य प्राप्त सर्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होने में कौन आश्चर्य है।।५५।।

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिनेदिने ।।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ।।५६।।

अब ब्रह्म ध्यान के प्रत्यक्षसिद्ध फल को कहते हैं कि ध्यान से दिन दिन अनात्मबुद्धि की शिथिलता होती है और इस शिथिलतारूप फल को देखता हुआ जो ध्यान न करे उससे परे पशु कौन है यह तुम कहो।।५६।।

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।५७।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को संक्षेप से दिखाते हैं कि देह में जो अहं (मैं हूं) यह अभिमान है इसका विध्वंस करके अर्थात् त्यागकर और ध्यान से अद्वय आत्मा को देखता हुआ मर्त्य अमृत होकर इसी शरीर में अपना निजरूप जो सच्चिदानंद ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है।।५७।।

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ॥
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यप्रणीत-
पंचदश्यां ध्यानदीपप्रकरणम् ॥९॥

अब ध्यानदीप के अनुसंधान का फल कहते हैं कि इस ध्यानदीपका जो मनुष्य भले प्रकार से परामर्श (स्मरण) करता है वह मुक्तसंशय होकर ही निरंतर ब्रह्म का ध्यान करता है॥१५८॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्यां पंडितमिहिरचन्द्रकृतभाषा-
विवृतौ ध्यानदीपप्रकरणम् ॥९॥

इति ध्यानदीपप्रकरणम् ॥९॥

अथ नाटकदीपप्रकरणम् १०

श्रीगणेशाय: नम:

परमात्माऽद्वयानंदपूर्णः पूर्वं स्वमायया ॥
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

करने को इष्ट ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये अपने को अभिमत जो देवता उसके तत्त्व का स्मरणरूप मंगल को करते हुए ग्रंथकार, मंदबुद्धि जो अधिकारी हैं उनको भी अनायास से प्रपंचरहित ब्रह्मात्मतत्त्व की प्रतिपत्ति (ज्ञान) की सिद्धि के लिये अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपंच का विस्तार कहते हैं क्योंकि शिष्यों के बोधार्थ तत्त्व के ज्ञाताओं ने यही क्रम कल्पित किया है इस* न्याय के अनुसार आत्मा में अध्यारोपका वर्णन प्रथम करते हैं कि सृष्टि से पूर्व अद्वय आनंदपूर्ण जो इन श्रुतियों** में प्रसिद्ध है कि, हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि से पूर्व सत्रूप ही हुआ, एक, अद्वितीय, विज्ञान, आनंदब्रह्म, पूर्ण है और जो स्वगत आदि भेद से शून्य है परमानंद परिपूर्ण है वह महेश्वर माया (प्रकृति) से अर्थात् अपने में वर्तमान् अपनी मायारूप शक्ति से स्वयं जगत्रूप होकर जीवरूप से उस जगत् में प्रविष्ट हुआ अर्थात् जीव भाव को प्राप्त हुआ। भावार्थ यह है कि अद्वय आनंदपूर्णरूप परमात्मा अपनी माया से जगत्रूप होकर जीवरूप से प्रविष्ट हुआ॥१॥

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ॥
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

---

* अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते । शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ।

** सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं विज्ञानमानंदं ब्रह्म पूर्णमदः पूर्णम् । मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । स्वयमेव जगद्भूत्वा तदात्मानं स्वयमकुरुत सच्च त्यच्चाभवत् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य ।

कदाचित् कहो कि यदि परमात्मा ही एक सब शरीरोंमें प्रविष्ट है तो पूज्य, पूजक आदि भेद से उत्तम, अधमभाव न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि विष्णु आदि उत्तम देह में प्रविष्ट हुआ परमात्मा देवता हो जाता है और मनुष्य आदि के अधम देहों में स्थित हुआ मर्त्यभाव को प्राप्त होता है, अर्थात् यह उत्तम अधमभाव स्वाभाविक नहीं है किंतु शरीररूप उपाधि के भेद से है इससे कुछ विरोध नहीं ॥२॥

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ॥
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

इस प्रकार आत्मा में संक्षेप से अध्यारोप को दिखाकर अब कारणोंसहित उसके अपवाद (निषेध) को संक्षेप से दिखाते हैं कि अनेक जन्मों में किये जो कर्म हैं उनके ब्रह्म में समर्पणरूप भजन से जब अपने आत्मारूप ब्रह्म को ज्ञान का साधन जो श्रवण मनन आदि विचार है उसको करना चाहता है तब अपने विचार से पैदा हुए ज्ञान से अपने आनंद आदिरूप की आच्छादक माया के नष्ट होने पर आप ही शेष रह जाता है। भावार्थ यह है कि अनेक जन्मों के भजन से अपने विचार को जब चाहता है तो विचार से माया के नष्ट होने पर स्वयम् आत्मा ही शेष रह जाता है।।३।।

अद्वयानंदरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ॥
बंधः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४॥

कदाचित् कहो कि सो ब्रह्म* मैं हूं ऐसे जानकर संपूर्ण बंधनों से छूटता है क्योंकि श्रुतियों ने बंध की निवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञान का फल कहा है तुम परमात्मा के शेष को ज्ञान का फल कैसे कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म में वास्तव तो न बंध है और न मोक्ष है किंतु अद्वयानंदरूप में द्वैत और दुःख आदि मानना जो भ्रम है वही बंध कहा है और स्वरूप से स्थिति अर्थात् पूर्वोक्त भ्रम की जो निवृत्ति है उसको ही मुक्ति कहते हैं इससे पूर्वोक्त श्रुति का विरोध नहीं है।।४।।

अविचारकृतो बंधो विचारेण निवर्तते ॥
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

कदाचित् कहो कि जनक आदि कर्म** से ही संसिद्धि को प्राप्त हुए इस स्मृति से

---

* तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते । ** कर्मणैव हिसंसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

मोक्ष का साधन कर्म कहा है। विचार से पैदा हुए ज्ञान का क्या फल है इस पर कहते हैं कि अविचार से अर्थात् अज्ञान से किया जो बंधन है उसकी निवृत्ति विचार से पैदा हुए ज्ञान से होती है और पूर्वोक्त स्मृति में संसिद्धि पद से चित्त की शुद्धि लेते हैं इससे जीव और परमात्मा के स्वरूप का सदैव विचार करे।।५।।

अहमित्यभिमंता यः कताऽसौ तस्य सधनम् ।।
मनस्तस्य क्रिये अंतर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ।।६।।

अब प्रथम जीवरूप का वर्णन करते हैं कि जो चिदाभासविशिष्ट अहंकार व्यवहारदशा में देह आदि में अहं (मैं हूं) यह अभिमान करता है वह कर्ता है अर्थात् जीव है। उसका साधन (करण) मन है और उस मन की अर्थात् काम आदि वृत्तिवाले अंतःकरण का अंतः और बहिः (भीतर बाहर) की दो वृत्तियां क्रम से उठती हैं।।६।।

अंतर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ।।७।।

अब उन दोनों वृत्तियों के स्वरूप और विषय को पृथक् २ दिखाते हैं कि उस मन की जो अंतर्मुख (अहं) (मैं) यह वृत्ति है वह कर्ता का उल्लेख (विषय) करती है और वहिर्मुख जो इदं (यह है) वृत्ति है वह बाह्य घट आदि विषयों को उल्लेख करती है।।७।।

इदमो ये विशेषाः स्युर्गंधरूपरसादयः ।।
असांकर्येण तान् भिंद्याद् घ्राणादींद्रियपंचकम् ।।८।।

कदाचित् कहो कि मन से ही संपूर्ण व्यवहार सिद्ध हो जायगा नेत्र आदि इन्द्रियें व्यर्थ हो जायँगी सो ठीक नहीं क्योंकि इन्द्र के जो विशेषरूप में गंध, रूप, रस आदि हैं उनको असांयकर्य से (पृथक् २) घ्राण आदि पांचों इंद्रियें भेदन करती (जानती) हैं अर्थात् मन सामान्यमात्र का ग्राहक है, विशेष का नहीं।।८।।

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तिविषयानपि ।।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ।।९।।

इस प्रकार जीव के स्वरूप का निरूपण करके परमात्मा का निरूपण करते हैं जो पूर्वोक्त अहंकाररूप कर्ता को और अहम् इदम् आदि मन की वृत्तिरूप क्रिया को और परस्पर विलक्षण गन्धादि इंद्रियों के विषय को, एक यत्न से (एक बार) प्रकाश करे वह इस वेदान्तशास्त्र में चिद्रूप साक्षी कहलाता है।।९।।

ईक्षे श्रृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ॥
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥१०॥

अब साक्षी की एक यत्न से सब की प्रकाशता को दिखाते हैं 'मैं रूप को देखता हूं, शब्दों को सुनता हूं, गन्ध को सूंघता हूं, रस का स्वाद लेता हूं और स्पृश्य स्पर्श करता हूं' इत्यादि ज्ञानों में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी का एक यत्न से जो नृत्यशाला में स्थित दीपक के समान प्रकाश करता है वह साक्षी है॥१०॥

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ॥
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

अब दृष्टांत को स्पष्ट करते हैं जैसे नृत्यशाला में स्थित दीपक राजा, सभासद और नार्तकी (वेश्या) इन सबको अविशेष से प्रकाश करता है और उनके न होने पर भी स्वयं ही प्रकाशित रहता है इसी प्रकार सबका प्रकाशन साक्षी स्वप्रकाशरूप है॥११॥

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ॥
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१२॥

अब दृष्टांत का दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि पूर्वोक्त दीपक के समान साक्षी भी अहंकार, बुद्धि और विषय इनको प्रकाशित करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदि के अभाव में स्वयं भी पूर्व के समान भासता है॥१२॥

निरंतरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ॥
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३॥

कदाचित् कहो कि प्रकाशरूप बुद्धि को ही अहंकार आदि संपूर्ण वस्तुओं का प्रकाशन मानने से निर्वाह हो जायगा उससे भिन्न साक्षी के मानने का क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं कयोंकि निर्विकार कूटस्थ स्वप्रकाश चैतन्यरूप से निरंतर प्रकाशमान होता है, यह बुद्धि उस प्रकाशमान चैतन्य की प्रकाश की हुई 'यह घट है, यह पट है' ऐसे अनेकप्रकार से नृत्य करती है अर्थात् अनेक प्रकार के विचार बुद्धि में होते हैं विकाररूप बुद्धि जड़ होने से स्वयं प्रकाशरूप नहीं हो सकती इंससे बुद्धि से भिन्न सबका प्रकाशक साक्षी स्वीकार करने योग्य है॥१३॥

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ॥
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यभासकः ॥१४॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रोताओं की बुद्धि में सुख से आने के लिये नाटकरूप से वर्णन करते हैं अहंकार प्रभु (राजा) के तुल्य है अर्थात् उस अहंकार में सम्पूर्ण विषयों का

भोग और अल्प विषयों के भोग के अभिमान से आनन्द और शोक दोनों नृत्य से अभिमानी पुरुष के समान होते हैं इससे अहंकार प्रभु के तुल्य है और विषय सभासद है और बुद्धि अनेक प्रकार के विकारवाली होने से नर्तकी है और बुद्धि के जो विकार उनके अनुकूल व्यापार करने से ताल आदि के धारी जो पुरुष के समान इंद्रिय हैं और इन सबका प्रकाशक होने से साक्षी दीपक के समान है। भावार्थ यह है कि अहंकार प्रभु है और विषय सभासद, बुद्धि नर्तकी, इंद्रिय ताल आदिधारी पुरुष और साक्षी दीपक के समान सबका प्रकाशक है।।१४।।

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरंतः प्रकाशयेत् ।।१५।।

कदाचित् कहो कि साक्षी को अहंकार आदि का प्रकाशक मानोगे तो उस २ विषय के संग सम्बन्ध होने और न होने से साक्षी भी विकारी हो जायगा सो ठीक नहीं है क्योंकि जैसे दीपक गमन आदि को न करता हुआ अपने देश में स्थित ही अपने समीप के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार स्थिर है स्थिति जिसकी ऐसा साक्षी भी बाहर और भीतर के सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करता है।।१५।।

बहिरंतर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यांतरहंकृतिः ।।१६।।

कदाचित् कहो कि साक्षी बाहर और भीतर का प्रकाशक नहीं हो सकता है क्योंकि 'साक्षी* पूर्व अपर' अंतर बाह्य इनसे रहित है' इस श्रुति से साक्षी को बाह्य और भीतर के विभागं का अभाव कहा है सो ठीक नहीं किंतु बाहर भीतर का जो यह विभाग है वह देह की अपेक्षा से है साक्षी में नहीं, क्योंकि रूप आदि विषय बाह्य देश में स्थित हैं और अहंकार देह के मध्य में स्थित है।।१६।।

अंतःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।।
भास्यबुद्धिस्थचांचल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा।।१७।।

कदाचित् कहो कि स्थिर साक्षी बाहर भीतर प्रकाश करता है यह बात अधिकारी साक्षी को अयुक्त है क्योंकि मैं घट को देखता हूं यहां प्रथम अहम् (मैं) इस अहंकार का साक्षी होकर भासे हुए को फिर घट को देखता हूं इस प्रकार घटाकार वृत्ति की स्फूर्ति से साक्षी का बाहर गमन प्रतीत होता है सो ठीक नहीं क्योंकि देह के भीतर

---

* अपूर्वमनपरमन्तरमबात्द्यम्।।

स्थित हुई बुद्धि रूप आदि के ग्रहण के लिये नेत्र आदि के द्वारा बारंबार बाहर जाती है उससे साक्षी के द्वारा प्रकाशमान बुद्धि की जो चंचलता है उसका वृथा आरोप साक्षी में मूर्ख मनुष्य करते हैं इससे साक्षी में वास्तविक चंचलता नहीं है।।१७।।

गृहांतरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ।।१८।।

अब प्रकाशक में प्रकाश किये जानेवाले की चंचलता का आरोप दिखाते हैं कि गवाक्ष (झरोखा) में से घर के भीतर आया जो निश्चल और स्वल्प आतप (धूप) है उसमें मनुष्य अपने हस्त को नचावे तो उसके संग आतप भी नृत्य (चलना) करने के समान जैसे प्रतीत होता है।।१८।।

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरंतर्गमागमौ ।।
अकुर्वन् बुद्धिचांचल्यात् करोतीव तथातथा ।।१९।।

अब दार्ष्टांतिक को कहते हैं कि इसी प्रकार अपने स्थान में स्थित साक्षी बाहर और भीतर गमन और आगमन को न करता भी बुद्धि की चंचलता से करते हुए के समान प्रतीत होता है।।१९।।

न बाह्यो नांतरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।।
बुद्ध्याद्यशेषसंशांतौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ।।२०।।

कदाचित् कहो कि अपने स्थान में स्थित साक्षी इस कहने से क्या बाह्य देश में स्थित साक्षी को मानते हो, सो ठीक नहीं किन्तु साक्षी न बाह्य है और न भीतर है क्योंकि वे दोनों देश बुद्धि के हैं। जब बुद्धि, इंद्रिय आदि सम्पूर्ण शांत हो जाते हैं ऐसी सुषुप्ति आदि अवस्था में जो भासता है उस अवस्था में वह साक्षी है।।२०।।

देशः कोऽपि न भासेत यदि तह्यस्त्वदेशभाक् ।।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वत। ।।२१।।

कदाचित् कहो कि संपूर्ण व्यवहारों के शांत होने पर कोई देश ही न मिलेगा तो साक्षी की स्थिति कहां होगी सो ठीक नहीं किन्तु यदि कोई भी देश न भासेगा तो न भासे, साक्षी का अदेशभास ही मानेंगे कदाचित् कहो कि देश आदि के अभाव में सर्वगत सर्वसाक्षी कहना विरुद्ध होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि सब देशोंकी कल्पनासे ही सर्वगत है स्वतः नहीं अर्थात् अद्वितीय और असंग होने से उसका यह स्वाभाविक धर्म नहीं।।२१।।

अंतर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं पीरकल्पयेत् ।।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ।।२२।।

सर्वगत के समान सर्वसाक्षी भी वास्तविक नहीं इसका वर्णन करते हैं कि अंतः वा बाहर वा संपूर्ण जिस देश की कल्पना बुद्धि करती है उसी देश में गामी (गया हुआ) साक्षी उसी प्रकार वस्तुओं में युक्त होता है अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही देश का संबंध है स्वभाव से नहीं।।२२।।

तद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्धया तत्तत्प्रकाशयन् ।।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्धयगोचरः ।।२३।।

अब वस्तुओं के योग को ही विस्तार से दिखाते हैं कि बुद्धि जिस २ रूप आदि की कल्पना करती है उस २ को प्रकाशित करता हुआ साक्षी, उस २ का साक्षी होता है और स्वतः (स्वयं तो बुद्धि वाणी का अगोचर (अविषय) है अर्थात् वाणी आदि का अविषय उसका निजरूप है।।२३।।

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।।
सर्वग्रहोपसंशांतौ स्वयमेवावशिष्यते ।।२४।।

कदाचित् कहो कि वाणी मन के अगोचर को मुमुक्षु कैसे ग्रहण करेगा सो ठीक नहीं क्योंकि उसका न ग्रहण करना ही हमको इष्ट है यह कहते हैं कि पूर्वोक्त साक्षी को हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं यदि ऐसा है तो मत ग्रहण करो, कदाचित् कहो कि आत्मा को अग्राह्य मानोगे तो विचार से माया ने नष्ट होने पर स्वयं परमात्मा का जो शेष कहा है वह न घटेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि संपूर्ण के ग्रह (जानने) की शांति होने पर अर्थात् द्वैत के मिथ्यात्वनिश्चय से उसकी प्रतीति के न होने पर स्वयं परमात्मा ही शेष रहता है उसके शेष रखने में कोई यत्न नहीं करना पड़ता है। भावार्थ यह कि तादृश (वैसे) साक्षी को हम कैसे ग्रहण करें (जानें) तो मत ग्रहण करो क्योंकि संपूर्ण ग्रहों (ज्ञान) की शांति होने पर वह स्वयं ही शेष रह जाता है।।२४।।

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ।।२५।।

यद्यपि पूर्वोक्त न्याय से स्वात्मा शेष रहता है तथापि उसके अपरोक्षज्ञानार्थ कोई प्रमाण तो चाहिये सो भी नहीं कह सकते क्योंकि उस परमात्मा को स्वप्रकाशरूप होने से उसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है और स्वप्रकाश की स्वयं स्फूर्ति (भान) में प्रमाण की अपेक्षा नहीं है इस व्युत्पत्ति की अपेक्षा है तो गुरु के मुख से

श्रुति को पढ़ अर्थात् श्रुति से प्रतीति हो जायगी कि स्वप्रकाश के भासन के लिये किसीं भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भावार्थं यह है कि स्वप्रकाशरूप आत्मामें प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, यदि इस व्युत्पत्ति की अपेक्षा है तो गुरु के मुख से श्रुति को पढ़।।२५।।

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ।।२६।।

इस प्रकार उत्तम अधिकारी को आत्मा के ज्ञान का उपाय कहकर मंद अधिकारी को भी वह उपाय दिखाते हैं कि यदि संपूर्ण ग्रह का त्याग करने को अशक्य है तो बुद्धि की शरण जाओ क्योंकि वह बुद्धि जिस २ बाह्य वा आंतर विषय की कल्पना करती है उस उसका साक्षीरूप होने से उसके अधीन यह परमात्मा अनुभव करने योग्य है। भावार्थ यह है कि सबका ज्ञान नहीं त्याग सहते हो तो बुद्धि की शरण जाओ, उस बुद्धि से कल्पित बाहर वा भीतर के विषयों का साक्षी यह परमात्मा जानने योग्य है।।२६।।

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्याः पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ
नाटकदीपः ।।१०।।

इति नाटकदीपप्रकरणं दशमम् ।।१०।।

अथ ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम् ११

श्रीगणेशाय नम:

ब्रह्मानंदं, प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ॥
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

करने को इष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और समाप्ति के विरोधी पाप की निवृत्ति के लिये अपने को अभिमत जो देवता उसके तत्त्व का स्मरणरूप मंगल करते हुए और श्रोताओं की प्रवृत्ति के लिये प्रयोजन और अभिधेय को प्रगट करते हुए आचार्य ग्रंथारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं कि 'निर्विशेष परब्रह्म को साक्षात् करने को जो असमर्थ मंदबुद्धि हैं उन पर भी सविशेष ब्रह्म के निरूपण से दया की जाती है अर्थात् उनके लिये सविशेष ब्रह्म का निरूपण है, इस* वचन से सविशेष ब्रह्मरूप देवताओं के तत्त्व को निर्विशेषब्रह्मरूप कहा है और 'ब्रह्मानन्द को कहता हूं' यहां आनन्दरूप ब्रह्म के वाचकशब्द के प्रयोग से और 'जो मन से ध्यान करता है उसको ही वाणी से कहता है, इस** श्रुति में कहे न्याय से ब्रह्म का स्मरणरूप मंगल सिद्ध हुआ और ब्रह्म सम्पूर्ण वेदांतों से प्रतिपादन किया जाता है और वेदांतक प्रकरणरूप इस ग्रंथ का भी ब्रह्म ही विषय है इससे ब्रह्मशब्द के प्रयोग से विषय भी सूचित किया और उत्तर के (पिछले) आधे श्लोक से अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्तिरूप दो प्रयोजन भी मुख से सूचित किये कि ब्रह्म जो आनंद उसको कहता हूं। यहां वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) इनके अभेद से ग्रंथ भी ब्रह्मानंद है जिस ब्रह्मानंद के अर्थात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूप के ज्ञान होने पर इस लोक के और परलोक के जो अनर्थों का समूह है अर्थात् देह पुत्र आदि में अहं मम के अभिमान से जो आध्यात्मिक दुःख हैं और परलोक में होनेवाले जो अनर्थ हैं उनका समूह अशेषरूप से जो है उसको त्याग कर सुखरूप ब्रह्म ही होता है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मानंद को कहता हूं क्योंकि

---

* निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमुनीश्वरः । ये मंदास्तेनुकंप्यते सविशेषनिरूपणैः । आनंदो ब्रह्म ।

** यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति ।

उसका ज्ञान होने पर संपूर्ण इस लोक और परलोक के अनर्थों का जो समूह है उसको त्यागकर सुखरूप ब्रह्म ही होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है।।१।।

ब्रह्मवित्परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनंदीभवति नान्यथा ।।२।।

ब्रह्मज्ञान अनिष्टनिवृत्ति और इष्टप्राप्ति का हेतु है इसमें बहुत से श्रुतिस्मृतियों के वचन प्रमाण हैं यह दिखाने का अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम 'ब्रह्म का ज्ञाता परंब्रह्म को प्राप्त होता है, ऐसे ही भगवान् के ज्ञाताओं से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक को तरता है हे भगवन्! सो मैं सोचता हूं इससे मुझे आप शोक से पार करो' इन* दो वचनों के अर्थ को पढ़ते है कि ब्रह्म को वेत्ता (ज्ञाता) परम उत्कृष्टरूप आनंद ब्रह्म को प्राप्त होता है और आत्मवित् जो है अर्थात् भूमा शब्द के वाच्च देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से शून्य आत्मा को जो जानता है वह शोक को तरता है अर्थात् अपने संसर्गी पुरुष को शोच जो दे उस शोकरूप संसार को तरता है अर्थात् लांघता है कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तैत्तिरीय श्रुति के वाक्य में ब्रह्मज्ञान को परप्राप्ति की हेतुता प्रतीत होती है आनंद प्राप्ति की हेतुता नहीं, यह शंका करके आनंदप्राप्ति की हेतुता के प्रतिपादनपूर्वक 'वह ब्रह्म रस है, यह मनुष्य रस को ही पाकर आनंद होता है' इस तैत्तिरीय वाक्य को अर्थ से पढ़ते हैं कि 'सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है उस इस आत्मा से प्रकाश हुआ' इस श्रुति** में प्रकरण के आदि में ब्रह्म और आत्मा शब्दों से कहो जो आत्मा वह रस (सार) है अर्थात् आनंदरूप है आनंदरूप रस को प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म मैं हूं ऐसे जानकर आनंदवाला होता है, अर्थात् अपरिच्छिन्न सबसे उत्तम सुख को प्राप्त होता है और अन्यथा अर्थात् ब्रह्म आत्मा को एकता के ज्ञान बिना अन्य साधनों के करने से आनंद का भागी नहीं होता है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी शोक को तरता है और ब्रह्म रस है और रस को प्राप्त होकर आनंद होता है अन्यथा नहीं।।२।।

प्रतिष्ठां विंदते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ।।
कुरुतेऽस्मिन्नंतरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ।।३।।

इस प्रकार अन्वय के मुख (रीति) से इष्ट प्राप्ति और अनिष्टावृत्ति के बोधक

---

* तावद् ब्रह्मविदाप्नोति परं श्रुतं ह्येवमेव भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् सोहंभगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पापं तारयतु। ** रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति, सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।

वाक्यों को दिखाकर अन्वय और व्यतिरेक से अनर्थवृत्ति के बोधक इन दो* वाक्यों के अर्थ को पढ़ते हैं कि जिस काल में यह मुमुक्षु विद्वानों के अनुभव से जानने योग्य इस इंद्रियों के अविषय और अनात्मीय अर्थात् स्वरूप से जो अपना नहीं है और शब्द से कहने के अयोग्य और अनिलयन अर्थात् निराधार (अपनी महिमा में स्थित) ब्रह्म में अभय (अद्वितीय) को जानता है क्योंकि श्रुति में लिखा है कि द्वितीय** से भय होता है' यहां भय शब्द से भय का हेतु भेद लिखा जाता है अर्थात् जिसमें भय (भेद) न हो ऐसी प्रतिष्ठा अर्थात् संशय विपर्ययरहित ब्रह्म मैं हूं इस स्थिति को गुरु के समीप वास आदि से श्रवण आदि के द्वारा प्राप्त होता है उसी समय वह विद्वान् भयरहित मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होता है क्योंकि इस श्रुति*** में लिखा है कि 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है' और जिस काल में यह पूर्वोक्त मुमुक्षु इस अदृश्य प्रत्यग् से अभिन्न ब्रह्म में अल्प भी अंतर (भेद) को करता है अर्थात् अपने को उपासक और ब्रह्म को उपास्य समझता है उसी समय में उसको संसार संबंधी दुःखरूप भय होता है। भावार्थ यह है कि जब यह मुमुक्षु अपने आत्मा में स्थिति को प्राप्त होता है तब तो यह अभय होता है और जब इस ब्रह्म में किंचित् भी भेद करता है तो उस मुमुक्षु को भय होता है।।३।।

वायुः सूर्यो वह्निरिंद्रो मृत्युजन्मांतरेंतरम् ।।
कृत्वा धर्मं विजानंतोऽप्यस्माद्भीत्या चरंति हि ।।४।।

भेद के द्रष्टाओं को भय होता है इसको दृढ़ करने के लिये ब्रह्म आत्मा की एकता के ज्ञान से जो रहित हैं उन वायु आदिकों को भय के दिखानेवाले इत्यदि मंत्र के अर्थ को पढ़ते हैं कि 'इस ब्रह्म के भय से पवन चलता है वायु सूर्य अग्नि इन्द्र मृत्यु ये जगत् के नियामक पांचों भी देवता अतीत (बीते) जन्म में इष्ट पूर्त आदि धर्म को जानते हुए भी अर्थात् जानकर करते भी अतर को अर्थात् प्रत्येक ब्रह्म के भेद को करके इस ब्रह्म की भीति से वायु आदिक जन्म में चरते हैं अर्थात् अपने २ व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं' यहां हि शब्द के पढ़ने से इस कठश्रुति**** में जो यम ने प्रसिद्धि कही है उसको दिखायी है कि इस***** ब्रह्म के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है

---

* यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विंदतेऽथ सो भयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमंतरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति। ** द्वितीयाद्वै भयं भवति । *** ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। **** भीषास्माद्वातः पवते। ***** भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।

और भय से इन्द्र, वायु और पांचवा मृत्यु धावता है। भावार्थ यह कि वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु ये सब पूर्वजन्म में भेद को करके और धर्म को भले प्रकार से जानते हुए भी इस ब्रह्म की भीति से अपने २ कार्यों को करते हुए विचरते हैं।।४।।

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।।
एवमेव तपेन्नैषा चिंता कर्माग्निसंभृता ।।५।।

कदाचित् कहो कि आत्मज्ञानी शोक को तरता है इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यों में यह स्पष्ट नहीं भासता है कि ब्रह्मानंद का ज्ञान अनर्थ निवृत्ति का हेतु है यही शंका करके उस वाक्य को कहते हैं जिसमें ब्रह्मानंद का ज्ञान अनर्थनिवृत्ति का हेतु प्रतीत हो कि ब्रह्म के आनंद को जो जानता है अर्थात् अपरोक्षरूप ब्रह्मानंद का ज्ञाता पुरुष किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् इस लोक के व्याघ्र आदि से और परलोक के भय हेतु पाप आदि से भयभीत नहीं होता। कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानी को पाप आदि से भय नहीं यह किससे जानते हो सो ठीक नहीं क्योंकि इस ज्ञानी को यह ताप नहीं होता कि मैंने क्या साधु नहीं किया, क्या मैंने पाप किया इस* वाक्य के अर्थ को पढते हैं कि कर्माग्नि से संभृत (की) जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो न करने और करने से अग्नि के समान संताप का हेतु अग्नि जिसको जो यह चिंता कि मैंने पुण्य नहीं किया, पाप क्यों किया वह चिंता इस तत्त्ववेत्ता (ज्ञानी) को ही नहीं तपाती और अज्ञानी तो उस चिंता से सदैव तपता है। भावार्थ यह है कि आनंदरूप ब्रह्म को जानता हुआ किसी से भय नहीं मानता है और कर्मरूप अग्नि से पैदा हुई चिंता भी इसी ज्ञानी को तपायमान नहीं करती।।५।।

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ।।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ।।६।।

पुण्यपाप को दुःख के न देने में हेतु के दिखानेवाले इन दो वाक्यों के अर्थ को पढते हैं कि जो इस (जो पुरुष आदित्य में ब्रह्म है यह एक है) पूर्वोक्त प्रकार से जानता हैं और इन दो पुण्यपापों को छोड़ता है वही इस आत्मा को प्रसन्न करता है अर्थात् आत्मा का स्मरण करता है क्योंकि इसने मिथ्या समझ कर पुण्यपाप को त्याग दिया इससे कर्म की चिंता ही इसको नहीं होती उसका तप तो कहां से होगा और यही

---

* एतँ ह वाव न तपति किमहँ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्। ** स य एवं विद्वानेते आत्मानँस्पृणुत उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणते।

विद्वान् किये हुए इन्हीं पुण्यपापों को अपने आत्मस्वरूप से ही देखता है कि जो कुछ यह है वह सब आत्मा है इससे आत्मरूप होने से भी सुख दुःख संताप नहीं दे सकते। भावार्थ यह है कि इस पूर्वोक्त प्रकार से जो विद्वान् है वह पुण्य पापरूप कर्मों को त्यागकर सदैव आत्मा का स्मरण करता है और इन पुण्यपापरूप किये हुए कर्मों को भी आत्मरूप से ही देखता है।।६।।

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ।।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।७।।

कदाचित् कहो कि बिना भोगे कोटियों कल्पों में भी कर्म क्षीण नहीं होता है इस* शास्त्र से अनादि संसार में बहुत जन्मों में किये जो पुण्यपापरूप कर्म हैं वे अनगिनत अप्रसिद्ध आत्मरूप जानने के अयोग्य जब हैं तो उनकी चिंता क्यों न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि कारण से युक्त वे कर्म ज्ञान से नष्ट हो चुके इससे चिंता के जनक नहीं इसलिये हृदयग्रंथियों की निवृत्ति के बोधक मुंडक आदि श्रुति के वाक्य को पढ़ते हैं कि हिरण्यगर्भ आदिकों का पर (श्रेष्ठ) पद भी उससे अवर (निकृष्ट) है उस परमात्मा के साक्षात् करने पर उसके हृदय (बुद्धि) की अर्थात् चिदात्मा की ग्रंथि दृढ़ संश्लेष (संबंध) रूप अन्योन्य अध्यास का भेदन होता है अर्थात् नष्ट हो जाता है और संपूर्ण ये संशय नष्ट होते हैं कि आत्मा देह से भिन्न है वा नहीं भिन्न है तो कर्ता है वा नहीं, अकर्ता भी है तो वह ब्रह्म से भिन्न है वा नहीं और अभिन्न है तो वह कर्म आदि सहित मुक्ति का साधन है वा केवल? ये सब संदेह दूर हो जाते हैं, क्योंकि तत्त्व से साक्षात् की वस्तु को संशय विपर्यय ज्ञान की विषयता नहीं देखी है और पुण्यपापरूप संचित् कर्म क्षीण हो जाते हैं अर्थात् अपने कारण अज्ञान के नाश से नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ यह है कि ब्रह्म के पद से भी श्रेष्ठ उस परमात्मा के ज्ञान होने पर इसके हृदय की वासनाओं का भेदन हो जाता है और संपूर्ण संशय छेदन हो जाते हैं और संपूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं।।७।।

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पंथा न चेतरः ।।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैन जन्मभाक् ।।८।।

कदाचित् कहो कि इस जगत् में कर्मोंको** करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इससे अन्यथा तुझको कर्तव्य नहीं है और कोइ कर्म तुझमे लिपायमान नहीं है जो विद्या और अविद्या दोनों को संग जानता है वह अविद्या से मृत्यु को

---

* नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि । ** कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि तान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययामृतमश्नुते।

तरकर विद्या से अमृत को भोगता है इस श्रुति से और कर्मसे* ही जनक आदि संसिद्धि को प्राप्त हुए और जैसे मधु से युक्त अन्न और अन्न से युक्त मधु औषधरूप हैं इसी प्रकार तप और विद्या दोनों महान् औषध हैं इस** स्मृति से केवल वा ज्ञान से युक्त कर्म मुक्तिका हेतु होगा यह शंका करके पूर्वोक्त वाक्य में तप शब्द पाप की निवृत्ति का वाचक इससे है कि आङ् शब्द (अस्थिताः) पद में पढा है वह पापनिवृत्ति का वाचक है और संसिद्धिशब्द से ज्ञान का साधन चित्त की शुद्धि लेते हैं विद्या

शब्द से उपासना लेते हैं इससे कर्म मुक्ति के साधन नहीं इस अभिप्राय से अन्य साधन के निषेधबोधक इस श्वेताश्वर वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि उस ब्रह्म को ही विद्वान् मनुष्य जानकर मृत्यु*** का उल्लंघन करता है और इतर मार्ग अर्थात् दोनों वा केवल कर्मरूप मोक्ष का उपाय नहीं है। कदाचित् हो कि पूर्वोक्त वाक्यों में अन्वयव्यतिरेकों में इस लोक के अनर्थ की निवृत्ति ही प्रधानता से भासती है, परलोक के अनर्थ की निवृत्ति नहीं भासती, यह शंका करके अनिष्टता भी हो सकती है जब भावी जन्म को मानो इससे कारण सहित भावीजन्म के निषेधबोधक इस श्वेताश्वतर के वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि**** स्वप्रकाश प्रत्यगभिन्न ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानकर जो स्थित है उसके काम क्रोध आदि सब पाशों की हानि (नाश) होती है और जब पाशनाम के राग आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं तभी भावी जन्म के हेतु कर्म के अभाव से भावी जन्म को प्राप्त नहीं होता है। भावार्थ यह है कि उसको जानकर विद्वान् मृत्यु को लांघता है अन्य कोई मार्ग नहीं है और ब्रह्म को जानकर पाश की हानि होती है और क्लेशों के क्षीण होने से जन्म को प्राप्त नहीं होता।।८।।

दंव मत्वा हषशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान ।।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ।।९।।

कदाचित् हो कि शोक को तरना आदि जो फल है वह सुना जाता है उसको कोई जानता नहीं क्योंकि ज्ञानियों की इष्टप्राप्ति अनिष्ट की निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति को देखते हैं यह शंका करके दृढ़ जिनको अपरोक्ष ज्ञान है उसको अप्रवृत्ति की बाधक इस कठश्रुति***** के अंर्थ को पढ़ते हैं कि धैर्यवान् अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि साधनों से युक्त पुरुष चिदानन्दरूप देव को जानकर इसी जन्म में हर्ष और शोक को त्याग देता है और कर्माग्नि से पैदा हुई चिंता इसको दुःख नहीं देती है इस पूर्वोक्त अर्थ में विशेषता

---

* कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः । ** यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् । एवं तपश्च विद्या च संयुक्त भेषजं महत् । ***तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय । ****ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युहप्रहाणि । ***** अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा देवं हर्षशोकौ जहाति।

के बोधक इस याज्ञवल्क्य* के वाक्य का जो अर्थ उसको पढ़ाते हैं कि इसका पूर्व जन्म में न किया पुण्य और किया हुआ पाप कदाचित् भी दुःख नहीं देते और इस जन्म के तां किये और न किये हुआ पुण्य पाप ताप कदाचित् भी दुःख नहीं देते, यहां ताप शब्द से चित्तविकारावशेष लेते हैं और किया हुआ पुण्य सद्धर्मरूप विकार को पैदा करता है और न किया हुआ विषाद को और पाप पुण्य से विपरीत फल देता है कि न किया पाप, हर्ष को पैदा करता है और किया पाप विषाद को और तत्त्वज्ञानी को तो दोनों भी दोनों प्रकार के विकार हेतु कदाचित् नहीं होते क्योंकि उसको विकाररहित ब्रह्मरूप का ज्ञान है भावार्थ यह है धीर पुरुष इसी जन्म में देव को जानकर हर्ष शोक को त्यागता है और किये हुए पुण्य पाप इसको कभी भी तपायमान नहीं करते।।९।।

इत्यादि श्रुतयो बह्वचः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानंदं चाप्यघोषयन् ।।१०।।

इतने ही वाक्य प्रमाण नहीं हैं अन्य भी हैं इसका वर्णन करते हैं कि पुराण और स्मृतियों सहित इत्यादि बहुत सी श्रुति और स्मृति ब्रह्मज्ञान होने पर अनर्थ की हानि और आनंद की प्राप्ति की घोषणा (ढंडोरा) करती है। यहां आदि शब्द से इनका ग्रहण है कि इसी**जगत्में ब्रह्म को जान लिया तो सत्यरूप है और यहां न जाना तो महान् नाश हैं, जो पुरुष इस ब्रह्म को जानते हैं वे अमृत होते हैं और उनसे अन्य दुःख को ही भोगते हैं, जो जो देवताओं में जानता हुआ वही वही ब्रह्म हुआ और उस ब्रह्म का निश्चय करके मृत्यु के मुख से छूटता है और संपूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को और आत्मा में संपूर्ण भूतों को भले प्रकार देखता हुआ आत्मयाजी (ज्ञानी) स्वराज (मोक्ष) को प्राप्त होता है' ये श्रुति और स्मृति, पुराणों के वचन भी पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण हैं।।१०।।

आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा ।।
विषयानंद इत्यादौ ब्रह्मानंदौ विविच्यते ।।११।।

कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद इस आनंदपद का ब्रह्म विशेषण है इससे अन्य भी कोई आनंद है यह प्रतीत होता है और वह कै प्रकार का और कैसा है इस आकांक्षा

---

* कृताकृते न तपतः ।।

** इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ! य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति अथेतरे दुःखमेवापियंति । तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् । निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति । क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ।

की निवृत्ति के लिये उसके भेदों को दिखाकर ब्रह्मानंद की विवेचना करते हैं कि ब्रह्मानंद और विद्यानंद और विषयानंद इन भेदों से आनंद तीन प्रकार का है उनमें दो जो आनंद है उनका मूल ब्रह्मानंद है इससे प्रथम तीन अध्यायों से ब्रह्मानंद को विभाग करके दिखाते हैं।।११।।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद्ब्रह्मलक्षणम् ।।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽनंदं विजज्ञिवान् ।।१२।।

उसमें प्रथम तैत्तिरीयश्रुति के देखने से आनंदरूप ही ब्रह्म जाना जाता है इस अभिप्राय से भृगुवल्ली के अर्थ को संक्षेप से दिखाते हैं कि भृगु नाम का पुत्र अपने पिता वरुण से ब्रह्म के लक्षणों को सुनकर कि 'जिससे* ये भूत पैदा होते हैं और जिससे जीते हैं और प्रलय होते हुए ये जिसमें प्रवेश करते हैं उसको तू ब्रह्म जान' ऐसे सुनकर अन्नमय आदि कोशों में ब्रह्म के लक्षण के असंभव से उनको ब्रह्मभिन्न होने का निश्चय करके आनंदमय कोश में जो पांचवां आनंद सुना है कि सबसे पिछले को ब्रह्म जान उस बिंबरूप में ब्रह्म के लक्षणों के योग से उसको ही ब्रह्म जानता हुआ। भावार्थ यह है कि भृगु नाम पुत्र, अपने पिता वरुण से ब्रह्म के लक्षण को सुनकर और अन्न, प्राण, मन, बुद्धि इनको त्यागकर आनंदमय कोश को ब्रह्म समझता हुआ।।१२।।

आनन्दादेव भूतानि जायंते तेन जीवनम् ।।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ।।१३।।

इस प्रकार आनंद में ब्रह्म का लक्षण युक्त किया यह शंका करके युक्त करने के प्रकार को कहते हैं कि 'आनंद से ही निश्चय से ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनंद से ही जीते हैं और लय होते हुए आनंद में ही प्रवेश करते हैं इस** श्रुति में भी यही लिखा है कि विषयों के आनंद से ही ये भूत पैदा होते हैं और उनसे ही उनका जीवन होता है और उसमें ही उनका लय होता है अर्थात् सुषुप्ति के समय अपने स्वरूपभूत आनंद के बिना अन्य किसी का भी अनुभव नहीं है इससे आनंद ब्रह्म ही है इससे सबके अनुभव सिद्ध यही आनंद है इसमें संशय नहीं है। भावार्थ यह है कि आनंद से भूत पैदा होते हैं, आनंद से जीवते हैं और आनंद में ही लय होते हैं,

---

* यतो वा इमाति भूतानि जायंते येन जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशन्तितद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा। ** आनंदाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनन्दं प्रयंत्यभिसविशन्ति ।

इससे वह ब्रह्मानंद है इसमें संशय नहीं करना।।१३।।

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ।।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ।।१४।।

इस प्रकार 'तैत्तिरीयश्रुति' के अनुसार ब्रह्म को आनंदरूप दिखाकर छांदोग्य श्रुति के अनुसार भी आनंदरूप दिखाने का अभिलाषी आचार्य सनत्कुमार नारद का है संवाद जिसमें ऐसे सातवें अध्याय में जिस वाक्य में ब्रह्म को भूमा कहा है उसके संक्षेप से अर्थ को कहते हैं कि जहां* न अन्य को देखता है, न सुनता है न जानता है वह भूमा है अर्थात् आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति से पूर्व और उन भूतों के कार्य जरायुज अंडज आदि से पूर्व त्रिपुटी द्वैत के वर्जन से अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों पुटों (आकारों) के द्वैत का जो अभाव उससे भूमा है अर्थात् देश काल वस्तु के परिच्छेद से शून्य परमात्मा है, अब उसी द्वैत के वर्जन को कहते हैं कि ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूप जो त्रिपुटी है वह प्रलयकाल में नहीं होती यह संपूर्ण वेदांतो का संमत (निश्चय) है। भावार्थ यह है कि भूतों की उत्पत्ति से पहले त्रिपुटीरूप द्वैत के अभाव से केवल भूमा (ब्रह्म) ही हुआ क्योंकि प्रलयकाल में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी नहीं होती, यह सब वेदांतो का सिद्धांत है।।१४।।

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ।।
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितःपुराः ।।१५।।

अब ज्ञाता आदि के स्वरूप को दिखाते हैं कि परमात्मा से उत्पन्न जो बुद्धि, वह है उपाधि जिसकी ऐसा जीव वह विज्ञानमय ज्ञाता है और मन में प्रतिबिंबित मनोमय चैतन्य वह ज्ञान है और शब्द स्पर्श आदि ज्ञेय प्रसिद्ध ही हैं ये ज्ञाता, ज्ञान,.ज्ञेय, तीनों कार्य होने से उत्पत्ति से पहले कारण से भिन्नरूप से नहीं हैं।।१५।।

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ।।१६।।

अब फलित को कहते हैं कि ज्ञाता आदि तीनों के अभाव में द्वैत से रहित पूर्ण ही जैसे समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छाओं में प्रतीत होता है वैसे ही सृष्टि से पहले भी ज्ञाता आदि त्रिपुटी के अभाव से पूर्ण ही प्रतीत होता है अर्थात् सुषुप्ति, मूर्च्छा से उठे मनुष्य को जो द्वैत का स्मरण होता है वह द्वैतरहित अनुभवकर्त्ता (ज्ञाता) के बिना नहीं हो सकता इससे ज्ञाता की सिद्धि है वही पूर्णरूप भूमा है।।१६।।

---

* यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ।

योभूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ।।
सनत्कुमारः प्राहैव नारदायातिशोकिने ।।१७।।

ब्रह्म पूर्णरूप रहे आनंदरूप क्यों मानते हो यह शंका करके अन्वयव्यतिरेकों से भूमा को जिससे सुखरूपता प्रतीत हो इस* वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि 'जो भूमा (बड़ा) है वह सुखरूप है और देश काल वस्तु तीन प्रकार का जिसमें भेद है उस अल्प में सुख नहीं है' क्योंकि अद्वैत में ही दुःख के हेतुओं का अभाव है इस प्रकार अत्यंतशोक से युक्त नारदमुनि के प्रति सनत्कुमार ने कहा है।।१७।।

सपुराणान् पंचवेदाञ्ज शास्त्राणि विविधानि च ।।
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ।।१८।।

अब उस नारद के अत्यन्त शोक होने में हेतु कहते हैं कि उन नारदमुनि ने पुराणों सहित पांचों वेद और अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानकर भी आत्मज्ञानी न होने से अत्यन्त शोच किया।।१८।।

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता ।।१९।।

कदाचित् कहो कि वेदशास्त्र का ज्ञान तो शोक का निवर्तक प्रसिद्ध है वह अत्यन्त शोक का हेतु कैसे हो संकता है, सो ठीक नहीं क्योंकि वेद के अभ्यास से पहले तो आध्यात्मिक आदि तीनों तापों का ही दुःख था और वेदाभ्यास के अनंतर तो पठित वेद का अभ्यास करना और विस्मरण (भूलना) और अपने से अधिक से भंग (तिरस्कार) गर्व अर्थात् अपने से न्यून को देखकर अपने को अधिक समझना इन कारणों से नारद को शोक हुआ।।१९।।

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ।।२०।।

कदाचित् कहो कि इस प्रकार सर्वज्ञ भी नारद को क्यों शोक हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि हे भगवन् ! सो मैं शोच करता हूं इस मुझे शोक से पार करो' इस** नारद के वचन से ही नारद का शोक प्रतीत होता है। इस प्रकार जब शोकनिवृत्ति का उपाय नारद मुनि ने पूछा तब सनत्कुमार ऋषि ने भूमा शब्द का अर्थ जो सुखरूप ब्रह्म वही शोक का पार कहा अर्थात् सुख को ही जानने योग्य वर्णन किया। भावार्थ

---

* यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । ** सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु ।

यह है कि 'हे भगवन् ! सो मैं शोच करता हूं, इस संसार में मुझे शोक से पार करो' इस प्रकार पूछा है कि जिनको ऐसे सनत्कुमार ऋषि नारदमुनि के प्रति सुख को ही शोक का पार कहते हुए।।२०।।

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।।
दुःखमेवेति मत्वाऽऽह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ।।२१।।

कदाचित् कहो कि स्रक् (माला) आदि से पैदा हुआ सुख बहुत होने पर अल्प में सुख नहीं यह नहीं बन सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि विषयों का जो सुख है वह सहस्रों शोकों से युक्त है इससे विष मिले अन्न के समान अनेक दुःखरूप है यह मानकर सनत्कुमार ने 'अल्प में सुख नहीं' ऐसे कहा।।२१।।

ननु द्वैते सुखं माभूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ।।२२।।

अब द्वैत के विषे सुख के अभाव को मानकर अद्वैत में भी सुख नहीं यह शंका करते हैं कि द्वैत में तो सुख न हो परंतु अद्वैत में भी सुख नहीं है क्योंकि यदि सुख होता तो विषयों के सुखतुल्ल प्रतीत होता जिससे प्रतीत नहीं होता इससे नहीं है कदाचित् सुख की उपलब्धि मानेंगे तो ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैत में सुख मानोगे तो त्रिपुटी हो जायगी अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के बिना सुख नहीं हुआ करता है और तीनों को मानोगे तो अद्वैत की हानि हो जायगी। भावार्थ यह है कि द्वैत में सुख नहीं है तो मत हो अद्वैत में भी सुख नहीं है यदि होता तो प्रतीत होता और मानोगे तो त्रिपुटी हो जायगी।।२२।।

मास्त्वद्वैते सुखं किंतु सुखमद्वैतमेव हि ।।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ।।२३।।

अब सिद्धांत अद्वैत में सुख के अभाव को अंगीकार करते हैं कि अद्वैत में सुख मत हो किन्तु अद्वैत सुखरूप ही है कदाचित् कहो कि 'अद्वैत सुखरूप है' इसमें क्या प्रमाण है इस पर कहते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि स्वप्रकाशरूप होने से उसमें प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।।२३।।

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ।।२४।।

स्वप्रकाश में क्या प्रमाण है यह शंका करोगे तो आपके ही वचन को प्रमाण कहते हैं कि अद्वैत के स्वप्रकाश होने में आपका वचन ही प्रमाण इससे है जिससे आप इस

अद्वैत को स्वीकार करके भी इसमे सुख नहीं है इसको कहते हो अर्थात् अद्वैत को मानकर सुखके अभाव की ही शंका करते हो इमसे वह स्वप्रकाशरूप है।।२४।।

नाभ्युपैस्यहमद्वैतं तद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततः पुरा ।।२५।।

कदाचित् कहो कि मैं अद्वैत को नहीं मानता किन्तु आपके माने अद्वैत का अनुवाद करके दूषण देता हूं इससे स्वप्रकाश की सिद्धि न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि यदि तू ऐसा कहता है तो कह द्वैत से पूर्व क्या था ? ।।२५।।

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरंतिमः ।।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ।।२६।।

किम् शब्द से सूचित किये विकल्प को दिखाते हैं कि द्वैत से पूर्व अद्वैत था वा द्वैत वा अन्य कोई तीसरा था ? इन तीनों में तो तीसरा तो अप्रसिद्ध है अर्थात् द्वैत और अद्वैत से विलक्षणरूप तीसरा लोक में नहीं देखते हैं और द्वैत से पूर्व द्वैत पैदा ही नहीं हो सकता इससे दूसरे पक्ष को भी नहीं कह सकते इससे प्रथम पक्ष (अद्वैत) ही शेष रहता है इससे आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि द्वैत से पूर्व अद्वैत था।।२६।।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यव नानुभूत्येति चेद्वद ।।
निर्दृष्टांता सदृष्टांता वा कोटचंतरमत्र नो ।।२७।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीति से युक्ति के द्वारा अद्वैत सिद्ध होता है अनुभव (ज्ञान) से नहीं हो सकता सो ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैत की सिद्धि युक्ति से है अनुभव से नहीं, ऐसा कहोगे तो जिस युक्ति से अद्वैत की सिद्धि है वह युक्ति दृष्टांत रहित है वा दृष्टांतसहित है और तीसरी कोटि इसमें नहीं हो सकती अर्थात् ये दो विकल्प ही हो सकते हैं।।२७।।

नानुभूतिर्न दृष्टांत इति युक्तिस्तु शोभते ।।
सदृष्टांतत्वपक्षे तु दृष्टांतं वद मे मतम् ।।२८।।

पूर्वोक्त विकल्प में प्रथम पक्ष का हँसी से निराकरण मानते हैं कि यह युक्ति तुम्हारी शोभा को प्राप्त होती है कि न अनुभव है, न दृष्टांत है अर्थात् अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही की, यह कहते हुए आपने अनुभव को तो माना नहीं और दृष्टांत बिना युक्ति कुछ भी सिद्ध न कर सकेगी इससे दृष्टांत नहीं है यह कहना आपका अयोग्य है और दृष्टांत को मानता है तो दोनों वादियों को जो संमत हो उस दृष्टांत को कहो।।२८।।

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलंभेन सुप्तिवत् ।।
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टांतमीरय ।।२९।।

अब पूर्ववादी यह शंका करता है कि दृष्टांत से ही अद्वैत को सिद्ध करें कि प्रलय अद्वैत होने योग्य है द्वैत की अनुपलब्धि से जो जो द्वैत की अनुपलब्धिमान् है वह द्वैतरहित होता है जैसे स्वाप (सोना) ऐसा कहते हो तो सुप्ति अद्वैत है इसमें दृष्टांत कहो अपनी सुप्ति है वा अन्य की, अपनी तो इससे नहीं कह सकते कि वह अन्य को प्रतीत नहीं हो सकती उसके लिये अन्य दृष्टांत देना पड़ेगा।।२९।।

दृष्टांतः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।।
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ।।३०।।

अब दूसरे पक्ष में शंका करते हैं कि यदि तू पर की सुषुप्ति को दृष्टांत कहता है तो तेरी बड़ी कुशलता है अर्थात् अप्रसिद्ध परसुप्ति को तू दृष्टांत नहीं कह सकता, क्योंकि जो आप सुप्ति को अनुभव से जानने योग्य न मानकर अपनी ही सुषुप्ति को नहीं मानते उन आपको परसुप्ति में क्या कथा है अर्थात् परसुप्ति का ज्ञान होता है, इसमें क्या कहना है अर्थात् नहीं होता है।।३०।।

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ।।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ।।३१।।

अनुमान से परसुप्ति को सिद्धि के लिये शंका करते हैं कि जैसे चेष्टारहित होने से अन्य मनुष्य सुप्त हैं ऐसे ही मैं भी सुप्त हूं, यहां यह अनुमान है कि विवाद का आश्रय अन्य सुप्त है प्राणों से युक्त होकर चेष्टारहित होने से मेरे समान ऐसे पूर्वोक्त अनुमान से सुप्ति को सिद्ध करोगे तो मेरे प्रति सुषुप्ति के उदाहरण (दृष्टांत) माननेवाले आपके मत में बल से अर्थात् सुषुप्ति के उदाहरण देने से स्वप्रभत्व (स्वप्रकाशरूप) सुषुप्ति सिद्ध हो जायगी।।३१।।

नेंद्रियाणि न दृष्टांतस्तथाऽप्यंगीकरोषि ताम् ।।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ।।३२।।

अब बल से स्वप्रकाशसिद्धि को ही दिखाते हैं कि न तो उस समय सुषुप्ति की ग्राहक इंद्रियां हैं क्योंकि वे अपने कारण में लीन हो चुकीं और परसुप्ति के अप्रसिद्ध होने से कोई संप्रतिपन्न ((उत्तम) दृष्टांत भी नहीं है तो भी उस सुषुप्ति को आप मानते हो तो यही ज्ञान के साधनों बिना जो भान है वही सुषुप्ति को स्वप्रकाशरूप सिद्ध करता है। यहां यह अनुमान है कि विवाद का आश्रय सुषुप्ति स्वप्रकाश है, ज्ञानसाधनों के बिना भी प्रकाशमान होने से जैसे सांख्य का माना आत्मा और

प्राभाकरोंका माना संवेदन (ज्ञान) और शाक्यों का माना आत्मा स्वप्रकाशरूप है। भावार्थ यह है कि इंद्रिय और दृष्टांतो के न होने पर भी उस सुषुप्ति को तू अंगीकार करता है इससे यही उसको स्वयंप्रकाश मानता है कि साधनों के बिना पदार्थ का भान होना।।३२।।

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।।
श्रृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ।।३३।।

इस प्रकार प्रलय के दृष्टांतरूप से कही हुई सुषुप्ति को अद्वैत और स्वयंप्रकाशरूप सिद्ध करके सुषुप्ति में सुख की सिद्धि के लिये पूर्व पक्षी की आकांक्षा को कहते हैं कि सुषुप्ति अद्वैत स्वयंप्रकाश रहे परंतु यह कहो कि सुषुप्ति में सुख कैसे हैं? तो इसका उत्तर सुनो सुषुप्ति में सुख का विरोधी दुःख नहीं है इससे तेरे मन में ही सुख शेष रह जायगा अर्थात् प्रकाश और अंधकार के समान परस्पर विरोध होने से दुःख के अभाव में सुख ही मानना पड़ेगा।।३३।।

अधः सन्नप्यनंधः स्याद्विद्धोविद्धोऽथ रोग्यपि ।।
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ।।३४।।

अब सुषुप्ति में दुःख के अभाव में श्रुति और अनुभव प्रमाण देते हैं कि जिससे इस जगत्रूप सेतु को तरकर अंध भी अंध नहीं रहता, बाणों से बिंधा भी बिंधा नहीं रहता, रोगी भी रोगरहित हो जाता है इससे हे भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंध है तो भी अनंध हो जाता है, यह श्रुति* देह के अभिमान से पैदा हुए अंध आदि दोषों का सुषुप्ति में निषेध करती है और व्याधि आदि से पीड़ित मनुष्य को भी सुषुप्ति में व्याधि के दुःख का अनुभव नहीं होता है यह सब जनों में प्रसिद्ध है। भावार्थ यह है कि अंध, अनंध, विद्ध, अविद्ध और रोगी अरोगी हो जाते हैं, यह श्रुति कहती है और वह सब जन जानते हैं।।३४।।

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ।।३५।।

कदाचित् कहो कि जहां दुःख का अभाव हो वहां सुख कहोगे तों लोष्ट शिला आदि में सुख हो जायगा इससे केवल दुःख के अभाव से सुख की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि लोष्ट शिला आदि में तो सुख दुःख दोनों का अभाव देखते हैं इससे

*** तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽधः सन्ननंधो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवति, उपतापी सन्ननुपतापी भवति, तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमंधं भवत्यनंधः स भवति ।**

आपका वचन विषम है अर्थात् दृष्टांत दार्ष्टांतिक का अनुसारी नहीं है।।३५।।

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ।।३६।।

अब दृष्टांत की अनुकूलता के अभाव का ही प्रतिपादन करते हैं कि अन्य मनुष्यों के सुख और दुःख का ऊहन (ज्ञान) मुख की कांति और दीनता से कर लेते हैं अर्थात् यह सुखी है प्रसन्न मन होने से संप्रतिपन्न के समान यह दुःखी है, उदासीन मुख होने से संप्रतिपन्न के समान इस प्रकार अनुमान से अन्य के सुख दुःख जाने जाते हैं और लोष्ट शिला आदि में दीनता आदि के अभाव से सुख और दुःख का ऊहन नहीं कर सकते हैं, इससें वहां दुःख के अभाव का भी निश्चय नहीं कर सकते।।३६।।

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ।।३७।।

अब पराये सुखदुःखों से अपने सुखदुःखों की विषमता दिखाते हैं कि अपने सुखदुःखों के तो अनुमान करने को आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे अनुभव से जाने जाते हैं और जैसे जिस प्रकार उन सुख दुःखों का भाव (होना) अनुभव से ही जाना जांता है वैसे ही उन सुख दुःखों का अभाव भी अन्य जो अनुमान आदि हैं उनसे नहीं जाना जाता किंतु प्रत्यक्ष से ही जाना है।।३७।।

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ।।
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ।।६८।।

अब फलित का वर्णन करते हैं कि वैसा होने पर अर्थात् अपने सुख आदि का ज्ञान अनुभव से होने पर अपनी सुषुप्ति में विद्यमान जो दुःख का अभाव है वह भी अनुभव से ही सिद्ध है इससे अपने विरोधी दुःख से रहित होने से निर्विघ्न सुख को सुषुप्ति में मानो।।३८।।

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ।।३९।।

शय्या आदि साधनों की अन्यथा अनुपपत्ति से भी सुषुप्ति में सुख को दिखाते हैं कि यदि सुषुप्ति मे सुख न होता तो बड़े प्रयास से अर्थात् द्रव्य का व्यव शरीर पीड़ा आदि से कोमलशय्या मंच आदि का संपादन (संचय) जो सुख का साधन है उसको क्यों करते हो ? इससे प्रतीत होता है कि सूषुप्ति में सूख है।।३९।।

दुःखनाशर्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ।।४०।।

अब अर्थापत्ति की अन्यथा उत्पत्ति की शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि दुःख के नाश के लिये ही कोमलशय्या आदि का संपादन है सो ठीक नहीं क्योंकि रोग आदि दुःख की निवृत्ति के लिये जो रोगी मनुष्य के अर्थ शय्या आदि का संपादन है वह दुःखनिवृत्ति के लिये हो तो हो परंतु जो रोगी नहीं है उसका शय्या आदिक जो संपादन है वह तो केवल सुख के लिये ही है यह प्रतीत होता है इससे सुषुप्ति में सुख का निश्चय है।।४०।।

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ।।४१।।

कदाचित् कहो कि सुषुप्ति के सुख की साधनों से उत्पत्ति मानोगे तो आत्मारूप वह सुख न होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि साधनों से जन्य (उत्पन्न) होने से विषयों का सुख हो जायगा यह जो तुम कहते हो सो निद्रा से पहले सुख को कहते हो वा निद्रा के अनंतरकाल के सुख को कहते हो यह विकल्प करके प्रथम को स्वीकार करते हैं कि निद्रा से पूर्व तो शय्या आसन आदि सुख होता ही है।।४१।।

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ।।४२।।

अब दूसरे का खंडन करते हैं कि सुषुप्ति में तो शय्या आदि का अनुसंधान ही नहीं रहता इससे शय्या आदि से उत्पन्न वह सुख नहीं हो सकता अर्थात् उसके पैदा करनेवाला कोई हेतु ही नहीं है। कदाचित् कहो कि यदि निद्रा में जो सुख है वह किसी से उत्पन्न नहीं है तो वह विषयसुख के समान प्रतीत क्यों नहीं होता है सो ठीक नहीं क्योंकि उस समय उसका ज्ञाता सुख में निमग्न (डूबा) है इससे विषयसुख के समान उसका ज्ञान नहीं होता कि प्रथम निद्रा से पूर्वकाल में जीव की बुद्धि शय्या आसन आदि का जो सुख उसके अभिमुख रहती है और पीछे निद्रा के समय में परम् जो आत्मारूप सुख हैं उसमें जीव लीन हो जाता है अर्थात् उसको शय्या आदि का अनुसंधान नहीं रहता है। भावार्थ यह है कि निद्रा में सुख किस हेतु से पैदा हो सकता है अर्थात् कारण के अभाव से नहीं है किंतु निद्रा से पूर्व सुख के अभिमुख जीव निद्रा से परमसुख में लीन हो जाता है।।४२।।

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः शांतो विश्रम्याथ विरोधिनि ।।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ।।४३।।

अब संक्षेप से पूर्वोक्त अर्थ का तीन श्लोकों से विवरण करते हैं कि जाग्रत् अवस्था में किये व्यापारों से श्रांत (थका) जीव कोमल शय्या आदि के विषे विश्राम (शयन) को करके फिर व्यापारों से उत्पन्न हुआ जो विरोधी दुःख है उसकी निवृत्त होने पर स्वस्थचित्त होकर शय्या आदि के विषय पैदा हुए विषयसुख का अनुभव करता है अर्थात् जानता है।।४३।।

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानंदः प्रतिबिंबति ।।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रांतिमाप्नुयात् ।।४४।।

अब विषयसुख के स्वरूप को दिखाते हुए परमसुख में डूबने का निमित्त होने से उसके ज्ञान में भी श्रम को दिखाते हैं कि आत्म के अभिमुख जो बुद्धि की वृत्ति है उसमें आत्मरूप आनंद का प्रतिविंब पड़ा है अर्थात् नहीं प्राप्त हुए विषय के संपादन आदि से दुःख को मानकर उसकी निवृत्ति के लिये मृदु शय्या आदि पर सोते हुए मनुष्य की बुद्धि अंतर्मुख हो जाती है, उस बुद्धि की वृत्ति में अपना स्वरूप जो आनंद उसका प्रतिबिंब इस प्रकार पड़ता है जैसे अपने संमुख दर्पण में अपना पड़ता है, यही विषयानंद कहाता है और उस समय में भी इस विषयानंद का अनुभव करके त्रिपुटी से जीव श्रांति (श्रम) को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय इन तीनों के परिश्रम को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि आत्मा के अभिमुख जो बुद्धि की वृत्ति उसमे अपने आनंद का प्रतिविंब पड़ता है और वहां भी विषयसुख को जानकर जीव त्रिपुटी के परिश्रम को मानता है।।४४।।

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ।।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानंदः स्वयं भवेत् ।।४५।।

फिर उसी परिश्रम को दूर करने के लिये अर्थात् त्रिपुटी से पैदा हुए दुःख की शांति के लिये जीव परमात्मा की तरफ दौड़ता है अर्थात् आनंदरूप ब्रह्म के अभिमुख होता है फिर उस ब्रह्म के संग एकरूप को प्राप्त होकर आप भी वहां (सुषुप्ति में) स्थित होकर ब्रह्मानंद रूप हो जाता है क्योंकि श्रुति* में लिखा है कि 'हे सौम्य ! उस समय सत् (ब्रह्म) के संग संपन्न हो जाता है अर्थात् सत् में मिल जाता है।।४५।।

दृष्टांताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानंदे श्रुतीरिताः ।।४६।।

---

* सता सौम्य तदा संपन्नो भवति ।

इस सुषुप्ति के आनंद में श्रुतियों में कहे शकुनि, श्येन, कुमार, महानृप और महाब्राह्मण ये दृष्टांत हैं अर्थात शकुनि आदिकों ने सुपुप्ति के आनंद को देखा है इससे सुषुप्ति में सुख नहीं है यह मत ठीक नहीं है।।४६।।

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।।
अलब्ध्वा बंधनस्थानं हस्तस्तंभाद्युपाश्रयेत् ।।४७।।

उन दृष्टांतो में प्रथम उस शकुनि (पक्षी) को दो श्लोकों से दिखाते हैं जो इस* छांदोग्य श्रुति में कहा है कि 'जैसे हाथ आदि के मध्य में सूत से बंधा हुआ पक्षी उस उस दिशा में उड़कर और वहां आश्रम को प्राप्त न होकर अपने बंधक का स्थान जो हाथ और स्तंभ आदि हैं उसके ही आश्रय को लेता है, इसी प्रकार हे सौम्य ! यह मन दिशा दिशा में जाकर और वहीं आश्रय को न पाकर अपने बंधन प्राण का ही आश्रय लेता है क्योंकि हे सौम्य ! इस मन का बंधन प्राण है अर्थात् हाथ आदि के विषय का ही आधार को प्राप्त न होकर अपने बंधन के स्तान को ही जिस प्रकार प्राप्त होता है।।४७।।

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्त्ये ।।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रांत्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ।।।४८।।

उसी प्रकार जीव का उपाधिरूप मन भी पुण्य पाप के फलरूप जो सुख दुःख है उनके अनुभव के लिये स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं के विषे वहां वहां भ्रम कर और भोग के दाता कर्म के नाश होने पर अपना उपादानकारण जो अज्ञान है उसमें लीन हो जाता है और मन के लय होने से मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव परमात्मा ही हो जाता है।।४८।।

श्येनो वेगेन नीडैकलंपटः शयितुं व्रजेत् ।।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद्ब्रह्मानंदैकलंपटः ।।४९।।

अब श्येन के दृष्टांत का जिसमें विस्तार से वर्णन है उस बृहदारण्य के वाक्य का संक्षेप से अर्थ कहते हैं कि जैसे इस आकाश** में श्येन वा सुवर्ण (गरुड) पक्षी जहा

* तत्र तावत्स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बंधनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबंधन हि सौम्य मनः । **तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रांतः सहृत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनंदाय धावति यत्र सुप्तो न कंचन काम कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति।

तहां भ्रमकर और थकने के अनंतर अपने पक्षों को सिकोड़कर अपने आलय (घोंसला) के विषे ही आ जाता है इसी प्रकार यह पुरुष भी उस आनंद के लिये दौड़ता है जहां शयन करके किसी भी कामना को नहीं करता और न किसी स्वप्न को देखता है। भावार्थ यह है कि जैसे आकाश में सर्वत्र विचरता हुआ श्येन (बाज) नाम का पक्षी आकाश के गमन में जो श्रम उसके दूर करने के लिये शयन करने के लिये अपने एक नीड़ (घोंसले) का ही अभिलाषी शीघ्र अपने नीड़ में ही गमन करता है वैसे ही मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव एक ब्रह्मानंद का अभिलाषी ही होकर शयन के लिये शीघ्र हृदय आकाश में गमन करता है।।४९।।

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ।।५०।।

अब कुमार*, महाराज, महाब्राह्मण ये तीनों जैसे आनंद की सीमा (अवधि) को प्राप्त होकर शयन करते हैं, ऐसे ही यह जीव भी सुषुप्ति में शयन करता है यह बात बालाकि ब्राह्मण का जो वाक्य है उसके तात्पर्य को कहकर तीन श्लोकों से कहते हैं कि जैसे अत्यंत छोटा बालक अपने कंठ तक स्तनपान कराने के अनंतर कोमल शय्या पर सुलाया वह अपने पराये आदि के ज्ञान से रहित हुआ सुख की पूर्ति होकर टिकता है।।५०।।

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।।
मानुषानंदसीमानं प्राप्यानन्दकमूर्तिभाक् ।।५१।।

और जैसे महाराज चक्रवर्ती राजा निर्मल बुद्धि के न होने पर भी संपूर्ण जो मनुष्यों के आनंद है उनसे युक्त होने से किसी पदार्थ की भी प्रार्थना के अभाव से अर्थात् लौकिक आनंद की अवधि को प्राप्त होकर केवल आनंद मूर्ति होकर टिकता है।।५१।।

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।।
विद्यानंदस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ।।५२।।

और जैसे ब्रह्मज्ञानी महाब्राह्मण अर्थात् प्रत्यक् (जीव) से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात् ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मण मैं कृतार्थ हूं, इस विद्या के आनंद की परम सीमा को अर्थात् जीवन्मुक्ति को प्राप्त होकर परमानन्दरूप ही टिकता है वैसे ही सुप्त

*** स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानंदस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते।**

(सोया) मनुष्य भी आनंदरूप ही टिकता है॥५२॥

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ॥
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

कदाचित् कहो कि ये कुमार आदि तीनों ही दृष्टांत क्यों दिये अन्य भी क्यों न दिये इस शंका के दूर करने के लिये तीनों दृष्टांतो के उदाहरणके तात्पर्य को कहते हैं कि विवेक से शून्य मुग्ध (बालक) जो है वह मुग्धों में और विवेकियों में सार्वभौम और अत्यंत विवेकियों में आनंदरूप ब्रह्म का ज्ञाता सुखी है और इनसे जो अन्य हैं वे सब काल में राग द्वेष आदि से युक्त होने से दुःखी हैं इससे ये ही दृष्टांत दिये हैं॥५३॥

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतः परः ॥
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चांतरम् ॥५४॥

कदाचित् कहो कि ये पूर्वोक्त तीनों सुखी रहें प्रकरण में क्या आया यह शंका करके दृष्टांत के बोधक श्रुति के वाक्य का जो तात्पर्य उसको कहते हैं कि जैसे पूर्वोक्त कुमार आदि तीनों आनन्द के भागी है इसी प्रकार यह सुषुप्ति में स्थित मनुष्य भी एक ब्रह्मानंद में तत्पर (आसक्त) हुआ स्त्री से आलिंगन है* है जिसका ऐसा कामी पुरुष के जैसे बाह्य और भीतर के संग एक भाव को प्राप्त हुआ जीव भी बाह्य और भीतर विषयों के ज्ञान के अभाव से आनंदरूप ही होता है, सोई इस ज्योतिर्ब्राह्मण में कहा है कि जैसे प्यारी स्त्री से संयुक्त मनुष्य बाह्य आभ्यंतर कुछ नहीं जानता इसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा से संयुक्त यह पुरुष भी बाह्य आंतर कुछ नहीं जानता॥५४॥

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं गृहकृत्यं यथांतरम् ॥
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आंतरः ॥५५॥

अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिक दोनों में बाह्य आभ्यंतर शब्द के अर्थो को दिखाते हैं कि जैसे रथ्या (गली) आदि का जो वृत्तांत है वह बाह्य है और घर का जो कृत्य है वह आंतर है इसी प्रकार जागरण बाह्य है और जाग्रत अवस्था की वासना से नाड़ी के मध्य में प्रतीत हुआ जो स्वप्न है वह आंतर है॥५५॥

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ॥
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

*** तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नांतरम् ।**

अब जीव सुप्ति में ब्रह्मानंदरूप टिका है इसमें युक्ति की बोधक इस* श्रुति के तात्पर्य को कहते हैं कि इस सुषुप्ति में पिता भी नहीं रहता अर्थात् अध्यास किये (माने) जो पितृत्व आदि जीव के धर्म हैं उनकी निवृत्ति होने से जीव भाव की भी प्रतीति न होने मे और मैं संसारी हूं, इसके भी अदर्शन से जीव ब्रह्म ही है जीव नहीं है।।५६।।

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ।।५७।।

कदाचित् कहो कि पितृत्व आदि अभिमान के अभाव में भी सुखी है इत्यादि संसार क्यों न हो जाय सो ठीक नहीं क्योंकि संसार का मूल देहाभिमान है उसके अभाव में संसार का भी अभाव मानते हुए आचार्य पूर्वोक्त से अग्रिम इस** वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि पिता आदिक जो अभिमान है वह सुख दुःख का आकर है, उस अभिमान के नाश होने पर यह जीव हृदय के संपूर्ण शोकों को तरता है।।५७।।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृतः ।।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ।।५८।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियों ने मुख से सुख की प्राप्ति नहीं कही, यह शंका करके जिसमें सुख की प्राप्ति कही है ऐसे श्रुतिवाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि सुषुप्ति के समय में जब जाग्रत् आदिरूप प्रपंच का अपनी उपादानरूप तमोगुणी प्रकृति में लय हो जाता है तब उस तमोगुणी प्रकृति से अच्छादित जीव सुखरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है यह अथर्वण वेद की श्रुति का अर्थ है।।५८।।

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।।
इति सुप्ते सुखज्ञाने परामृशति चोत्थितः ।।५९।।

केवल यह बात श्रुतिसिद्ध ही नहीं किंतु सबके अनुभव सिद्ध भी है कि सुषुप्ति से उठा पुरुष यह स्मरण सुषुप्ति के सुख का जो ज्ञान उसको करता है कि इतने काल तक मैं सुख से सोया मैंने कुछ नहीं जाना इससे भी प्रतीत है कि सुषुप्ति में सुख है।।५९।।

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ।।६०।।

---

*अत्र पिताऽभवति । ** तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति ।

कदाचित् कहो कि परामर्श अप्रमाण है तो कैसे उसके बल से सुख की सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि परामर्श अप्रमाण रहे उस परामर्श (स्मरण) का मूल जो अनुभव उसके बल से सुख की सिद्धि को दिखाते हैं कि स्मरण उसी विषय का होता है जिसे विषय का अनुभव हुआ हो अन्यथा नहीं, इससे सुषुप्ति में अनुभव था, यह जाना जाता है, कदाचित् कहो कि सुषुप्ति में मन सहित ज्ञान इंद्रियों की लय होने से कैसे अनुभव सिद्ध होगा, इस शंका में यह विकल्प है कि सुख के अनुभव का साधन नहीं यह कहते हो वा अज्ञान के अनुभव का साधन नहीं यह कहते हो, इन दोनों में प्रथम तो नहीं कह सकते क्योंकि स्वप्रकाश चित्स्वरूप सुख को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है, दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्रकाशरूप सुख के बल से ही उसके आवरण (ढ़कना) करनेवाले अज्ञान की प्रतीति हो जायगी इस अभिप्राय से कहते हैं कि उस स्वप्रकाशरूप सुख के अज्ञान का ज्ञान सुषुप्ति में होता है। भावार्थ यह है कि अनुभव किये पदार्थ का स्मरण हुआ करता है इससे सुषुप्ति में अनुभव है और चित्रूप सुख का भान स्वतः (आप ही) होता है और उस सुख से अज्ञान का ज्ञान होता है॥६०॥

ब्रह्म विज्ञानमानंदमिति वाजसनेयिनः ॥
पठंत्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥६१॥

कदाचित् कहो कि सुषुप्ति का सुख स्वप्रकाश रहे पूर्व जो कहा है कि स्वयं ब्रह्मानंद हो जाता है सो ब्रह्मरूप न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि विज्ञान आनंदरूप ब्रह्म है यह वाजसनेयी कहते हैं इससे स्वप्रकाश सुखरूप ब्रह्म है अन्य नहीं है॥६१॥

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ॥
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥६२॥

कदाचित् कहो कि अनुभव और स्मरण का अधिकरण एक ही होता है अर्थात् जिसको अनुभव होता है उसी को स्मरण होता है इस नियम से मैं सुख से सोया, कुछ ज्ञान न रहा, यह जो सुषुप्ति के सुख और अज्ञान का विज्ञानमय नाम के जीव को स्मरण हुआ है तो उस जीव को ही सुख आदि का अनुभव भी कहना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान का कार्य जो विज्ञान है वह अज्ञान में लीन हो गया इस अभिप्राय से कहते हं कि मैंने कुछ नहीं जाना यह जो प्रातःकाल उठे पुरुष को अज्ञान का स्मरण होता है उससे अनुमान किया जो सुषुप्तिकाल का अज्ञान है उसी अज्ञान में प्रमाता प्रमाणरूप से प्रसिद्ध जो विज्ञान और मनोमय है वे दोनों लीन हो जाते हैं

अर्थात् विज्ञान आदि आकार को छोड़कर अपने कारणरूप (अज्ञान) से स्थित हो जाते हैं इससे विज्ञानोपाधि जो जीव हैं उसको अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि उन विज्ञान और मनोमयोंको जो विलय अवस्था है उसको ही निद्रा कहते हैं, वहीकहा* है कि विज्ञान की जो विरति (अभाव) उसको ही सुषुप्ति कहते हैं। कदाचित् कहो कि निद्रा में लीन हो जाते हैं, ऐसा ही क्यों नहीं कहते हो सो ठीक नहीं क्योंकि उसी निद्रा को बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञान कहते हैं। भावार्थ यह है कि जो अज्ञान हैं उसमें विज्ञान और मनोमय दोनों लीन हो जाते हैं और उन दोनों की विलय अवस्था को निद्रा कहते हैं और वही निद्रा अज्ञान कहाती है।।६२।।

विलीनघृतवत्पश्चात्स्याद्विज्ञानमयोः घनः ।।
विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते ।।६३।।

कदाचित् कहो कि जो विज्ञानमय सुषुप्तिकाल के सुख के अनुभव के समय में न था वह प्रातःकाल जाग्रत् के समय में उसके स्मरण का कर्ता कैसे होगा सो ठीक नहीं कि विलय अवस्था में भी उसके स्वरूप का नाश नहीं होता इससे विलय अवस्थारूप उपाधिवाला जो आनंदमय है उसको तो उक्त सुख का अनुभय होता है और विज्ञानमय नाम की जो सघन (दृढ़) उपाधि है उस उपाधि वाले का स्मरण होता है इससे अनुभव और स्मरण एक में घटते हैं इस अभिप्राय से कहते हैं कि जैसे अग्नि के संयोग आदि से विलीन (द्रव्य वा तपा) घृत पीछे वायु आदि के संबध से घन हो जाता है इसी प्रकार जाग्रत् आदि अवस्थाओं में भोग के दाता कर्मों के नाश होने से निद्रारूप के लय को प्राप्त हुआ अंतःकरण भी फिर प्रातःकाल जागरण के समय भोग के दाता कर्म के वश होकर विज्ञान के आकार से घन हो जाता है इससे विज्ञान है उपाधि जिसकी ऐसा विज्ञानमय आत्मा भी घन होता है और उसका ही जब विलय अवस्था उपाधि होती है तब वही आनंदमय कहलाता है। भावार्थ यह है कि विलीन घृत के समान पीछे से विज्ञानमय घन हो जाता है और विलीन जिसकी अवस्था है उसको आनंदमय कहते हैं।।६३।।

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिंबिता ।।
सैव तद्बिंबसहिता लीनानंदमयस्ततः ।।६४।।

अब विलीन अवस्थावाले को ही आनंदमय कहते हैं इसको ही स्पष्ट करते हैं कि सुषुप्ति को पूर्व ले क्षण में सुख का है प्रतिबिंब जिसमें ऐसी जो बुद्धि की वृत्ति है फिर

---

* विज्ञानविरतिः सुप्तिः ।

वही स्वरूपभूत सुख के प्रतिबिंब से सहित हुई निद्रारूप से विलीन आनंदमय कहाती है।।६४।।

अंतर्मुखो य आनंदमयो ब्रह्मसुखं तदा ।।
भुक्तं चिद्बिंबयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ।।६५।।

इस प्रकार आनंदमय के स्वरूप को दिखाकर उसको ही जागरण के समय में विज्ञानरूप होकर स्मरण होने के लिये उस समय सुख के अनुभव को कहते हैं कि सुख के प्रतिबिंब सहित जो अंतर्मुख, बुद्धि की वृत्ति उससे पैदा हुए संस्कार से युक्त जो अज्ञानोपाधि आनंदमय है, वह सुषुप्ति के समय में अपने स्वरूपभूत ब्रह्मसुख को चिदाभास से युक्त जो अज्ञान से पैदा हुई सुख आदि हैं विषय जिनके ऐसी वृत्ति हैं उन वृत्तियों से अर्थात् सत्त्वगुण के परिणामविशेषों से भोगता है। भावार्थ यह है कि अंतर्मुख जो आनंदमय है वह सुषुप्ति में चिदाभास के प्रतिबिंब से युक्त और अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियों से ब्रह्मसुख को भोगता है।।६५।।

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।।
इति वेदांतसिद्धांतपारगाः प्रवदंति हि ।।६६।।

कदाचित् कहो कि जाग्रत् अवस्था के समान सुषुप्ति में भी मैं सुख को जानता हूं। यह अभिमान क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान की जो वृत्ति हैं वे सूक्ष्म होने से स्पष्ट नही हैं और बुद्धि की जो वृत्ति हैं वे स्पष्ट हैं यह वेदांत के पारगामी आचार्य कहते हैं।।६६।।

मांडूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।।
आनंदमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानंदे च भोग्यता ।।६७।।

अब आनंदमय सूक्ष्म अविद्या की वृत्तियों से ब्रह्मानंद को भोगता है इसमें प्रमाण को कहते हैं कि मांडूक्य और तापनीय आदि की श्रुतियों में यह अत्यंत स्फुट है कि आनंदमय भोक्ता है और ब्रह्मानंद भोग्य है।।६७।।

एकीभूतः सुषुप्तिस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।।
आनंदमय आनंदभूक्चेतोमयवृत्तिभिः ।।६८।।

.अब सुषुप्ति में टिका अर्थात् सुषुप्ति का अभिमानी प्रज्ञानघन के भाव को प्राप्त हुआ आनंदमय (अत्यंत आनन्दरूप) चेतनमुख और एकरूप होकर आनंद को भोगता है इस मांडूक्य* आदिकी श्रुतिके वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं कि एकरूप को प्राप्त हुआ सुषुप्ति में स्थित प्रधानता को प्राप्त हुआ आनंदमय चेतन के प्रतिबिंब से

*सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः।

युक्त वृत्तियों से आनंद का भोक्ता है॥६८॥

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ॥
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतंदुलपिष्टवत् ॥६९॥

अब पूर्वोक्त श्रुति में जो एकीभूत पद है उसके अर्थ को कहते हैं कि जो आत्मा पहले अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें विज्ञानमय* है मुख्य जिनमें ऐसे रूपोसे युक्त रहा वही अब विज्ञान मन आदि उपाधियों के लय (नाश) से एकता को प्राप्त इस प्रकार हो जाता है जैसे अनेक तंडुलों का चूर्ण और इस श्रुति में भी लिखा है कि वह यह आत्मा ब्रह्म है जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, क्षोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय अक्रोधमय है॥६९॥.

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ॥
घनत्वं हिमबिंदूनामुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

अब प्रज्ञानघन शब्द के अर्थ को कहते हैं कि सुषुप्ति से पूर्व जाग्रत् आदि अवस्थाओं में जो प्रज्ञाननाम की बुद्धि की वृत्तियां रही वे ही सुषुप्ति के समय में घट आदि विषयों के अभाव होने से घन होता भया अर्थात् चितरूप के संग ऐसे एकरूप हो गया जैसे उत्तर दिशा (हिमालय) में हिमकी बिंदु घन (कठिन) हो जाती है॥७०॥

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ॥
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥७१॥

अब प्रज्ञानशब्द का जो अर्थ उसके निरूपण के प्रसंग से कुछ कहते हैं कि जो यह वेदांतों में साक्षीरूप कहा प्रज्ञान घन है उसको ही शास्त्र के संस्कार से रहित लौकिक मनुष्य और तार्किक आदि शास्त्रीय मनुष्य दुःखाभाव कहते हैं क्योंकि जितनी दुःख की वृत्ति हैं उन सबका उससे लय हो जाता है॥७१॥

अज्ञानबिंबिता चित्स्यान्मुखमानंदभोजने ॥
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य के चेतोमुख शब्द का अर्थ कहते हैं कि आनंद के भोग में

---

* स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रयः पृथिवीमय आपोमयो वायु मय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः।

अर्थात् सुषुप्तिकाल का जो आनंद उसके स्वाद लेने में अज्ञान में है प्रतिबिंब जिसका ऐसा चैतन्य हेतु है। कदाचित् कहो कि सुषुप्ति में आनन्दमयरूप होकर जीव ब्रह्म सुख को भोगता है तो ब्रह्मसुख को त्यागकर बाहर दुःख के स्थानरूप जागरण में क्यों आता है सो ठीक नहीं क्योंकि पुण्य और पाप के पाश में बंधा हुआ जीव उसी कर्म की प्रेरणा से साक्षात् किये भी ब्रह्मसुख को त्यागकर बाहर ही आता है अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि अज्ञान में प्रतिबिंबित चित् आनन्द के भोग में हेतु है और कर्म के अनुसार भोगे हुए ब्रह्मसुख,को त्यागकर फिर बाहर आ जाता है।।७२।।

कर्म जन्मांतरेऽभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते ।।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ।।७३।।

यह किससे प्रतीत होता है यह शंका करके इस कैवल्यश्रुति* के वाक्यके अर्थ को पढते हैं कि फिर जन्मांतर में जो कर्म किया था उसके योग से फिर बोध (ज्ञान) को प्राप्त होकर सोता है इस प्रकार कैवल्यशाखा में कर्म से उत्पन्न बोध कहा है।।७३।।

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानंदस्य वासना ।।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ।।७४।।

अब इसमें प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्ति में ब्रह्मानंद का अनुभव हुआ था क्योंकि प्रबुद्ध (जगे) मनुष्य की अल्पकालपर्यंत सुषुप्ति में अनुभूत (भोगे) ब्रह्मानंद की वासना (संस्कार) अनुगमन करती है अर्थात् चली जाती है क्योंकि जिस कारण प्रबोध होने पर विषय के अनुभव रहित भी सुखी हुआ चुपचाप बैठा रहता है इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति में ब्रह्मानंद का अनुभव हुआ था।।७४।।

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानंदमेषोऽखिलो जनः ।।७५।।

कदाचित् कहो कि सब काल तूष्णीं क्यों नहीं रहता सो ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त कर्मों के प्रेरे हुए संपूर्ण जन फिर दुःखों की भावना करते हुए शनैः २ ब्रह्मानंद को भूल जाते हैं अर्थात् उनको सब काल ब्रह्मानंद का स्मरण नहीं रहता है।।७५।।

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।।
ब्रह्मानंदे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ७६।।

---

* पुनश्च जन्मांतरेकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।

इससे भी सुषुप्ति के ब्रह्मानंद में विवाद न करना चाहिये कि संपूर्ण मनुष्यों का निद्रा के पूर्व भाग और पश्चात्भाग में ब्रह्मानंद में प्रतिदिन पक्षपात (स्नेह) है क्योंकि निद्रा से पूर्व तो कोमल शय्या आदि का संपादन करते हैं और निद्रा के अंत में ब्रह्मानंद के त्याग में असमर्थ हुए तुष्णी बैठे रहते हैं इससे इस ब्रह्मानंद में कौन विद्वान् विवाद करेगा अर्थात् कोई भी न करेगा।।७६।।

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानंदश्चेद्भाति लौकिकाः ।।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ।।७७।।

कदाचित् कहो कि तूष्णीम् (चुपचाप) बैठे रहने से यदि वह ब्रह्मानंद मिले जो गुरु सेवा से मिलता है तो संपूर्ण लौकिक मनुष्य आलस्य से ही चरितार्थ हो जायंगे, शास्त्र और गुरुसेवा का क्या प्रयोजन है अर्थात् वे वृथा हो जायँगे।।७७।।

बाढं ब्रह्मेति विद्युतश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ।।
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यंतं गंभीरं ब्रह्म वेत्ति कः ।।७८।।

यह बात सत्य है कि यदि वै लौकिक मनुष्य यह जानते हैं कि यह ब्रह्मानंद है तो उतने से ही वे कृतार्थ हैं परन्तु ऐसा कौन पुरुष है—जो गुरु और शास्त्र के बिना उस ब्रह्म को जानता है, अत्यंत गंभीर, अवगाहन करने के अयोग्य, वाणी और मन से अगम्य, सर्वज्ञ, सबके अंतर सबका आत्मा है अर्थात् ऐसे ब्रह्म के ज्ञान में गुरु शास्त्र ही हेतु है अन्य नहीं है।।७८।।

जानाम्यहं त्वदुक्तयाद्य कुतो मे न कृतार्थता ।।
श्रृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ।।७९।।

कदाचित् कहो कि आपके कहे ब्रह्मानंद इस वचन से ब्रह्मानंद के ज्ञाता मुझे कृतार्थतो क्यों नहीं होती सो ठीक नहीं क्योंकि इसमें आपके सदृश (तुल्य) जो कोई अपने को पंडित होने का अभिमानी है उसके वृत्तांत को सुन, उससे ही तू समझ जायगा कि।।७९।।

चतुर्वेदविदे देयमिति श्रृण्वन्नवोचत् ।।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ।।८०।।

अब उसी वृत्तांत को कहते हैं कि चारों वेद के ज्ञाता मनुष्य को गौ आदि दे इस वचन को सुनता हुआ कोई मनुष्य बोला कि वेद चार हैं यह मैं जानता हूं इससे मुझे धन देना चाहिये ऐसे जो कहे उसके समान ही आप भी हैं।।८०।।

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ।।८१।।

कदाचित् कहो कि जो वेद चार हैं यह जानता हूं वह वेदों की संख्या को ही जानता है संपूर्ण वेदों के स्वरूप को नहीं जानता है तो आप भी उस चारों वेदों के ज्ञानी के समान संपूर्ण ब्रह्म को नहीं जानते हैं किन्तु शब्दमात्र को ही जानते हो॥८१॥

अखंडैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ॥
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥८२॥

संख्या से अन्य जैसे वेद का स्वरूप है ऐसा स्वगत आदि भेद से रहित आनंदरूप ब्रह्म में कोई ऐसा अंश नहीं है जिसे न जानने से आप संपूर्ण को अज्ञानी बताते हो इस अभिप्राय से वादी शंका करता है कि अखंड एकरस आनंदरूप और माया और माया के कार्यों से वर्जित ब्रह्म में अशेष (सब) और सशेष (न्यून) बात का क्या अवसर है सो ठीक नहीं॥८२॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ॥
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३॥

ब्रह्मज्ञान में भी अशेषता आदि को दिखाने के लिये जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूं उसके प्रति विकल्प करके पूछते हैं कि क्या आप अखंड एकरस अद्वितीय सच्चिदानंद आदि शब्दों को ही पढ़ते हो अथवा उनके अर्थों को भी जानते हो अर्थात् स्वगत आदि भेदशून्य क्या है इसको भी जानते हो यदि शब्दों को ही पढते हो तो आपको अर्थों का ज्ञान संपादन करने को शेष रहता है॥८३॥

अर्थे व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ॥
स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

दूसरे पक्ष में भी शेष रहने को दिखाते हैं कि यदि व्याकरण और निरुक्त आदि से आपने पूर्वोक्त शब्दों के अर्थ को भी जान लिया है अर्थात् परोक्षज्ञान हो भी गया है तो संशय और विपर्यय आदि के निरासार्थ साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) करना शेष रहता है कदाचित् कहो कि तो कब संपूर्ण ज्ञान होगा तो उसकी अवधि को दिखाते हैं कि जब तक आपकी यह बुद्धि हो कि मैं कृतार्थ हूँ तब तक गुरु की उपासना करो अर्थात् कृतार्थ बुद्धि ही ब्रह्मज्ञान की संपूर्णता है॥८४॥

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ॥
तत्र सर्वत्र विद्धचेतां ब्रह्मानंदस्य वासनाम् ॥८५॥

अब प्रासंगिकको समाप्त करके प्रकरण में आते हैं कि यह शंका समाधान हो परन्तु जिस २ काल में अर्थात् तूष्णीम् आदि के समय में विषयों के ज्ञान बिना सुख

की प्रतीति हो वहाँ वहाँ विषयों से उत्पन्न न होने और सामान्य अहंकार से आवृत (ढका) होने से ब्रह्मानंद की ही वह वासनां जाननी–अर्थात् वही २ ब्रह्मानंद मानना योग्य है।।८५।।

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।।
अंतर्मुखमनोवृत्तावानंदः प्रतिबिंबति ।।८६।।

इस प्रकार ब्रह्मानंद और वासनानंद को दिखाकर तीन प्रकार के आनंद की समाप्ति के लिये आत्मा के अभिमुख बुद्धि की वृत्ति में आनन्द का प्रतिबिंब पड़ता है यह जो पहिले विषयानन्द कह आये हैं उसका ही फिर अनुवाद करते हैं कि स्रक् चन्दन आदि विषयों का लाभ होने पर भी जब २ विषयों की इच्छा का उपराम होता है अर्थात् विषयों में मन नहीं रहता तब २ अंतर्मुख जो मन उसकी वृत्ति में जो अपने आत्मानन्द का प्रतिबिंब पडता है उसको विषयानन्द कहते हैं।।८६।।

ब्रह्मानंदो वासना च प्रतिबिंब इति त्रयम् ।।
अंतरेण जगत्यस्मिन्नानंदो नास्ति कश्चन् ।।८७।।

अब फलितार्थ का वर्णन करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से स्वप्रकाशरूप से सुषुप्ति में भासता हुआ जो ब्रह्मानंद है और तूष्णीं बैठे हुए को घट आदि विषयों के ज्ञान बिना प्रतीत हुआ जो वासनानन्द है और जो वांछित विषयों के लाभ से अन्तर्मुख मन में प्रतिबिंबित विषयानन्द है इन तीनों आनन्दो से अन्य इस जगत्में कोई आनन्द नहीं है कदाचित् कहो कि पहले इस वचन से ब्रह्मानन्द, विद्यासुख और विषयानन्द यह[1] तीन प्रकार का आनन्द कहा और अब ब्रह्मानन्द वासनानन्द और प्रतिबिंब यह तीन प्रकार का पूर्वोक्त से विलक्षण आनन्द कहते हो इससे पूर्व और उत्तर ग्रंथ का विरोध है और अभ्यास के योग से जितना २ अहंकारका विस्मरण होता है सूक्ष्मदृष्टि से उतने २ ही निजानन्द का अनुमान होता है और ब्रह्म में तत्पर मनुष्य उदासीन काल में भी आनन्दवासना की उपेक्षा करके मुख्यानंद की भावना करता है इन[2] दो वचनों से पूर्वोक्त दोनों प्रकार से भिन्न निजानन्द और मुख्यानन्द दो आनन्द कहे हैं वैसे ही दूसरे अध्याय में मन्दबुद्धि जिज्ञासु को आत्मानंद से बोध करावे इस[3] वचन से आत्मानन्द भी पूर्वोक्त से अन्य कहा है और जो पहिले योगानन्द कहा है इस वचन

---

१ आनंदस्त्रिविधाब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा। विषयानंदः।। २ यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोऽनुमीयते। तादृक् पुमानुदासीनकालेऽप्यानंदवासनाम्। उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः । ३ मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत्।

में योगानन्द[१] भी प्रतीत होता है और ब्रह्मानंद[२] नामके ग्रंथ में तीसरे अध्याय में जो कहा है वह अद्वैतानन्द है इस वचन में अद्वैतानन्द को भी देखते हैं इससे यह तुम्हारा कथन विरुद्ध है कि इन तीनों से अन्य जगत् में कोई आनन्द नहीं सो यह शंका तुम्हारी ठीक नहीं क्योंकि विद्यानन्द का विषयानन्द के विषय अंतर्भाव इससे कहेंगे कि वह विषयानन्द के समान अंतःकरण की वृत्तिरूप[३] है और निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द, अद्वैतानन्द, ये पांचों ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं है यही दिखाते हैं कि जैसे २ अहंकार का विस्मरण होता है इस पूर्वोक्त श्लोक में योगलक्षण रूप उपाय से योगानन्द रूप से विवक्षित जो अर्थात् कहा जो निजानन्द है वही इस[४] उत्तर के श्लोकमें ब्रह्मानंद कहा है कि जब द्वैत का भान न हो और न निद्रा हो वहाँ जो सुख है वही ब्रह्मानन्द है यह भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है इससे निजानन्द ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं है इसी प्रकार मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्दरूप ही है क्योंकि विषयानन्द और वासनानन्द इन दोनों का जनक स्वप्रकाशरूप ब्रह्मानन्द है इस[५] वचन में गौण जो विषयानंद वासनानंद हैं उनका जनक जो ब्रह्मानंद कहा है वही (तादृक् पुमान्०) इस पूर्वोक्त श्लोक में मुख्यानन्द कहा है आत्मानंद और अद्वैतानंद को तो ब्रह्मानन्दरूप इससे समझना कि जो पहले योगानंद कहा है उसको आत्मानंद मानो यह तो तीसरे और पहले अध्याय में योगानंदरूप कहने को इष्ट ब्रह्मानंद है उसको ही योगानंद शब्द से अनुवादपूर्वक आत्मानंद कहकर फिर द्वैतसहित यह ब्रह्म कैसे हो सकता है यह प्रश्न करके और आकाश से शरीरपर्यंत को ब्रह्म कहा है इससे आत्मानंद और अद्वैतानंद ये दोनों ब्रह्मानंदरूप हैं यह पूर्वोक्त ठीक है इससे ब्रह्मानंद वासनानंद विषयानन्द ये तीन ही आनंद जो कहे हैं वे ठीक हैं कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद और वासनानन्द से भी अन्य निजानंद को योगी जानो इस[६] वचन में ब्रह्मानंद वासनानन्द से भिन्न निजानंद का दिखाना ठीक न होगा सो ठीक नहीं कि एक ब्रह्मानंद ही जगत्कारणरूप उपाधि से सहित और रहित होने से वही भिन्न हो सकता है सोई दिखाते हैं कि ब्रह्मानंद के निरूपण समय में आनन्द से ही ये भूत पैदा होते हैं यह[७] कहकर ब्रह्मानंद को जो जगत् का कारण

१–योगानंदःपुरोक्तो यः। २–ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयाध्याय ईरितः । अद्वैतानन्द एव स्यात्। ३–विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः। ४–न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्। स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति। ५–तथा च विषयानंदो वासनानन्द इत्यम्। आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ६–नन्वेवं वासनानंदात् ब्रह्मानंदादपीतरम्। वेत्तु योगी निजानंदम् । ७–आनंदाद्धयेवेमानि भूतानि जायंते।

नहीं हो सकता और निजानंदरूप के समय में भी जितना २ अहकार अभ्यास के योग से नष्ट होता है उतना २ ही सूक्ष्मदृष्टि को निजानंद का अनुमान होता है इत्यादि ग्रंथ से कारणसहित अहंकार का लय कहा है इससे निजानंद मायारहित है इससे सब निर्दोष है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मानंद और वासनान्द विषयानन्द इन तीनों आनंदों के विना इस जगत् में अन्य कोई आनन्द नहीं हैं।।८७।।

तथा च विषयानंदो वासनानंद इत्यमू ।।
आनदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंदः स्वयंप्रभः ।।८८।।

कदाचित् कहो कि इस अध्याय में ब्रह्मानंद के विवेक का प्रकरण है अन्य आनंदों का जो वर्णन है वह प्रकरणविरुद्ध है सो ठीक नहीं, क्योंकि विषयानंद और वासनानंद ये दोनों ब्रह्मानंद से पैदा होते हैं इससे ब्रह्मानंद ज्ञान के उपयोगी होने से प्रकरण की असंगति नहीं है इस अभिप्राय से कहते हैं इस प्रकार आनंद के तीन भेद होने से जो स्वप्रकाशरूप आनन्द है वह विषयानन्द और वासनानंद को पैदा करता है और वही ब्रह्मानंद जानना।।८८।।

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।।
ब्रह्मानंदे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ।।८९।।

अब वृत्तांत के कथनपूर्वक अगले ग्रन्थ के वर्णन के तात्पर्य को कहते हैं कि 'सुषुप्ति के समय संपूर्ण जगत् का लय होने पर अज्ञान से आवृत जीव सुखरूप को प्राप्त होता है' इस पूर्वोक्त श्रुति* से और 'मैं सुख से सोया' इस स्मरण** की अन्यथा असिद्धि से जो मानी युक्ति उससे और पूर्वोक्त इस अर्थापत्तिरूप युक्ति से कल्पना किये अनुभव से अर्थात् श्रुति युक्ति और ज्ञान से सुषुप्ति के समय में स्वप्रकाश चेतनरूप ब्रह्मानंद की सिद्धि होने पर अब इसके अनंतर जाग्रत् आदि अन्य कालों में भी जो ब्रह्मानंद के ज्ञान का उपाय है उसको तुम सुनो।।८९।।

य आनंदमयः सुप्तौ सविज्ञानमयात्मताम् ।।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ।।९०।।

अब प्रतिज्ञा किये ब्रह्मानंदज्ञान का उपाय दिखाने के लिये उसकी सिद्धि की साधक जीव की दोनों अवस्थाओं को प्राप्ति और उसके कारण को दिखाते हैं कि सुषुप्ति के समय विलीन है अवस्था जिसकी ऐसा आनंदमय शब्द का अर्थ है इस वचन*** से जो आनंदमय कहा है वह विज्ञान (बुद्धि) रूप उपाधिवाला होने से

---

* सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति। ** सुखमहमस्वाप्सम्। *** विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते।

विज्ञानमय रूप को प्राप्त होकर आगे वर्णन कें योग्य स्थानों के योग से अपने कर्मानुसार स्वप्न और जागरण को प्राप्त होता है॥९०॥

नेत्रे जागरणं कंठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदंबुजे ॥
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥९१॥

अब जाग्रत् आदि अवस्था के उपयोगी स्थानों को दिखाते हैं कि नेत्रों में जागरण और कण्ठ में स्वप्न और हृदयरूप कमल में सुषुप्ति होती है और चरण से मस्तकपर्यंत देह में व्यापक होकर चेतन (जीव) जागता है इस श्लोक में नेत्र शब्द संपूर्ण देह का उपलक्षण है॥९१॥

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्ताय: पिंडवत्ततः ॥
अहं मनुष्यं इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥९२॥

अब दृष्टांत को दिखाकर देह की व्यापकता स्पष्ट करते हैं कि देह के संग तपाये हुए लोह के पिंड के तुल्य तादात्म्य (एकरूप) को प्राप्त हुआ जीव जिससे मनुष्यत्व आदि जातिवाले देह के संग तादात्म्य को प्राप्त हुआ है इससे मैं मनुष्य हूं यह निस्सन्देह जानकर टिकता है अर्थात् अपने को मनुष्य मान लेता है॥९२॥

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ॥
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥९३॥

अब देह में तादात्म्य के अभिमान से ही अन्य अवस्थाओं को दिखाते हैं कि फिर यह जीव मैं उदासीन हूं सुखी और दुःखी हूं इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उन तीनों में सुख और दुःख अपने किये कर्म के कार्य हैं अर्थात् अपने कर्म से सुखी और दुःखी होता है और उदासीनता स्वभाव से होती है अर्थात् कर्म से जन्य नहीं है॥९३॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ॥
सुखदुःखांतरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥९४॥

अब निमित्त के भेद से सुख दुःख के दो भेद कहते हैं कि वाह्य (विषय) भोग से और मनोराज्य से सुख दुःख दो प्रकार के माने हैं और सुख दुःख के मध्य २ में तूष्णी स्थिति (उदासीनता) होती है॥९४॥

न कापि चिंता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ॥
औदासीन्ये निजानंदभानं वक्तयखिलो जनः ॥९५॥

जिस लिये जाग्रत् आदि अवस्थाओं का वर्णन किया उसको अब दिखाते हैं कि संपूर्ण मनुष्य उदासीनता में यह कहते हैं कि 'अब हमें घर आदि की कुछ चिंता नहीं

है हम सुख से स्थित हैं,' यही निजानन्द है अर्थात् उदासीनता के समय में जो निजानन्द का कथन है अर्थात् स्वरूपानंद की स्फूर्ति है उससे प्रतीत है कि जागरण अवस्था में भी निजानन्द का भान मानना योग्य है।।९५।।

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ।।
निजानंदो न मुख्योऽयं किं त्वसौ तस्य वासना ।।९६।।

कदाचित् कहो कि उदासीनता के समय प्रकाशमान को निजानन्द मानोगे तो वह ब्रह्मानंद ही हुआ तो पहले जो वही वासनानंद कहा है वह ठीक न होगा यह शंका करके समाधान देते हैं कि सामान्य अहंकार से आच्छादित होने से वह ब्रह्मानंद नहीं हो सकता क्योंकि मैं हूं इस सामान्य अहंकार से आच्छादित है इससे वह निजानन्द मुख्य (ब्रह्मानन्द) नहीं है किन्तु यह ब्रह्मानंद की वासना (संस्कार) हैं क्योंकि मैं हूं इस ज्ञान में मैं देवदत्त हूँ इसके समान देवदत्त आदि विशेषरूप से अहंकार नहीं भासता।।९६।।

नीरपूरितभांडस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।।
किंतु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ।।९७।।

अब मुख्यानंद से अन्य वासनानंद में दृष्टांत देते हैं कि जल से पूर्ण घट के बाह्यभाग के स्पर्श से जो शीतता प्रतीत होती है वह जल नहीं है क्योंकि वह द्रव नहीं है किंतु जल का गुण है इससे जल की सत्ता का अनुमान होता है कि विवाद का स्थान जो घटमें शीत है वह जलसे उत्पन्न होने योग्य है शीत होने से जलमें प्रतीत शीत के समान।।९७।।

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोऽनुमीयते ।।९८।।

कदाचित् कहो कि शीत से नीर का अनुमान रहे प्रकरण में क्या आया? यह आशंका करके इसी प्रकार वासनानंद से भी मुख्यानंद का अनुमान दिखाते हैं कि अभ्यास के योग से महान् आत्मा में ज्ञान को रोके और उसको शांत आत्मा में रोके इस* श्रुति में कहे निरोध समाधि के करने के अनन्तर जितनी २ अहंकार आदि जो चित्त की वृत्ति है उनके लय के वश चित्त की सूक्ष्मता होती है उतनी २ ही निजानंद की प्रकटता होती है यहां अनुमान है कि अहंकार से संकोच से युक्त जो द्वितीय आदि क्षण हैं वे पहले २ क्षणोंसे अधिक आनंदवाले हैं, अहंकार के संकोच विशेष से युक्त

* अभ्यासयोगतो ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि।

कालरूप होने सें अहंकार के संकोच से युक्त प्रथम क्षण के समान। भावार्थ यह है कि अभ्यास के योग से जितना २ अहंकार का विस्मरण होता है उतना २ ही सूक्ष्मदृष्टि से निजानंद का अनुमान होता है।।९८।।

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ।।९९।।

अब बुद्धि की सूक्ष्मता का अवधि जो साक्षात्कार उसको दिखाते हैं कि सर्वात्मा से (पूरा) हुआ है विस्मरण जिसका ऐसा अहंकार परम (अत्यन्त) सूक्ष्म भाव को प्राप्त हो जाता है कदाचित् कहो कि वह निद्रा ही है सो ठीक नहीं किन्तु संपूर्ण वृत्तियों का विलय होने पर भी अंतःकरण के लय न होने से यह* निद्रा नहीं है क्योंकि 'कारण रूप से बुद्धि की जो स्थिति उसको सुषुप्ति कहते हैं' यह आचार्यों ने कहा है। अब अंतःकरणस्वरूप के लय के अभाव में प्रमाण कहते हैं कि जहां सुषुप्ति आदि में अहंकार का लय होता है वहां देह का पात देखा है और यहां तो अहंकार का लय इससे नहीं है कि देह का पात नहीं होता है। भावार्थ यह है कि सर्वथा विस्मरण किया अहंकार परम सूक्ष्म हो जाता है और अहंकार के लीन न होने से यह निद्रा नहीं है और इससे देह भी नहीं गिरता है।।९९।।

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ।।
स ब्रह्मानंद इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ।।१००।।

अब फलित को कहते हैं कि जिस काल में न द्वैत भासे और निद्रा आती हो उस काल में प्रतीत होता तो सुख है वह ब्रह्मानंद है यह भगवान् ने गीता के छठे अध्याय में अर्जुन के प्रति कहा है अर्थात् भगवान् के कथन से ही उसको ब्रह्मानंद जानना।।१००।।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ।।१।।

अब जिन श्लोकों से भगवान् ने वर्णन किया है उन श्लोकों के अर्थ को ही क्रम से पढ़ते हैं कि धीरता से युक्त जो बुद्धिरूप कारण उसमें शनैः शनैः मन का उपराम करे मन के उपराम की अवधि को कहते हैं कि मन को आत्मा में भले प्रकार से स्थित करके अर्थात् 'यह सम्पूर्ण आत्मा ही है उससे अन्य कुछ नहीं है' इस** प्रकार मन की आत्मा में स्थिति को करके किसी की भी चिंता न करे यही योग की परम अवधि है।

---

* बुद्धेःकारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः। ** आत्मैवेदं सर्वं न ततोऽन्यत्किंचिदस्ति।

भावार्थ यह है कि धैर्य से युक्त जो बुद्धि उससे शनैः शनैः उपराम को प्राप्त हो फिर मन को आत्मा में भले प्रकार से स्थित करके किसी का भी चिंतन न करे।।१।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वंश नयेत् ।।२।।

पूर्वोक्त योग के संपादनमें प्रवृत्त (लगा) जो योगी उसके कर्तव्यको कहते हैं कि स्वभाव के दोष से चंचल और इसीसे अस्थिर जो मन है अर्थात् एक विषय में नियम से स्थित नहीं जो मन वह जिस २ शब्द आदि विषयरूप निमित्त से चलायमान हो उस २ विषय के सकाश से उस मनका नियमन (रोकना) करके अर्थात् शब्द आदि विषयों में मिथ्या आदि दोष के देखने से आभासमात्र मानकर और वैराग्य की भावना से इस मन को रोककर आत्मा के ही वश में करे इस प्रकार अभ्यास करते योगी का मन अभ्यास के बल आत्मा में ही शांति को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि चंचल और अस्थिर मन जिस २ विषय से चलायमान हो उस २ विषय से रोककर इस मन को आत्मा के ही वश में करे।।२।।

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्पषम् ।।३।।

मन की शांत के फल को कहते हैं कि शांत है रजोगुण जिसका अर्थात् क्षीण हुआ है मोह आदि रजोगुण जिसका और इसीसे अत्यंत शांत (विक्षेपरहित) है मन जिसका ऐसा जो ब्रह्मरूप अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है इस निश्चय* से जो जीवन्मुक्त है और जो अधर्म आदि से रहित है उस योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है अर्थात् नाश और न्यून अधिक भावरूप दोषों से रहित सुख मिलता है।।३।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।।
यत्र चैवात्मनात्मा पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।४।।

अब संग्रह किये अर्थ का जिनमें विस्तार है उन गीता के श्लोकों को पढ़ते हैं कि जिस काल में योग की सेवा से संपूर्ण विषयों से निवारण किया (रोका) चित्त उपराम को प्राप्त हो और जिस काल में समाधि से अंतःकरण से शुद्ध चैतन्य परमात्मा को देखता हुआ आत्मा में ही संतोष को प्राप्त होता है अर्थात् विषयों से संतुष्ट नहीं होता।।४।।

---

* ब्रह्मैवेवं सर्वम्।

सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥५॥

और जिस काल में आत्मा में स्थित यह योगी आत्यंतिक (अनंत) और बुद्धिग्राह्य अर्थात् जिसके जानने के लिये इन्द्रियों कीअपेक्षा बुद्धि को न हो और जो अतींद्रिय हो अर्थात् इन्द्रियोंसे पैदा न हो और न विषयों से उत्पन्न हो ऐसे सुख को जानता है और आत्मा में स्थित यह योगी जिस काल में तत्त्व से चलायमान न हो अर्थात् आत्मस्वरूप को न भूले॥५॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६॥

और जिस आत्मा के लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य लाभ को न मानें सोई इस स्मृति* में लिखा है और जिस आत्मा के तत्त्व में स्थित हुआ यह गुरु (भारी वा महान्) दुःख से भी चलायमान नहीं होता अर्थात् प्रह्लाद के समान शस्त्र आदि के प्रहार से भयभीत नहीं होता॥६॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥७॥

अब वर्णन किये योग की घटना करते हैं कि दुःख के संयोगों का है वियोग (अभाव) जिसमें ऐसे उसको योग जाने ऐसे योग के अनुष्ठान में रीति को कहते हैं कि निर्वेद से रहित चित्त से उस योग को निश्चय से करे अर्थात् एक रस मन से योगाभ्यास करे॥७॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥८॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को समाप्त करते हैं कि विगत (नष्ट) है पाप (विघ्न) जिसका ऐसा योगी इस पूर्वोक्त प्रकार से सदैव आत्मा का योग (स्मरण) करता हुआ सुख से (बिना श्रम) ऐसे अत्यंत (नाशहीन) सुख को प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्म का स्पर्श भले प्रकार से हो अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है॥८॥

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना ॥
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥९॥

अनिर्वेद से किया योगाभ्यास फलपर्यंत होता है इसका दृष्टांतसहित वर्णन करते हैं कि जैसे कुशा के अग्रभाग से उठाई एक बिंदु से समुद्र का उत्सेक (बाहर से

---

* आत्मलाभान्न परं विद्यते।

सींचना) खेद के बिना होता है अर्थात् कालांतर में सिद्ध होता है इसी प्रकार मन का निग्रह जो बिना श्रम किया जाता है तो कालांतर में सिद्ध होता है अर्थात् कभी न कभी उद्योग की सफलता होती हैं।।९।।

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ।।११०।।

यह बात केवल गीता में नहीं कही किंतु मैत्रायणीय शाखा में भी कही है कि यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा में शाकायन्य नाम मुनि अपने शरण आये बृहद्रथ राजर्षि को समाधि के प्रथम वर्णन के अनुसार ब्रह्मसुख को कहते भये।।११०।।

यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ।।११।।

जिस प्रकार से शाकायन्य ने बृहद्रथराजा के प्रति योग का वर्णन किया उस प्रकार को कहते हैं कि जैसे इंधन से रहित अग्नि अपने कारण तेज में शांत होती है अर्थात् ज्वाला आदि विशेषरूप को त्यागकर तेजरूप से टिकती है उसी प्रकार अंतःकरण भी वृत्तियों के क्षय से अर्थात् समाधि के अभ्यास के द्वारा रजोगुणी संपूर्ण वृत्तियों के नाश से अपने कारण सत्तामात्र में शांत होता है अर्थात् सद्रूप ब्रह्म हो जाता है।।११।।

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यकामिनः ।।
इंद्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ।।१२।।

अब चित्तशांति के फल को कहते हैं कि अपने कारण में शांत और इंद्रिय और शब्द आदि विषयों से विमुख जो सत्यरूप आत्मा का अभिलाषी मन उसके कर्मों के अधीन जो सुख आदि हैं वे सब मिथ्या हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त संपूर्ण जगत् के पदार्थ उसको मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं।।१२।।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ।।१३।।

कदाचित् कहो कि चित्त की शान्ति से जगत् मिथ्या होता है यह नहीं बन सकता क्योंकि जगत् का उपादान चित्त नहीं है सो ठीक नहीं कि यद्यपि स्वरूप से जगत् का चित्त उपादान कारण नहीं तथापि जगत् के भोग भोगने में चित्त ही कारण है यहां ही शब्द से सबके अनुभव प्रमाण समझना कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में चित्त का लय होने से भोग को नहीं देखते जिससे संसार चित्तरूप है इससे चित्त की ही

अभ्यास वैराग्य आदि यत्न से शुद्धि करे अर्थात् रजोगुण तमोगुण से रहित चित्त को एकाग्र करे कदाचित् कहो कि आत्मा के मुक्ति के लिये आत्मा ही शोधन के योग्य है चित्त नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि मर्त्य (देहधारी) का जिस पुत्र आदि के विषे चित्त होता है वह तन्मय हो जाता है क्योंकि पुत्र आदि की पूर्णता और न्यूनता का आत्मा में ही आरोपण है यह बात अनादिसिद्ध है अर्थात् 'स्वभाव से शुद्ध आत्मा को चित्त के संबंध से ही संसार है' इस श्रुति* में भी लिखा है कि आत्मा मानो ध्यान करता है, मानो विलास करता है इससे चित्त की शुद्धि से आत्मा की संसार से निवृत्ति होती है यह सिद्ध हुआ, भावार्थ यह है कि जिससे चित्त ही संसार है इससे धर्म से चित्त को ही शुद्ध करे और मनुष्य का जिसमें चित्त होता है उस रूप को ही प्राप्त हो जाता है यह सदा की गुप्त बात है।।१३।।

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ।।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ।।१४।।

कदाचित् कहो कि अनादि जन्मों की परम्परा में संचित किये सुख और दुःख के दाता पुण्यपापरूप कर्मों के रहते चित्त की शुद्धि से आत्मा की संसार से निवृत्ति कैसे होगी सो ठीक नहीं कि यह बात निश्चय है कि चित्त की प्रसन्नता से अर्थात् प्रसन्न चित्त से ब्रह्म के स्मरण से संपूर्ण शुभ अशुभ कर्म को नष्ट करता है यही इन श्रुति और स्मृतियों में लिखा है जिस प्रकार इषीका का तूल (मूंज का अग्रभाग) अग्नि में रखने से नष्ट होते हैं उसी प्रकार ज्ञानी के सब पाप नष्ट होते हैं और सम्पूर्ण उपपातक** और पातको की निवृत्ति के लिये रात्रि के प्रथम भाग में ब्रह्म का ध्यान करे। अब शुभ अशुभ कर्म के नाश का फल कहते हैं कि प्रसन्न है चित्त जिसका ऐसा मनुष्य अपने स्वरूप अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित होकर अर्थात् वह ब्रह्म ही मैं हूं इस निश्चय से सब जगत् को मिथ्या बुद्धि से त्यागकर और चिन्मात्ररूप से टिककर अविनाशी जो अपनी आत्मरूप सुख है उसको भोगता है भावार्थ यह है कि चित्त की प्रसन्नता से शुभ अशुभ कर्म नष्ट होते हैं और प्रसन्नचित्त मनुष्य अविनाशी सुख को भोगता है।।१४।।

समासक्त यथा चित्तं जंतोर्विषयगोचरे ।।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बंधनात् ।।१५।।

---

* ध्यायतीव लेलायतीव।

** तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रातं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते। उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च। प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत्।

अब पूर्वश्लोक में कही बात को दृष्टांत से दृढ करते हैं कि जैसा प्राणी का चित्त इंद्रियों के जाने की भूमि (विषय) में स्वभाव से भले प्रकार आसक्त होता है यदि वह चित्त उसी प्रकार ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो कौन मनुष्य संसार से मुक्त न हो अर्थात् सभी मुक्त हो जायँ।।१५।।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ।।१६।।

अब पूर्वोक्त की दृढता के लिये मन के अवांतर भेदों को कहते हैं कि शुद्ध और अशुद्ध भेद से मन दो प्रकार का कहा है जिसमें काम क्रोध का संवंध हो वह अशुद्ध और इनसे रहित हो वह शुद्ध है।।१६।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।।
बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।१७।।

अब दो प्रकार के मन को ही संसार और मोक्ष का हेतु दिखाते हैं कि मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण मन ही है विषयों में लगा मन बंधन का और विषयों से रहित मन मोक्ष का हेतु कहा है।।१७।।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।।
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा
स्वयं तदंतः करणेन गृह्यते ।।१८।।

अब प्रसन्न आत्मा में टिककर अक्षय सुख को भोगता है इसका श्रुति के अनुसार विस्तार से वर्णन करते हैं कि समाधि से धोये हैं संपूर्ण रजोगुण, तमोगुण रूप मल जिसके उसको और प्रत्यगात्मा में प्रवेश किये चित्त को समाधि में जो सुख होता है उस अलौकिक सुख को वाणी से वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि उस अपने स्वरूपभूत सुख को अंतःकरण स्वयं ग्रहण करता है अर्थात् उसका साक्षी दूसरा कोई नहीं।।१८।।

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानंदं निश्चाययत्यसौ ।।१९।।

कदाचित् कहो कि इस दुर्लभ समाधि से ब्रह्मानंद का निश्चय कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि यह समाधि मनुष्यों को चिरकाल तक दुर्लभ है अर्थात् निरंतर नहीं रहती तथापि क्षणमात्र की भी यह समाधि ब्रह्मानंद का निश्चय करा देती है।।१९।।

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ॥
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥१२०॥

कदाचित् कहो कि आत्मज्ञान के लिये श्रवण, निदिध्यासन आदि में लगे हुए भी कोई मनुष्य आनंद के निश्चय से बहिर्मुख दीखते हैं यह शंका करके श्रद्धाहीन मनुष्य बहिर्मुख रहे तो रहे श्रद्धालु पुरुषों को आनंद का निश्चय दिखाते हैं कि जो मनुष्य श्रद्धालु है और जिसको वह व्यसन (आग्रह) है कि अवश्य समाध्ध का संपादन करूंगा वह मनुष्य समाधि में अवश्य आनंद का निश्चय कर लेता है और जब एक बार क्षणमात्र की भी समाधि में ब्रह्मानंद का निश्चय हो जाता है तो यह मनुष्य अन्य काल में भी विश्वास करता है कि ब्रह्मानंद है। भावार्थ यह है कि श्रद्धालु और व्यसनी मनुष्य समाधि में ब्रह्मानंद के निश्चय को अवश्य कर लेता है और एक बार निश्चय होने पर अन्य काल में भी यह मनुष्य ब्रह्मानंद का विश्वास कर लेता है॥१२०॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानंदवासनाम् ॥
उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः ॥२१॥

श्रद्धा आदि से एक बार निश्चयवाला पुरुष उदासीनकाल में भी आनन्दवासना की उपेक्षा को करके मुख्यानंद में तत्पर हुआ मुख्यानंद की ही भावना करता है॥२१॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥२२॥

अब व्यवहार काल में भी निजानन्द की भावना करता है इसमें दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे परपुरुष में है व्यसन जिसका ऐसी नारी घर के कर्म (काम) में व्यग्र (लगी) हुई भी उसी परपुरुष के संगरूप रसायन का अपने अन्तःकरण में स्वाद लेती है अर्थात् उसके चित्त में वही रहता है॥२२॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रांतिमागतः ॥
तदेवास्वादयत्यंतर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥२३॥

अब दृष्टांत को दार्ष्टांतिक में घटाते हैं कि इसी प्रकार श्रेष्ठ और शुद्ध तत्त्व में विश्राम को प्राप्त हुआ धीर मनुष्य बाह्य व्यवहारों को करता हुआ भी अन्तःकरण में उसी शुद्ध तत्त्व का स्वाद लेता है॥२३॥

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानंदास्वादवांछया ॥
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिंतायां प्रवर्तनम् ॥२४॥

अब धीर शब्द के अर्थ को कहते हैं कि इन्द्रियों की प्रबलता होने पर भी अर्थात् इंद्रियों का विषयों में ले जाने का सामर्थ्य होने पर भी आनन्दरूप अपने स्वरूप सुख के स्मरण की वांछा से संपूर्ण इंद्रियों का तिरस्कार करके जो आनन्द के ही स्मरण में प्रवृत्त हो उसे धीर कहते हैं।।२४।।

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः ।।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ।।२५।।

अब विश्रांति शब्द के अर्थ को कहते हैं कि जैसे भार ले जानेवाला पुरुष अपने शिर के भार को त्यागकर श्रम से रहित हो जाता है उसी प्रकार संसार के व्यापार त्यागने पर मैं श्रम से रहित हुआ यह जिसकी बुद्धि हो जाय उस बुद्धि को विश्राम कहते हैं।।२५।।

विश्रांतिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।।
सुखदुःखदशायां च तदानंदैकतत्परः ।।२६।।

अब फलितार्थ को कहते हैं कि परम विश्रांति को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे अपनी उदासीन अवस्था में आनंद के स्वाद में तत्पर होता है इसी प्रकार सुख दुःख की प्राप्ति के समय में दुःख के स्मरण को त्यागकर अपने आनंद के स्वाद में ही तत्पर रहे।।२६।।

अग्निप्रवेशहैतौ धीः शृंगारे यादृशी तथा ।।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ।।२७।।

कदाचित् कहो कि दुःख के प्रतिकूल होने पर उसके स्मरण की इच्छा का अभाव रहे परन्तु विषयों का सुख तो अनुकूल है इसीसे मनुष्य उसको चाहते हैं उसके स्मरण की इच्छा क्यों नहीं होती यह शंका करके उसकी इच्छा भी विवेकी को नहीं होती क्योंकि विषयों का सुख भी विषयों के संपादन द्वारा अत्यंत बहिर्मुख है इससे निजानंद के स्मरण का विरोधी है इस बात को दृष्टांत देकर वर्णन करते हैं कि जिस मनुष्य को शीघ्र देह के त्याग की इच्छा दृष्ट होती है उसका विलंब के कारण अलंकार आदि में जैसी विरस बुद्धि पैदा होती है अर्थात् शृंगार आदि को त्यागकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है इसी प्रकार वैराग्य आदि साधनों से युक्त विवेकी की ब्रह्म स्मरण के विरोधी विषयसुख में विरस बुद्धि हो जाती है। भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि के प्रवेश को चाहते हुए मनुष्य की बुद्धि शृंगार आदि में विरस होती है ऐसे ही धीर मनुष्य की बुद्धि ब्रह्मस्मरण के विरोधी विषयसुख में विरस हो जाती है।।२७।।

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानंदे च गमागमौ ।।
कुर्वत्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ।।२८।।

अब विरोधी जो विषय सुख उसमें इच्छा मत हो परन्तु बिना यत्न सुलभ और जो बहिर्मुखता का हेतु न हो ऐसे विषय में इच्छा क्यों नहीं होती इसका वर्णन करते हैं कि अविरोधी सुख में और अपने आनंद में गमन आगमन (आना जाना) क्रम से करती हुई यह बुद्धि काकाक्षि के समान इतः ततः (इधर उधर) रहती है।।२८।।

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।।
यात्यायात्येवमानंदद्वये तत्त्वविदो मतिः ।।२९।।

अब दृष्टांत का विवरण करते हैं कि जैसे काक की दृष्टि अर्थात् दर्शन का हेतु एक ही नेत्र इंद्रिय, वाम और दक्षिण नेत्र के दोनों गोलकों में क्रम से गमन आगमन करती है इसी प्रकार विवेकी की बुद्धि भी दोनों आनंदों में गमन आगमन करती है।।२९।।

भुंजानो विषयानंद ब्रह्मानंद च तत्त्ववित् ।।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ।।१३०।।

अब दार्ष्टांतिक का विस्तार से वर्णन करते हैं कि तत्त्वज्ञानी विषयानंद और ब्रह्मानंद को भोगता हुआ अर्थात् विषयसुख को और वेदांतों से पैदा हुए ब्रह्मानंद को भोगकर लौकिक और वैदिक (विषयानंद ब्रह्मानन्द) दोनों आनंदो को इस प्रकार जानता है जैसे दो भाषाओं का ज्ञाता मनुष्य दोनों भाषाओं को जानता है।।१३०।।

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।।
गंगामग्नार्द्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ।।३१।।

कदाचित् कहो कि दुःख का अनुभव के समय उद्वेग होने पर निजानंद का अनुभव कैसे होगा यह शंका करके कहते हैं कि जिससे विवेकी मनुष्य लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारों को जानता है उससे उसको दुःख की प्राप्ति में पूर्व के समान उद्वेग नहीं होता क्योंकि उस उस समय विवेक का बोध हो जाता है जब जब उद्वेग होता है इससे दुःखज्ञान के समय में भी निजानन्द का स्मरण इस प्रकार रहता है जैसे उस मनुष्य को शीत और उष्ण दोनों का ज्ञान रहता है जिसकी काया आधी गंगा में मग्न (डूबी) है।।३१।।

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।।
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ।।३२।।

अब फलित का वर्णन करते हैं कि इस प्रकार तत्त्वज्ञानी को जागरण अवस्था में सदैव सुख है अर्थात् सुख और दुःख के अनुभव की दशा और तूष्णीं स्थिति में सुख की ही प्रतीति होती रहती है और केवल जागरण में ही सुख का भान नहीं किंतु स्वप्न अवस्था में भी सुख का भान होता है कि जागरण की वासना से जन्य स्वप्न अवस्था में भी वह सुख उसी प्रकार भासता है जैसे जागरण में भासता था।।३२।।

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ।।३३।।

कदाचित् कहो कि स्वप्न आनन्द की वासना से होता है इससे स्वप्न में आनन्द ही भासता है दुःख नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि स्वप्न में आनन्द की वासना के समान अविद्या की भी वासना है इससे अविद्या की वासना से पैदा हुए स्वप्न में यह तत्त्वज्ञानी मनुष्य मूर्ख के समान सुख और दुःख को देखता है अर्थात् कुछ आनन्द की वासना से ही स्वप्न नहीं होता किन्तु अविद्या की वासना से भी स्वप्न होता है।।३३।।

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे ब्रह्मानंदप्रकाशकम् ।।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ।।१३४।।

पूर्वोक्त ग्रंथ के समूह जो कहा उसको दिखाते हैं कि पांच अध्यायरूप ब्रह्मानन्द नाम के इस ग्रंथ में पहले अध्याय में सुषुप्ति अवस्था में और उदासीन काल में और समाधि, सुख दुःख की दशा में स्वप्रकाश चित्रूप ब्रह्मानंद का प्रकाशक यह योगी का अनुभवरूप प्रत्यक्ष कहा—यह आगम (वेद) आदि का भी उपलक्षण है क्योंकि वे भी इस ग्रंथ में दिखाये हैं।।१३४।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसंहितायां ब्रह्मानंदे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

इति ब्रह्मानंदे योगानन्दप्रकरणम् ।।११।।

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम् १२

श्रीगणेशाय नमः

नन्वेवं वासनानंदाद्ब्रह्मानंदादपीतरम् ॥
वेत्तु योगी निजानंदं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥१॥

अब आत्मानंद का प्रारंभ करते हैं कि इससे इस प्रकार पहले अध्याय में विवेकी को निजानंद के अनुभव का प्रकार दिखाकर–मूढ़ जिज्ञासु को भी आत्मानंद पद का अर्थ जो त्वंपदार्थ उसके विवेचन द्वारा ब्रह्मानंद के अनुभव का प्रकार दिखाने के लिये शिष्य के प्रश्न को कहते हैं कि इस प्रकार वासनानंद और ब्रह्मानंद से भी अन्य जो निजानंद है उसको योगी जाने तो जाने परन्तु मूढ़ की इसमें क्या गति होगी अर्थात् मूढ़ को निजानंद का ज्ञान कैसे हो? ॥१॥

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ॥
पुनःपुनर्देहलक्षैः किन्नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

इस प्रकार शिष्य ने पूछा है जिसको ऐसा गुरु यह उत्तर देता है कि मूढ़ को विद्या का अधिकार ही नहीं कि यह अतिमूढ़ पुरुष अनादि संसार में पूर्व जन्मों में किये धर्म और अधर्म के अधीन बारंबार लक्षों देहों से जन्म को धारण करे वा मरे, इसमें हमारी चतुरता से क्या सिद्ध होगा यह तुम कहो॥२॥

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ॥
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

फिर शिष्य यह कहता है कि आचार्य सब पर अनुग्राहक होते हैं इससे उसकी भी कोई गति कहनी चाहिये, आपको अनुग्रहकर्त्ता होने से चतुराई से प्रयोजन है अर्थात् शास्त्र की चतुराई से मूढ़ पर भी अनुग्रह करना उचित है। तात्पर्य यह है कि आप शिष्य के उद्धार के अभिलाषी हैं इससे शिष्य के उद्धार का प्रयोजन है इस प्रकार शिष्य के वचन सुनकर विकल्प से शिष्य को पूछते हैं कि जो मूढ़ की कोई गति कहने योग्य है तो बताओ वह मूढ़ जिज्ञासु है वा पराङ्मुख है अर्थात् रोगी है वह विरक्त है॥३॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ॥
मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत् ॥४॥

जो वह रागी है तो राग के अनुसार कर्म करना चाहिये वा उपासना, इन दोनों में पहले का परिहार कहते हैं कि तत्त्वज्ञान से जो विमुख है उसकी यथायोग्य ब्रह्मलोक आदि की कामना हो तो उपासना को और स्वर्ग आदि की कामना हो तो कर्म को कहे और जिज्ञासु है तो उसको अतिविवेकी हो तो पूर्व अध्याय में कहे हुए प्रकार से जो योग उसको बोध करावे और वह मंदबुद्धि है तो उस जिज्ञासु को आत्मानंद से विवेचनापूर्वक बोध करावे। भावार्थ यह है कि विमुख के प्रति तो यथायोग्य उपासना वा कर्म का उपदेश कर और मंदबुद्धि जिज्ञासु को तो आत्मानंद का उपदेश करो॥४॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ॥
न वा अरे पत्युरथ पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

इस प्रकार जिसने बोध कराया उसको कहते हैं कि यजुर्वेद की शाखा के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयी नाम की अपनी प्यारी भार्या को यह कहते हुए बोध कराते भये कि अरे मैत्रेयि! पति के लिये पति* प्यारा नहीं होता अर्थात् अपने लिये ही पति प्यारा होता है॥५॥

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ॥
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

अगल ग्रंथ में इस** वचन से परमप्रेम के स्थान रूप हेतु से आत्मा को परमानंद रूप साधने का अभिलाषी आचार्य प्रथम परप्रेम के आस्पदरूप हेतु की सिद्धि के लिये पहले 'न वा अरे०' इस पूर्वोक्त वाक्य को उपलक्षण (अन्य का भी बोधक) मानकर उस प्रकरण के जितने पयार्यवाक्य हैं उन सबका तात्पर्य कहते हैं कि पति, जाया, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, वेद, पांचो भूत ये सब जो भोग के पदार्थ हैं संपूर्ण अपने लिये ही प्यारे होते हैं अन्य के लिये नहीं॥६॥

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ॥
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

अब 'न वा अरे०' इस पूर्वोक्त वाक्य के अर्थ को विभाग करके दिखाते हैं कि जिस काल में पत्नी (स्त्री) को अपने पति में इच्छा होती है तब वह पत्नी पति में प्रीति

---

* न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति । ** परप्रेमास्पदत्वेन परमानंद इष्यताम्।

को करती है और जब उसका पति क्षुधा अनुष्ठान (कार्य) रोग आदि से युक्त होता है तब पत्नी इच्छा नहीं करती अर्थात् अपने पति का संग नहीं चाहती।।७।।

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ।।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ।।८।।

अब पूर्वोक्त के फलित को कहते हैं कि जाया* की जो वह प्रीति है वह पति के लिये नहीं है किन्तु अपने लिये ही पति में उस प्रीति को जाया करती है यही इस वाक्य में लिखा है। अब **'न वा अरे जायायै०' इत्यादि और 'न वा अरे सर्वस्य' इस वाक्य तक जो वचन हैं उनके तात्पर्य को विभाग करके (पृथक् पृथक्) दिखाते हैं कि पति भी अपने प्रयोजन के लिये ही जाया की इच्छा करता है जाया के लिये कदाचित् भी नहीं करता।।८।।

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ।।९।।

कदाचित् कहो एक की इच्छा से जहां प्रीति है वहां जो प्रीति है वह अपने लिये रही एक बार दोनों की इच्छा से जो प्रीति है वह तो दोनों के अर्थ होगी, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि परस्पर की प्रेरणा में भी अपनी कामना पूर्ण करने की इच्छा से ही दोनों की प्रवृत्ति होती है, अन्य की इच्छा से अन्य की प्रवृत्ति नहीं होती।।९।।

श्मश्रुकंटकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।।
चुंबत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा।।१०।।

अब अपनी इच्छा से प्रवृत्ति को दिखाते हैं कि श्मश्रु के कांटो (डाढ़ी के बाल) के बिंधने से बालक के रोदन करने पर भी बालक का पिता बालक के मुख को जो चूमता है वह प्रीति बालक के लिये नहीं है किंतु अपने लिये ही है बालक तो कांटो के लगने से उलटा रोता है इससे वह प्रीति अपने लिये ही समझनी।।१०।।

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।।
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शंकितम् ।।११।।

चेतन जो पति जाया पुत्र आदि हैं उनमें जो प्रीति की जाती है उसमें यह संदेह हो सकता है अपने लिये है कि वा अन्य के लिये। इच्छा से रहित जो अचेतन धन है

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।

**** न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**

उसमें वह शंका ही नहीं हो सकती इस अभिप्राय से इस वाक्य* के तात्पर्य को कहते हैं कि इच्छा से हीन भी रत्न आदि धन की यत्न से पालना करता हुआ मनुष्य जिस प्रीति को करता है वह अपने लिये है इसमें वित्त के अर्थ है यह शंका ही नहीं हो सकती क्योंकि धन इच्छारहित है।।११।।

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थिता कुतः ।।१२।।

अब चेतन होने पर भी बहने की इच्छा से रहित पशु के विषय जो यह** वचन है उसके तात्पर्य को कहते हैं कि बैल इच्छा भी नहीं करता तो भी किसान मनुष्य बल से वाहते हैं, वहां वहन करनें में जो प्रीति है वह वैश्य आदि किसानों के लिये ही है, बैल के अर्थ हो ही नहीं सकती क्योंकि वह भार ले जाने की इच्छा नहीं करता।।१२।।

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।।
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टि पुंस एव सा ।।१३।।

अब 'न वा अरे ब्रह्मणः कामाय०' इस वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि मुझमें ब्राह्मणत्व जाति है, मैं पूज्य हूं इस प्रकार ब्राह्मण जाति की हुई जो पूजा है उससे वही संतोष को प्राप्त होता है कि जो मैं ब्राह्मण हूं, ऐसा अभिमानी है और जड़रूप जाति का पूजा से संतोष नहीं हो सकता।।१३।।

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ।।१४।।

अब 'न वा अर क्षत्रस्य' इस वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि मैं क्षत्रिय हूं, इससे राज्य करता हूं, यहां राजा क्षत्रियत्व जाति नहीं किंतु जातिवाले पुरुष हैं अर्थात् राज्य के भोग का सुख पुरुष को ही होता है, यहां क्षत्रिय का ग्रहण वैश्य आदि में घटाने के लिये कहा है अर्थात् क्षत्रिय पद वैश्य आदि का भी उपलक्षण है।।१४।।

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवांछनम् ।।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ।।१५।।

अब 'न वा अरे लोकानां०' इस वाक्य के अर्थ को कहते हैं मुझे स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक मिले, यह वांछा लोकों के उपकार के लिये नहीं किन्तु केवल अपने ही भोग

---

* नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।

* * न वा अरे पशूनाम् ।

के लिये है, यहां भी दो लोकों का ग्रहण सब लोकों का उपलक्षण है॥१५॥

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यंते पापनष्टये ॥
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

और पापनाश के लिये ईश, विष्णु आदि देवताओं की पूजा की जाती है वह स्वतः पापरहित देवताओं के प्रयोजनार्थ नहीं किंतु अपने प्रयोजन के लिये ही पूजा की जाती है अर्थात् पूजा से पूजा के कर्ता का ही पाप नष्ट होता है॥१६॥

ऋगादयो ह्यधीयंते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ॥
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

और दुर्ब्राह्मण्य (व्रात्य होना) इसकी निवृत्ति के लिये गायत्री आदि ऋचा जो पढ़ी जाती है वहां मनुष्यों में ही व्रात्य जाति हो सकती है। वेदों में उसका प्रसंग भी नहीं हो सकता अर्थात् वेद का पठन भी अपने लिये है वेद के लिये नहीं॥१७॥

भूम्यादिपंचभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ॥
हेतुभिश्चावकाशेन वांछंत्येषां न हेतवः ॥१८॥

और संपूर्ण प्राणी स्थान देने, तृषा की निवृत्ति, पाक, शुष्क करने और अवकाश देने के लिये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतों की जो वांछा करते हैं, इनं पृथ्वी आदि पांचों भूतों के हेतु स्थान वांछा आदि निमित्त नहीं है किंतु प्राणियों की वांछा ही हेतु हैं क्योंकि स्थान आदि में वांछा का असंभव है॥१८॥

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वांछति ॥
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

अब 'न वा अरे सर्वस्य कामाय० इस वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं कि स्वामी भृत्य आदि की जो संपूर्ण जन वांछा करते हैं वह अपने उपकार के लिये ही करते हैं और उस उस का किया उपकार उस उस को नहीं होता अर्थात् भृत्य स्वामी की वांछा अपने लिये करता है वह उपकार भृत्य को फल का दाता है, स्वामी को नहीं, इसी प्रकार स्वामी की भृत्य की वांछा में भी समझना॥१९॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम् ॥
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियों में बहुत उदाहरण क्यों दिये सो ठीक नहीं, क्योंकि इच्छापूर्वक भोजन आदि व्यवहारों में इस प्रकार समझने के लिये कि अपनी ही कामना के लिये संपूर्ण प्रिय होता है यह दिखाने के लिये पति जाया आदि बहुत

से उदाहरण दिये हैं, इससे अपनी बुद्धि में यह निश्चय करे कि आत्मा भी प्रीति के लिये ही संपूर्ण प्रिय होते हैं अन्य के लिये नहीं।।२०।।

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।।
रागो वध्यादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छात्वप्राप्तवस्तुनि ।।२१।।

आत्मा के लिये सबको जो प्रिय कहा उससे आत्मा को अत्यंत प्रिय कहा सो नहीं बन सकता क्योंकि प्रीति क्या वस्तु है यह निरूपण नहीं कर सकते इस अभिप्राय से शिष्य प्रश्न करता है कि जो यह अपने आत्मा में प्रीति सुनी जाती है वह क्या रागरूप है वा श्रद्धारूप है अथवा भक्तिरूप है किंवा इच्छारूप है इन चारों पक्षों में भी प्रीति सब विषयक नही हो सकती क्योंकि राग वधू आदिक में ही हो सकता है यज्ञ आदि में नहीं और श्रद्धा योग आदि में ही हो सकती है वधू आदि में नहीं और भक्ति गुरु देवता आदि में ही हो सकती है, अन्य में नहीं और इच्छा अप्राप्त वस्तु की ही हो सकती है अन्य को नहीं, इससे प्रीति के विषय संपूर्ण नहीं हो सकते।।२१।।

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ।।२२।।

अब पूर्वोक्त चारों पक्षों से अन्य पक्ष को मानकर उत्तर देते हैं कि यदि प्रीति राग आदि रूप नहीं है तो केवल सुख ही है विषय जिसका ऐसी जो सत्त्वगुण का परिणामरूप अंतःकरण की वृत्ति वही प्रीति रहे। कदाचित् कहो कि वह प्रीति इच्छारूप ही है सो ठीक नहीं क्योंकि इच्छा अप्राप्त सुख की ही होती है और प्रीति तो सबमें होती है क्योंकि प्राप्त हुए सुख के नष्ट होने पर भी प्रीति विद्यमान रहती है इससे प्रीति इच्छा से भिन्न है।।२२।।

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ।।२३।।

अब सुख के हेतु अन्न आदि के समान आत्मा में भी प्रीति के दर्शन से यह शंका करते हैं कि आत्मा भी सुख का हेतु हो जायगा जैसे अन्न पान आदि सुख के हेतु भूत उपाधि से प्यारे देखे हैं, इसी प्रकार आत्मा भी अनुकूल और प्रिय होने से अन्न आदि के समान सुख का हेतु हो जायगा।।२३।।

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः ।।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ।।२४।।

यहां यह अनुमान समझना कि विवाद का स्थान आत्मा सुख का हेतु होने योग्य

है। उक्त शंका का इस अभिप्राय से परिहार करते हैं कि अन्न पान आदि में भोग्यत्वरूप उपाधि है अर्थात् जहां जहां सुख का साधन है वहां वहां भोग्यत्व है और जहां जहां प्रियत्व है वहां वहां भोग्यत्व है, यह नियम नहीं क्योंकि आत्मा में प्रियत्व है भोग्यत्व नहीं क्योंकि जो धर्म साध्य का व्यापक और हेतु (साधन) का अव्यापक होता है उसको ही उपाधि कहते हैं अर्थात् अन्न आदि के समान आत्मा को भी सुख का हेतु मानोगे तो इस सुखसाधनरूप अनुकूल से अनुकूल करने योग्य जगत् में कौन होगा क्योंकि आत्मा से अन्य कोई भोक्ता नहीं है। कदाचित् कहो कि अपने आचरण से आत्मा आप ही अनुकूल करने योग्य हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि एक ही आत्मा कर्म और कर्त्ता नहीं हो सकता। अर्थात् एक आत्मा एक काल में उपकार के योग्य और उपकार का कर्त्ता नहीं हो सकता। भावार्थ यह है कि अन्न आदि के समान आत्मा को अनुकूलता से युक्त मानोगे तो जगत् में सुख के हेतु से अनुकूल करने योग्य कौन होगा अर्थात् कोई न होगा और एक आत्मा कर्म और कर्त्ता रूप नहीं हो सकता।।२४।।

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ।।२५।।

कदाचित् कहो कि अन्न आदि के समान सुख का हेतु न होने पर भी सुख के समान भोक्ता का शेष आत्मा हो जायगा इस आशंका का परिहार आत्मा को सर्वोत्तम प्रेम का आस्पंद (स्थान) होने से करते हैं कि विषयों के सुख में केवल प्रीति है और आत्मा में अत्यंत प्रीति है इससे विषयों के सुख के तुल्य नहीं, क्योंकि विषयों के सुख में पैदा हुई यह प्रीति कदाचित् व्यभिचार को प्राप्त होती है अर्थात् अन्य सुख में भी चली जाती है और आत्मा में विद्यमान जो प्रीति है वह व्यभिचारिणी नहीं अर्थात् अन्य विषय में नहीं जाती है।।२५।।

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ।।२६।।

अब सुख की प्रीति के व्यभिचार और आत्मा की प्रीति के अव्यभिचार को दिखाते हैं कि मनुष्य सदैव एक सुख को त्यागकर अन्य विषयसुख को ग्रहण करता है और आत्मा न त्यागने योग्य है और न ग्रहण करने योग्य है इससे उसमें जो प्रीति है वह किस प्रकार व्यभिचार को प्राप्त होती है।।२६।।

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्व निजात्मनः ।।२७।।

अब यह शंका करते हैं कि त्याग आदि के अविषय आत्मा में तृण आदि के समान उपेक्षा हो जायगी कि परित्याग और स्वीकार से रहित आत्मा में तृण आदि के समान उपेक्षा (उदासीनता) हो जायगी ऐसा मत कहो–क्योंकि उपेक्षा करनेवाले का जो अविनाशी स्वरूप आत्मा है वही है रूप जिसका ऐसा आत्मा उपेक्षा के योग्य नहीं हो सकता॥२७॥

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ॥
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

अब द्वेष से आत्मा के त्याग की शंका करते हैं कि रोग और क्रोध से अभिभूत (पूर्ण) मनुष्यों को कहीं कहीं मरने की इच्छा देखने से आत्मा त्यागने योग्य हो जायगा, ऐसा यदि कहोगे तो सो ठीक नहीं॥२८॥

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ॥
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

त्यागने के योग्य देह को आत्मत्व नहीं किंतु त्यागनेवाला जीव ही आत्मा है और त्यागनेवाले जीव में वह द्वेष नहीं है। कदाचित् कहो कि आत्मा में द्वेष मत हो देह में तो है सो ठीक नहीं क्योंकि त्यागने योग्य देह में द्वेष होने पर भी आत्मा की क्या क्षति (हानि) है॥२९॥

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ॥
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

इस प्रकार 'न वा अरे०' इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में अत्यंत प्रीति को दिखाकर युक्ति से भी आत्मा में अत्यंत प्रीति को दिखाते हैं कि संपूर्ण सुखसहित जो सुख के हेतु पति, जाया आदि हैं वे आत्मा के ही उपकारी हैं और प्रीति से भी आत्मा ही उपकार के योग्य है इससे स्वयं आत्मा इस प्रकार अत्यंत प्रिय सिद्ध हुआ जैसे जगत् में पुत्र के मित्र से अर्थात् पुंत्र के द्वारा जिसमे प्रीति है, ऐसे देवदत्त आदि से यज्ञदत्त आदि साक्षात् प्रीति का विषय होने से विष्णुमित्र आदि पुत्र पिता को अत्यंत प्रिय होता है, वैसे ही अपनी ही साक्षात् प्रीति का विषय आत्मा सबके अत्यंत प्रीति का विषय (अत्यंत प्यारा होता है॥३०॥

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ॥
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥३१॥

इस प्रकार श्रुति और युक्ति से आत्मा में अत्यंत प्रीति को दिखाकर अपने अनुभव से भी अत्यंत प्रीति को दिखाते हैं कि मैं मत होऊँ अर्थात् मेरे आत्मा की सत्ता न हो

किंतु मैं सर्वदा होऊँ अर्थात् सदा मेरे आत्मा की सत्ता रहे इस आशीः (प्रार्थना) को संपूर्ण प्राणियों के विषे देखते हैं अर्थात् सब इस प्रकार चाहते हैं इससे ही आत्मा में अत्यंत प्रीति प्रत्यक्ष है।।३१।।

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ।।३२।।

अब वृत्तान्त को कहकर मतांतर के दूषण देने के अर्थ प्रारंभ करते हैं कि इस प्रकार अनुभव और श्रुति और युक्ति रूप पूर्वोक्त तीन हेतु (प्रमाण) ओं से आत्मा में प्रीति के सिद्ध होने पर भी कोई कोई श्रुति के तात्पर्य के अज्ञानी मनुष्य आत्मा को पुत्र, भार्या आदि का शेष कहते हैं अर्थात् पुत्र, भार्या, आदि को प्रधान और आत्मा को गौण कहते हैं।।३२।।

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ।।३३।।

और पुत्र को ही मुख्य आत्मा कहने की इच्छा से पुत्र में ही इस श्रुति* से मुख्य आत्मत्व कहा है कि पुत्रनाम का आत्मा निश्चय से है अर्थात् श्रुति में पुत्र को मुख्य आत्मा कहा है कि पुत्र मुख्य आत्मा है यह ऐतरेय उपनिषद् में स्फुट है।।३३।।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ।।३४।।

जिस वाक्य से पुत्र को आत्मा कहा उस वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि इस पिता को पालन करने योग्य जो पुत्ररूप आत्मा इस श्रुति** में कहा है कि जो गर्भ में पुत्र रूप आत्मा होता है वह जन्म से पहले ही पिता के देह में कारणरूप से बसता है उस पुत्ररूप आत्मा को पुण्यों का प्रतिनिधि बनाकर अर्थात् यह मेरा उपकारी आत्मा हो गया, यह समझकर पिता का जो प्रत्यक्ष से दीखता निज आत्मा (अपना देह) है वह वृद्ध अवस्था से ग्रसा हुआ कृतंकृत्य (कृतार्थ) होकर मर जाता है। भावार्थ यह है कि पिता अपने पुत्ररूप आत्मा को पुण्यकर्मों का प्रतिनिधि समझकर अन्य देहरूप अपने आत्मा को कृतार्थ समझकर मरता है।।३४।।

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात् एव हि ।।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ।।३५।।

---

* आत्मा वै पुत्रनामासि । ** स पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति ।

अब पूर्वोक्त के दृढ़ करने के लिये पुत्रहीन को परलोक नहीं है इस वाक्य के अर्थ को कहते हैं कि जिससे पुत्र मुख्य आत्मा है इसी से अपने विद्यमान रहते भी पुराण आदिकों में यह बात प्रसिद्ध है कि पुत्रहीन* मनुष्य को परलोक नहीं मिलता है। इस प्रकार निषेधमुख से कहे पूर्वोक्त का इस** वाक्य से अन्वयमुख से वर्णन करते हैं कि शास्त्र के ज्ञाता बुद्धिमान् पुरुष उसी पुत्र को परलोक का साधन (हितकारी) कहते हैं जिसको तू ब्रह्म है इत्यादि मंत्रो से शिक्षा दी हो अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुत्र से परलोक में पिता पहुँचता है।।३५।।

मनुष्यलोको जय्यः स्यात्पुत्रेणैवेतरेण नो ।।
मुमूर्षुर्मंत्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमंत्रकैः ।।३६।।

अब इस वाक्य के अर्थ को कहते हैं कि जिससे लौकिक सुख में भी पुत्र ही हेतु कहा है कि मनुष्यलोक*** का सुख पुत्र से ही होता है कर्म आदि अन्य साधनों से नहीं अर्थात् पुत्रहीन मनुष्य को धन आदि से कुछ नहीं मिलता, पहले शिक्षा दिये पुत्र को जो परलोक का हितकारी कह आये अब शिक्षा के समय और मंत्रों को दिखाते हैं कि मरण के समय में पिता इन**** मंत्रों से पुत्र को शिक्षा दे कि तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है और तू ही परलोक है।।३६।।

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ।।३७।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को समाप्त करते हैं कि इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति आत्मा को पुत्र और भार्या आदि का शेष कहती हैं और यह बात केवल श्रुतियों से ही सिद्ध नहीं किंतु लोक में भी प्रसिद्ध है क्योंकि लौकिक मनुष्य भी पुत्र को प्रधान मानते हैं।।३७।।

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ।।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ।।३८।।

वही दिखाते हैं कि मनुष्य उसी प्रकार के यत्न को करता है कि जिससे अपने मरने पर भी पुत्र, भार्या आदि धन और क्षेत्र आदि के व्यय से जीवें, जिससे अपने परिश्रम को सहकर भी पुत्र आदि के जीवन का उपाय करता है, इससे पुत्र आदि प्रधान हैं और अपनी आत्मा गौण है।।३८।।

---

* नापुत्रस्य लोकोऽस्ति । ** अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः ।

*** सोऽयं मनुष्यलोके पुत्रेणैव बध्यो नान्येन कर्मणा । **** त्वं यज्ञस्त्वं लोकः त्वं ब्रह्म ।

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ।।३९।।

इस प्रकार लोकप्रसिद्ध से दिखाई पुत्र आदि की प्रधानता को अंगीकार करते हैं कि यह बात सत्य है कि पुत्र आदि प्रधान हैं परंतु कहीं पुत्र आदि की प्रधानता से आत्मा किसी का शेष (अप्रधान) नहीं होता कदाचित् कहो कि प्रतिज्ञा मात्र से अर्थ की सिद्धि नहीं होती, यह शंका करके और जिस जिस व्यवहार में जिस जिस को आत्मा कहना है उस उस व्यवहार में उस उस आत्मा को प्रधान दिखाने के लिये प्रथम आत्मा के तीन भेद दिखाते हैं कि गौण, मिथ्या और मुख्य भेद से आत्मा तीन प्रकार का होता है।।३९।।

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ।।४०।।

उन तीनों में पुत्र आदि में गौण आत्मा दिखाने के लिये जगत् में गौण प्रयोग का उदाहरण देते हैं कि यह देवदत्त सिंह है, यहां जो देवदत्तसिंह की एकता है वह गौण है क्योंकि इन दोनों का भेद देखते हैं इसी प्रकार पुत्र आदि की आत्मता भी भेद की प्रतीति से गौण है।।४०।।

भेदोऽस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा ।।४१।।

अब मिथ्या आत्मा को दिखाते हैं कि आनन्दमय आदि अन्नमय पर्यंत पांचों कोशों में विद्यमान भी साक्षी का भेद प्रतीत नहीं होता, इससे पांचों कोश उस प्रकार मिथ्या आत्मा स्वरूप हैं जैसे चोर से भिन्न (न्यारा) स्थाणु मिथ्या चोररूप होता है।।४१।।

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ।।४२।।

इस प्रकार गौण और मिथ्या आत्माओं को दिखाकर साक्षी को ही मुख्य आत्मा वर्णन करते हैं कि साक्षी का गौण आत्मारूप पुत्र आदि के समान भेद प्रतीत नहीं होता और न मिथ्या आत्मारूपदेह आदि के समान साक्षी का भेद है क्योंकि साक्षी का कोई उस प्रकार प्रतियोगी नहीं कि जैसे पुत्र आदि का देह आदि प्रतियोगी है अर्थात् पुत्र आदि की अपेक्षा पिता आदि स्वयं भेद का निरूपक है, इसी प्रकार अपने साक्षीरूप आत्मा का कोई वस्तुरूप (सच्चा) प्रतियोगी नहीं है जिसकी अपेक्षा से भेद हो उसको ही प्रतियोगी कहते हैं और देह आदि से आत्मा का भेद इससे नहीं

कह सकते कि ये आरोपित हैं। कदाचित् कहो कि भेद के अभाव से साक्षी गौण और मिथ्या आत्मा मत हो परन्तु साक्षी के मुख्य आत्मा होने में क्या कारण है सो ठीक नहीं क्योंकि देह, पुत्र आदि सबका अंतर (साक्षी) होने से अर्थात् प्रत्यक्रूप आत्मा को सबके मध्य में प्रतीयमान होने से वह साक्षी ही मुख्य आत्मा है गौण नहीं यह बुद्धिमान् मनुष्यों को इष्ट है, यहां ग्रंथकार ने यह अनुमान सूचित किया है कि विवाद का स्थान साक्षी मुख्य आत्मा होने योग्य है सबका आन्तर होने सें, जो मुख्य आत्मा नहीं होता वह सबका आन्तर भी नहीं होता जैसे अहंकार आदि, भावार्थ यह है कि प्रतियोगी रहित साक्षी का भेद न भासता है और न है इससे सबका आंतर होने से साक्षी ही मुख्य आत्मा इष्ट है।।४२।।

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ।।४३।।

इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार का रहे फिर पुत्र आदि का शेषी (प्रधान) कहने से क्या सिद्ध हुआ इसलिये कहते हैं कि ऐसे आत्मा के तीन भेद होने पर भी जिन लौकिक, वैदिक व्यवहार में अर्थात् पालन पोषण में ब्रह्म को आत्मा समझने में जिस पुत्र, देह वा साक्षी की आत्मता उचित है, उन व्यवहारों में पुत्र, देह वा साक्षी शेष है उससे अन्य सब शेष (गौण) होते हैं।।४३।।

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ।।४४।।

इस शेष शेषी भाव को ही पांच श्लोकों से विस्तार से कहते हैं कि जो मनुष्य मुमूर्ष है (मरने योग्य) उसके घर की रक्षा आदि में पुत्र, भार्या, आदिरूप गौण आत्मा ही उपयोगी होता है क्योंकि कुछ काल तक जीवेगा और साक्षीरूप मुख्य आत्मा अविकारी होने से और मिथ्यारूप आत्मा (देह) मरण के उन्मुख (योग्य) होने से उपयोगी नहीं होते हैं इससे पुत्ररूप आत्मा ही प्रवान होता है।।४४।।

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्बटुरेवात्र गृह्यते ।।४५।।

पूर्वोक्त गृहरक्षा आदि व्यवहार में अपनी विद्यमानता मे भी पुत्र आदि के स्वीकार करनें में दृष्टांत कहते हैं कि यह अध्येता (पाठक) वह्नि है इस प्रयोग में जैसे स्वरूप से विद्यमान अग्नि को वह्नि शब्द से नहीं लेते क्योंकि अग्नि पढ़ नहीं सकती किन्तु पढ़ने के योग्य होने से वहां बटुक को ही लेते हैं इसी प्रकार पूर्वोक्त

गृहरक्षा आदि व्यवहार में पुत्ररूप गौण आत्मा को ही लेते हैं।।४५।।

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।।
न पुत्रं विनियुंक्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ।।४६।।

इस प्रकार गौण आत्मा के स्थल को कहकर मिथ्या आत्मा के स्थल को कहते हैं कि मैं कृश हो गया हूं इससे अन्न भक्षण आदि से पुष्टि का संपादन करूंगा इत्यादि व्यवहार में मिथ्यामृत देह को ही आत्मा मानना उचित है क्योंकि पुष्टि के हेतु अन्न भक्षणरूप व्यवहार में पुत्र को जगत् में कोई भी नियुक्त नहीं करता।।४६।।

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ।।४७।।

और जब यह मनुष्य यह व्यवहार करता है कि मैं तप करके स्वर्ग का संपादन करूँ तब कर्ता (विज्ञानमय) को ही आत्मा मानना उचित है, देह आदि को नहीं क्योंकि देह के भागों की अपेक्षा को त्यागकर परलोक में कर्त्ता के उपकारक कृच्छ्रचांद्रायण आदि को करता है।।४७।।

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ।।४८।।

और जब मनुष्य इस बुद्धि को करता है कि मैं शम दम आदि का संपादन करके मुक्ति को प्राप्त होऊँ तब गुरु और शास्त्र के द्वारा 'तत्त्वमसि०' इत्यादि वाक्य के विचार से पैदा हुए अपरोक्ष ज्ञान से मैं कर्त्तारूप नहीं किंतु सच्चिदानंद ब्रह्मरूप हूं, इस प्रकार चिदात्मा को जानता है वहां चेतन ही आत्मा उचित है कर्ता नहीं क्योंकि इस* श्रुति में लिखा है कि सत्य ज्ञान अनंत विज्ञान आनंद ब्रह्म है अनंतर (भेदरहित) अबाह्य सर्वरूप प्रज्ञानमय ब्रह्म है।।४८।।

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु ।।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ।।४९।।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के आत्माओं का उस उस व्यवहार में व्यवस्था से प्रधानता मानने में दृष्टांत देते हैं कि जैसे बृहस्पतिसव आदि नाम के यज्ञास व्यवस्था से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का ही अधिकार इन** श्रुतियों के अनुसार ही है कि ब्राह्मण बृहस्पतिसव यज्ञ करे क्षत्रिय वैश्य नहीं। राजा राजसूय यज्ञ करे, ब्राह्मण वैश्य नहीं,

---

* सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, विज्ञानमानन्द ब्रह्म, अनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ।

** ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत–राजा राजसूयेन यजेत–वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत ।

वैश्य वैश्य स्तोम यज्ञ करे, ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं, इसी प्रकार गौण मिथ्या मुख्य आत्माओं को भी अपने अपने उचित व्यवहार में प्रधानता है।।४९।।

तत्रतत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनि ।।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ।।५०।।

अब फलितार्थ को कहते हैं कि जिस जिस व्यवहार में जो जो आत्मा योग्य होता है उस उस व्यवहार में उपयोगी होने से प्रधानभूत आत्मा के विषय ही अधिक प्रीति होती है और उसके शेषभूत आत्मा से भिन्न में केवल प्रीति होती है अत्यंत नहीं और आत्मा और शेष से भिन्न जो जगत् की वस्तु है उनमें दोनों प्रकार की प्रीति नहीं होती।।५०।।

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा मार्गतृणादिकम् ।।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ।।५१।।

आत्मा और शेष से जो अन्य है उसमें दो प्रकार की प्रीति नहीं होती इस श्लोक में कहे अन्य शब्द के भेदों को कहते हैं कि अन्य पद से कही जो वस्तु है वह उपेक्षा के योग्य और द्वेश के योगरूप भेद से दो प्रकार की होती है उन दोनों में मार्ग तृण आदि उपेक्ष्य और व्याघ्र, सर्प आदि द्वेष्य होते हैं, इस प्रकार चार प्रकार की वस्तु होती हैं।।५१।।

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।।
न व्यक्तिनियमः किंतु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ।।५२।।

चारों भेदों को दिखाते हैं कि आत्मा शेष, उपेक्ष्य, द्वेष्य, इन चारों में भी व्यक्ति का नियम नहीं है अर्थात् यही प्रिय उपेक्ष्य, वा द्वेष्य है अन्य नहीं, यह नियम नहीं है किंतु उपकार आदि उस उस कार्य के अनुसार वैसे वैसे प्रतीति होती है अर्थात् कार्य से प्रिय आदि होते हैं।।५२।।

स्याव्द्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ।।५३।।

सब में अनियम समझने के लिये प्रसिद्ध द्वेष्यरूप व्याघ्र में नियमका अभाव दिखाते हैं कि जब व्याघ्र (सिंह) अपने संमुख भक्षण करने के लिये आता है तब तो द्वेष्य (वैरी) होता है और जब वह पराङ्गमुख हुआ जाता है तब उपेक्ष्य होता है और जब लाड करने से अपने अनुकूल होता है तब विनोद के लिये होने से अपना उपकारक (शेष) है इससे प्रिय होता है।।५३।।

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ।।५४।।

कदाचित् कहो कि एक वस्तु को प्रिय आदि तीनरूप मानोगे तो व्यवहार की व्यवस्था न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि व्यक्तियों का नियम मत हो तथापि लक्षण से व्यवस्था हो जायगी। लक्षणों को ही कहते हैं कि अनुकूलता प्रिय का और प्रतिकूलता द्वेष्य का और अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों का अभाव उपेक्ष्य का लक्षण होता है।।५४।।

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।।
इति व्यवस्थितो लोके याज्ञवल्क्यमतं च तत् ।।५५।।

इतने पूर्वोक्त ग्रंथ के समूह से कहे अर्थ को बुद्धि में आने के लिये संक्षेप से दिखाते हैं कि प्रत्यक् आनंदरूप आत्मा अत्यंत प्रिय है और अपना गौण जो शेष पदार्थ है वह प्रिय है और इन दोनों से अन्य जो मार्गतृण और व्याघ्र आदि है वे उपेक्ष्य और द्वेष्य क्रम से होते हैं, इसी रीति से चार प्रकार की जगत् की व्यवस्था है। इन चार प्रकारों से अन्य नहीं होता और यह बात याज्ञवल्क्य ऋषि को भी संमत है।।५५।।

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथान्यतः ।।
सर्वस्मादंतरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ।।५६।।

केवल मैत्रेयी ब्राह्मण में ही आत्मा को अत्यन्त प्रिय नहीं कहा है किन्तु पुरुष विध ब्राह्मण में भी कहा है इस अभिप्राय से उसके इस* वचन के अर्थ को पढ़ते हैं कि अन्यत्र भी श्रुति ने कहा है कि पुत्र, धन और अन्य से यह आत्मा इससे अत्यंत प्रिय इष्ट है कि यह सबका अंतरात्मारूप तत्त्व है।।५६।।

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।।
कोशान्पंच विविच्यांतर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ।।५७।।

इस प्रकार का कथन श्रुति में रहे प्रकरण में क्या आया इसलिये कहते हैं कि श्रुति के अर्थ की विचारदृष्टि से साक्षी ही मुख्य आत्मा हैं अन्य (पुत्र आदि) नहीं, अब विचारदृष्टि को ही कहते हैं कि अन्नमय आदि पांच कोशों को तैत्तिरीय श्रुति में कहे हुए प्रकार से आत्मा से पृथक् जानकर अंतःकरण में स्थित आत्मा का जो ज्ञान उसको विचार कहते हैं।।५७।।

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ।।५८।।

*** तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादंतरतरं यदयमात्मा ।**

अब अंत:स्थित वस्तु के दर्शन का प्रकार कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के मध्य में उत्तर उत्तर अवस्था का आगमन और पूर्व पूर्व अवस्था की निवृत्ति का भासन जिस चैतन्यरूप साक्षी से होता है वह स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा है अन्य नहीं॥५८॥

शेषाः प्राणादिवित्तांता आसन्नास्तारतम्यतः ॥
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

संक्षेप से कहे पूर्वोक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं कि शेष जो प्राण आदि वित्त (धन) पर्यंत साक्षी से भिन्न हैं (जो आगे कहे जायंगे) वे पदार्थ जैसे तारतम्य (क्रम) से आत्मा के आसन्न है अर्थात् समीपवर्त्ती है उसी प्रकार उन प्राण आदिकों में तारतम्य से संपूर्ण जन प्रीति को देखते हैं॥५९॥

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिंडात्तथेन्द्रियम् ॥
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥६०॥

प्रीति के तारतम्य के अनुभव को स्पष्ट करते हैं कि संपूर्ण प्राणी पुत्र आदि की विपत्ति दूर करने के लिये धन का व्यय करते हैं इससे वित्त से पुत्र प्रिय है और अपने देह की रक्षा करने के लिये कदाचित् पुत्र को भी दे देते हैं इससे पुत्र की अपेक्षा अपना पिंड (देह) प्रिय है और इंद्रियों की रक्षा के लिये ताडन आदि से देह की पीड़ा को भी सहते हैं इससे देह की अपेक्षा इंद्रिय प्रिय है और मरण के प्रसंग में मरणनिवृत्ति के लिये इंद्रियों की विकलता को भी स्वीकार करते हैं जैसे कि गलते पैर को काट देते हैं इससे इंद्रियों की अपेक्षा प्राण प्रिय हैं, इस प्रकार उत्तर उत्तर को अत्यन्त प्रेम का विषय सब जानते हैं और आत्मा तो परम प्रेम का आस्पंद है, यह तत्त्वज्ञानी जानते हैं। भावार्थ यह है कि धन से पुत्र, पुत्र से देह, देह से इंद्रिय, इंद्रिय से प्राणप्रिय होता है और आत्मा प्राण से भी परम प्रिय होता है॥६०॥

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ॥
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥६१॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा को प्रमाणों से अत्यंत प्रिय सिद्ध होने पर भी यहां तत्त्वज्ञानी और मूढ इनके विवाद को दूर करने के लिये श्रुति ने उनका विप्रतिपत्ति (विवाद) दिखाया है उस विवाद में यही निर्णय है कि आत्मा ही अत्यंत प्रिय है॥६१॥

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात्प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ॥
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ॥६२॥

उस विवाद को ही कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी तो यह कहता है कि साक्षी आत्मा से भिन्न जो दृश्य (जगत् उससे आत्मा ही अत्यंत प्रिय है और मूढबुद्धि यह कहता है कि पुत्र आदि ही अत्यंत प्रिय हैं साक्षी तो इनका भोक्ता है।।६२।।

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ।।६३।।

आत्मा से भिन्न को जो प्रिय कहता है उस वादी के उत्तर को कहने के लिये पृथक् २ उन वादियों को ही दिखाते हैं शिष्य और प्रतिवादी ये दोनों आत्मा से अन्य को प्रिय कहें तो उन दोनों को बोध और शाप ही प्रत्युत्तर क्रम से करे।।६३।।

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ।।६४।।

उत्तररूप इस श्रुति* के अर्थ को पढ़ते हैं कि तत्त्वज्ञानी शिष्य और प्रतिवादी जो पूर्वोक्त दोनों हैं उनके प्रति इस एक ही उत्तर को कहे कि हे शिष्य! और हे प्रतिवादिन्! जिस पुत्र आदि को तू प्रिय मानता है वह अपने मरण से तुझे रोदन करावेगा, कदाचित् कहो कि यह एक ही तत्त्वज्ञानी का वचन शिष्य और प्रतिवादी दोनों का उत्तर कैसे हुआ, यह शंका करके प्रथम शिष्य के प्रत्युत्तर को साढ़ेचार ४।। श्लोकों से कहते हैं कि उन दोनों के मध्य में शिष्य तो विवेक से अपने कहे प्रिय को दुष्ट जान लेता है कि।।६४।।

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ।।६५।।
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ।।६६।।
यूनश्च परदारादि दारिद्र्य च कुटुंम्बिनः ।।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ।।६७।।

दोष के विचार को ही दिखाते हैं कि अलभ्यमान (अप्राप्त) पुत्र माता पिता को चिरकाल तक क्लेश देता है और प्राप्त (मिला) हुआ भी गर्भपात और प्रसव से बाधा करता है और पैदा हुए पुत्र को ग्रहों की पीड़ा और कुमार की मूर्खता और यज्ञोपवीत होने पर विद्या का न होना और पंडित भी हो गया तो विवाह का न होना और यौवन अवस्था में परस्त्री के संग और पुत्र के कुटुंबी होने पर दरिद्रता

---

* स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति ।

और धनी पुत्र हो जाय तो मरण के होने पर दुःखदायी होता है इस प्रकार माता पिता के दुःख का अन्त कभी भी नहीं होता है।।६५।।६६।।६७।।

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ।।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ।।६८।।

इस प्रकार यहां पुत्रपद दारा आदि का भी उपलक्षण है। पुत्र आदि विषयों में प्रीति को त्यागकर अर्थात् दोषों को देखकर अपने साक्षीरूप प्रत्यक् आत्मा में परम प्रीति को निश्चय करके प्रत्यक् उस आत्मा को ही शिष्य सदैव देखता है।।६८।।

आग्रहाद्ब्रह्मविद्द्वेषादपि पक्षमसुंचतः ।।
वादिनो नरकः प्रोक्तों दोषश्च बहुयोनिषु ।।६९।।

अब प्रतिवादी के प्रति जो प्रिय तुझे रोदन करावेगा यह उत्तर है उसकी शापरूपता प्रकट करते हैं कि आग्रह से अर्थात् मैंने जो पुत्र आदि को प्रिय कहा है उसको सर्वथा न त्यागूंगा इस हठ से और इसके कहे का खंडन करूंगा इस ब्राह्मण के द्वेष से अपने पक्ष को नहीं छोड़ते हुए वादी को नरक की प्राप्ति और तिर्यक् आदि बहुत योनियों में पुत्र भार्या आदि इष्ट का वियोग और अनिष्ट की प्राप्तिरूप दोष प्रिय तुझे रोदन करावेगा इस उत्तर के दाता ज्ञानी ने कहा है। भावार्थ यह है कि आग्रह और ब्राह्मण के द्वेष से पक्ष को न छोड़ते वादी को नरक और बहुत योनियों में दुःख कहा है।।६९।।

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।।
यद्यत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ।।७०।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी का कहा पूर्वोक्त वचन शिष्य के प्रति उपदेशरूप और वादी के प्रति शापरूप कैसे होगा क्योंकि एक में विरुद्ध दो रूप नहीं घट सकते यह शंका करके इस* वचन के तात्पर्य को कहते हैं कि जिससे ब्रह्मज्ञानी अपने को ब्रह्म का अनुभव होने से ईश्वरूप है इससे उसने जिस शिष्य आदि के प्रति जो २ इष्ट वा अनिष्ट कह दिया है वह २ शिष्य और प्रतिवादी को इष्ट अनिष्टरूपफल ज्ञानी के अभिप्राय के अनुसार अवश्य होता है।।७०।।

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ।।७१।।

---

* ईश्वरो ह तथैव स्यात्।

निषेध मुख से कहे पूर्वोक्त अर्थ के अन्वयमुख से प्रतिपादक (बोधक) इस वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि अनात्म (देह आदि) को प्रिय कहनेवाले से अन्य जो शिष्य हैं वह अपने प्रिय अर्थात् अत्यंत प्रेम के विषय साक्षीरूप आत्मा की ही सेवा करता है अर्थात् स्मरण करता है उस शिष्य आदि का प्रिय माना यह आत्मा प्रतिवादी के माने हुए प्रिय के समान कदाचित् नष्ट नहीं होता अर्थात् जैसे उत्तर के दाता तत्त्वज्ञानी को प्रिय ब्रह्म का सदा भान रहता है इसी प्रकार शिष्य को सदानंदरूप प्रिय ब्रह्म का सदैव भान रहता है। भावार्थ यह है कि जो अत्यंत प्यारे साक्षीरूप आत्मा का स्मरण करता है उसका अत्यंत प्यारा यह आत्म कदाचित् भी नष्ट नहीं होता।।७१।।

परप्रेमास्पदत्वेन परमानंदरूपता ।।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता।।७२।।

इस प्रकार आत्मा को परम प्रेम के आस्पद का हेतु सिद्ध करके फलित का वर्णन करते हैं कि परम प्रेम का आस्पद होने से आत्मा परमानंदरूप है। यहां यह अनुमान है कि आत्मा परमानन्दरूप है, अत्यंत प्रेम का आस्पद होने से, जो परमानंदरूप नहीं होता वह अत्यंत प्रेम का आस्पद भी नहीं होता, जैसे घट आदि। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है। अब परम प्रेम के आस्पदरूप हेतु की आत्मा के परमानंदरूप साधनें में सामर्थ्य दिखाने के लिये प्रीति की वृद्धि में सुख की वृद्धि को कहते हैं कि सम्पूर्ण भूमि के राज्य आदि ब्रह्मलोक पर्यंत जितनी पदवी है उनमें जहां २ प्रीति बढ़ती है वहां २ सुख की वृद्धि है यह तैत्तिरीय और बृहदारण्यक श्रुतियों में कहा है इससे उत्तम प्रीति के होने से आनंद की भी उत्तमता जानने को शक्य है। भावार्थ यह है कि जिससे चक्रवर्ती राज्य आदिं पदवियों में प्रीति की वृद्धि से सुख की वृद्धि सुनी है इससे परम प्रेम का आस्पद होने से आत्मा परमानंदरूप है।।७२।।

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ।।७३।।

वादी शंका करता है कि चिदात्मा का चैतन्य के समान सुख भी यदि स्वभाव (रूप) है तो चैतन्य के समान उस आत्मा के स्वरूपभूत आनंद (सुख) का भी संपूर्ण बुद्धि की वृत्तियों में अनुवर्तन (जाना) हो जायगा इससे आत्मा परमानंदरूप नहीं हो सकता।।७३।।

---

* आत्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते नेहास्य प्रियं आयुकं भवति।

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ।।७४।।

चित् आनंद इन दोनों का आत्मस्वरूप होने पर भी वृत्तियों में चैतन्य की ही अनुवृत्ति होती है आनंद की नहीं यह बात दृष्टांत के बल से कहते हैं यह पूर्वोक्त शंका का समाधान करते हैं कि ऐसा मत कहो क्योंकि जैसे दीपक उष्ण और प्रकाशरूप है पर उसकी प्रभा ही गृह आदि में जाती है उष्णता नहीं जाती इसी प्रकार बुद्धियों की वृत्तियों में चैतन्य (चिति) का ही अनुवर्तन होता है आनंद का नहीं होता।।७४।।

गंधरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ।।७५।।

कदाचित् कहो कि चित् और आनंद ये दोनों एक हैं इससे चैतन्य की व्यंजक (बोधक) जो बुद्धि की वृत्ति हैं उनमें ही आनंद की प्रकटता हो जायगी इस शंका का पूर्वोक्त नियम के अभाव से परिहार करते हैं कि जैसे एक द्रव्य में वर्तमान गंध रूप रस स्पर्श आदि के मध्य में घ्राण आदि एक इंद्रिय से गंध आदि एक ही गुण जाना जाता है अन्य रूप आदि नहीं जाना जाता इसी प्रकार चैतन्य का ही भान होता है, आनंद का नहीं।।७५।।

चिदानंदौ नैव भिन्नो गंधाद्यास्तु विलक्षणाः ।।
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ।।७६।।

अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिक के वैषम्य की शंका करते हैं कि चित् और आनंद ये दोनों भिन्न नहीं है और गंध आदि तो विलक्षण (भिन्न २) है ऐसा कहोगे तो इसमें यह विकल्प है चित् आनंद का और अभेद स्वाभाविक है वा औपाधिक है अर्थात् चित्त आनंद की एकता आत्मस्वरूप साक्षी में है वा साक्षी की उपाधिभूत उपाधियों में है? यह तुम कहो।।७६।।

आद्ये गंधादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।।
अक्षभेदे न तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ।।७७।।

पहले पक्ष में दृष्टांत और दार्ष्टांतिक के साम्य को कहते हैं–प्रथम पक्ष में साक्षी के विषे चित् व आनंद का अभेद मानते हो तो पुष्प में वर्तमान गंध आदि भी इसी प्रकार परस्पर चित् आनन्द के तुल्य अभिन्न हैं, क्योंकि अन्य को छोड़कर एक को नहीं ला सकते अब दूसरे पक्ष में भी साम्यता को कहते हैं कि गंध आदि की ग्राहक इंद्रियों के भेद से गंध आदि का भेद मानोगे तो उसी प्रकार चित् आनंद की व्यंजक

वृत्तियों के भेद से अर्थात् वृत्तियों के रजोगुणी सत्त्वगुणी भेद से चित् आनंद का भी भेद हो जायगा तो कुछ हानि नहीं है।।७७।।

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ।।७८।।

अब चित्त और आनंद इन दोनों का भान कहां होता है इस शंका का उत्तर देते हैं कि शुभकर्म से प्राप्त हुई सत्त्वगुण का परिणामरूप जो बुद्धि की वृत्ति है उसमें चित् और सुख की एकता भासती है क्योंकि वह वृत्ति निर्मलरूप है और रजोगुण का परिणामरूप जो वृत्ति है उसको मलिन होने से उसमें सुखरूप अंश का तिरस्कार होता है अर्थात् सुख नहीं भासता ।।७८।।

तिंतिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।।
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ।।७९।।

अब विद्यमान भी सुख अंश के तिरस्कार में दृष्टांत देते हैं कि जैसे अत्यन्त अम्ल तिंतिणी (इमली) के फल में लवण के योग से अत्यन्त अम्लता (खटाई) का तिरस्कार होता है इसी प्रकार रजोगुणी वृत्ति में आनंद का तिरस्कार (छिपाव) होता है।।७९।।

ननु प्रियतमत्वेन परमानंदतात्मनि ।।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ।।८०।।

अब गूढ अभिप्राय से शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का परमानंद रूप परमप्रेम के आस्पदरूप हेतु से गौण, मिथ्या, आत्मारूप जो प्रिय, उपेक्ष्य, द्वेष्य है उनसे पृथक् जानने को शक्य है तो उस आत्मा के परमानंदरूप को जानो तथापि यह विवेक मुक्ति का हेतु नहीं है क्योंकि अपरोक्षज्ञान के द्वारा मुक्ति का हेतु योग को ही कहा है।।८०।।

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ।।
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ।।८१।।

गूढ़ अभिप्राय से ही उत्तर देते हैं कि जैसे योग अपरोक्षज्ञान का हेतु है ऐसे ही विवेक भी अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है यह गूढ अभिप्राय है अब गूढ अभिप्राय जो शंका समाधान में कहा उसको प्रगट करते हैं कि जैसे पूर्व अध्याय में अपरोक्ष ज्ञान का साधन योग को कहा है इसी प्रकार इस अध्याय में कहा जो गौण आदि आत्मा के विवेकद्वारा पंचकोशों का विवेक उससे भी अपरोक्षज्ञान पैदा होता है भावार्थ यह है कि जो योग से होता है वह विवेक से भी यह हम कहते हैं क्योंकि जैसे ज्ञान का

सिद्धि के लिये योग को कहा है वैसे ही क्या विवेक से ज्ञान नहीं होता अर्थात् अवश्य होता है॥८१॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

अब पूर्वोक्त में प्रमाण कहते हैं कि आत्मा और अनात्मा के विवेकी सांख्य शास्त्र के ज्ञाता जिस मोक्षरूप स्थान को प्राप्त होते हैं योगीजन भी उसी स्थान को प्राप्त होते हैं इस श्रीकृष्णचन्द्र के कहे वाक्य से योगी और विवेकियों का एक ज्ञान के द्वारा मोक्षरूप फल कहा है॥८२॥

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ॥
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३॥

कदाचित् कहो कि विवेक और योग का ही एक ही फल है तो इन दोनों में एक का ही वर्णन शास्त्र में क्यों न कहा यह शंका करके अधिकारी के भेद से दोनों का प्रतिपादन युक्त है इस अभिप्राय से कहते हैं कि किसी को तो योग असाध्य है और किसी को ज्ञान का निश्चय (विवेक) असाध्य है यह विचारकर परमेश्वर ने दो मार्ग कहे हैं॥८३॥

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ॥
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४॥

अत्यंत परिश्रम से साध्य जो योग उससे बिना परिश्रम सुलभ जो विवेक उसे अधिकता कहने योग्य है यह शंका करके उस अधिकता को अपरोक्षज्ञान का जनक होन से कहते हो वा रागद्वेष आदि का निर्वतक होने से अथवा द्वैत की अप्राप्ति का कारण होने से कहते हो ये तीन विंकल्प करके प्रथमपक्ष में फलकी साम्यता को कहते हैं कि जब विवेक और योग का ज्ञानरूप फल समान कह आये हैं तो योग में क्या उत्तमता है अर्थात् कुछ भी नहीं अब दूसरे पक्ष में भी तुल्यता को कहते हैं कि योगी और विवेकी को राग द्वेष आदि का अभाव भी तुल्य है इससे योग विवेक से अधिक नहीं॥८४॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ॥
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

अब विवेकी को राग आदि का अभाव कहते हैं कि आत्मा अत्यंत प्रिय है यह जानते हुए पुरुष की विषयों में प्रीति नहीं होती क्योंकि विषयों में प्रीति की हेतु अनुकूलता का ज्ञान नहीं है और विषयों को प्रतिकूल नहीं देखता जो विवेकी है

उसको विषयों में द्वेष भी नहीं होता।।८५।।

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ।।८६।।

कदाचित् कहो कि व्यवहारदशा में विवेकी को भी देह आदि के उपद्रवकर्ताओं में द्वेष रखते हैं यह शंका करके उसका भी योगी और विवेकी को तुल्यता से परिहार करते हैं कि देह आदि के प्रतिकूल वृश्चिक आदिके विषे जो द्वेष विवेकी को है वह द्वेष तो दोनों को तुल्य है अर्थात् योगी को भी व्यवहारदशा में प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष है यदि प्रतिकूल वृश्चिक आदि में द्वेष के कर्ता को आप योगी नहीं मानते तो उक्त द्वेष का कर्ता विवेकी भी विवेकवान् नहीं होता इससे दोनों तुल्य हैं।।८६।।

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वं विवेकिनः ।।८७।।

कदाचित् कहो विवेकी को द्वैत का ज्ञान है योगी को नहीं इस पूर्वोक्त तीसरे विकल्प में योगी की अधिकता हो जायगी यह शंका करके–विवेकी को द्वैत का ज्ञान व्यवहारदशा में कहते हो वा अन्य काल में ये दो विकल्प करके पहले में दोनों की समानता कहते हैं कि व्यवहारदशा में द्वैत का भान योगी और विवेकी दोनों को समान है यदि यह कहो कि योगी को समाधिकाल में द्वैत का दर्शन नहीं है तो विवेकी को भी अद्वैत ही तत्त्व है इस प्रकार से विवेक की दशा में द्वैत के दर्शन का अभाव है इससे दोनों की तुल्यता है। भावार्थ यह है कि योगी और विवेकी को व्यवहारदशा में द्वैत का भान समान है। कदाचित् कहो कि योगी को समाधि में द्वैत का भान नहीं है तो अद्वैत की विवेकदशा में विवेकी को भी द्वैत का भान नहीं है इससे दोनों तुल्य है।।८७।।

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानंदनामके ।।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमंगलम् ।।८८।।

कदाचित् कहो कि विवेकी को द्वैतज्ञान का अभाव कैसे है यह शंका करके कहते हैंकि वह विवेकी को द्वैतदर्शन का अभाव अद्वैतानंद नामके इससे अगले तीसरे अध्याय में कहेंगे अब पूर्वोक्त अर्थ को पूर्ण करते हैं कि इससे संपूर्ण अत्यंत मंगल है अर्थात् कहीं भी दोष नहीं है।।८८।।

सदा पश्यन्निजानंदमपश्यन्निखिलं जगत् ।।
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्द्धतां भवान् ।।८९।।

कदाचित् कहो कि द्वैत के अज्ञानसहित आत्मज्ञानी योगी हो जायगा यह शंका

करके कहते हैं कि सदैव निजानंद को जो देखे और संपूर्ण जगत् को न देखे वह अर्थात् योगी होता है यह यदि आप कहोगे तो परमेश्वर आपकी संतोष से वृद्धि करे अर्थात् यह हमको भी इष्ट है।।८९।।

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे मंदानुग्रहसिद्धये ।।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानंदो विवेचितः ।।९०।।

अब अध्याय के तात्पर्य को संक्षेप से दिखाते हैं कि मंदबुद्धि जिज्ञासुओं पर अनुग्रह के लिये ब्रह्मानन्दनाम के ग्रंथ में जो यह दूसरा अध्याय है उसमें आत्मानंद का विवेचन किया।।९०।।

इति श्रीमत्परमहंसपरि० विद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे आत्मानंदो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

इति विद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृति-सहितायां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वि० ।।२।।

इति ब्रह्मानंदे आत्मानन्दप्रकरणम् ।।१२।।

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानंदप्रकरणम् १३

योगानंदः पुरोक्तो यः स आत्मानंद इष्यताम् ॥
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१॥

कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद, विद्यानंद, विषयानंद भेद से तीन प्रकार के ही आनंद की प्रतिज्ञा पहले अध्याय में करके द्वितीय अध्याय में आत्मानंद के निरूपण से उसका विरोध होगा यह शंका करके कहते हैं कि जो पहले योगानंद कहा है वही आत्मानंद इष्ट है अर्थात् जैसे प्रतिज्ञा किया ब्रह्मानंद योग से उत्पन्न हुए साक्षात्कार का विषय होने से योगानंदरूप है और निरुपाधिक (उपाधिरहित) होने से निजानंदरूप है वैसे ही उसी ब्रह्मानंद को गौण, मिथ्या, मुख्य आत्मा के विवेक से जानने की इच्छा से आत्मानंदता कही है। कदाचित् कहो कि सजातीय पुत्र, भार्या आदिरूप गौंण आत्मा से और मिथ्या आत्मरूप देह आदि से विजातीय आकाश आदि से भिन्न जो द्वैतसहित आत्मानंद है वह प्रथम अध्याय में कहे अद्वितीय योगानंदरूप नहीं हो सकता यह शंका करते हैं कि यह सद्वितीय आत्मानंद ब्रह्मानंद कैसे हो सकता है? इस शंका का उत्तर देते हैं कि सजातीय माने हुए गौण आत्मारूप पुत्र आदि और मिथ्यारूप देह आदि और तैत्तिरीय श्रुति में कहे जगत् के अन्तर्गत आकाश आदि और जगत् ये सब आत्मानंद के बिना असत् (मिथ्या) हैं इससे सद्वितीय आत्मानंद अद्वितीय ब्रह्मरूप हो सकता है इस आशय से बहुत मानपूर्वक उत्तर देते हैं कि सुनो! भावार्थ यह है कि जो पहले अध्याय में योगानन्द कहा है वही आत्मानंद इष्ट है। कदाचित् कहो कि द्वैतसहित उसको ब्रह्मत्व कैसे है इसका उत्तर सुनो कि॥१॥

अकाशादिस्वदेहांतं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ॥
जगन्नास्त्यन्यदानंदादद्वैतब्रह्मता ततः ॥२॥

उस* इस आत्मा से आकाश हुआ इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से कहा जो आकाश

---

* तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।

आदि स्वदेह पर्यंत जगत् है वह आनंद से भिन्न जिससे नहीं है इससे वह आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप है॥२॥

आनंदादेव तज्जातं तिष्ठत्यानंद एव तत् ॥
आनंद एव लीनं चेत्युक्तानंदात्कथं पृथक् ॥३॥

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य में आत्मा को कारण कहा है आनंद को नहीं यह शंका करके तैत्तिरीय श्रुति के ही इस* वाक्य के अर्थ को पढते हैं कि आनंद से ही यह जगत् पैदा होता है, आनंद में ही टिकता है और आनन्द में ही लीनहोता है इससे पूर्वोक्त आनंद से पृथक् कैसे हो सकता है। यहां यह अनुमान है कि विवाद का स्थान जगत् आनंद से भिन्न नहीं है, आनंद का कार्य होने से जो २ कार्य होता है वह २ अपने कारण से भिन्न नहीं होता जैसे मिट्टी का कार्य घट मिट्टी से भिन्न नहीं होता है॥३॥

कुलालाद्धट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शंक्यताम् ॥
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

कुलाल से पैदा हुए भी घट को कुलाल से भिन्न देखते हैं इससे पूर्वोक्त अनुमान में जो हेतु है वह व्यभिचारी है अर्थात् कार्य कारण से भिन्न नहीं होता यह नियम नहीं है शंका न करो क्योंकि यह आनंद पृथिवी के समान उपादान कारण है कुलाल के समान निमित्त कारण नहीं॥४॥

स्थितिर्लयश्च कुंभस्य कुलाले स्तो नहि क्वचित् ॥
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥५॥

कदाचित् कहो कि कुलाल को उपादान का कारण क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि स्थिति और लय के आधार को उपादान कहते हैं यह उपादान का लक्षण उसमें नहीं घटता जिस कारण से घट की स्थिति और लय का आधार कुलाल नहीं होता इससे कुलाल घट का उपादान नहीं है और घट की स्थिति और लय ये दोनों भूमि में ही देखते हैं इससे भूमि जैसे घट का उपादान है इसी प्रकार आनंद भी जगत्

---

* आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंते आनंदं प्रत्यन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

का उपादान है क्योंकि जगत् की स्थिति और लय ये दोनों 'आनंदाद्ध्येव०' इस पूर्वोक्त वचन में आनंद में ही सुने हैं।।५।।

उपादानं त्रिधा भिन्न विवर्ति परिणामि च ।।
आरंभकं च तत्रांत्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ।।६।।

अब आनंद को अपने को इष्ट जगत् का उपादान कहने के लिये उपादान के अवांतर भेदों को कहते हैं कि विवर्ती और परिणामी और आरम्भक भेद से उपादान तीन प्रकार का होता है। उन तीनों में विवर्त को ही शेष के लिये अन्य दो पक्षों में दोष देते है कि उन तीनों पक्षों में अंत्य के जो आरंभ और परिणामि पक्ष हैं उन दोनों का निरवयव वस्तु (ब्रह्म) में अनवकाश है अर्थात् नहीं घट सकते हैं।।६।।

आरंभवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।।
तंतोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तंतुपटौ खलु ।।७।।

उन दोनों पक्षों का अनवकाश दिखाने के लिये प्रथम आरंभवादी के मत का अनुवाद करते हैं कि वैशेषिक आदि जो आरभवादी हैं वे अन्य से अन्य की ही उत्पत्ति को कहते हैं अर्थात् कारण की अपेक्षा भिन्न ही कार्य उत्पन्न होता है यह मानते हैं क्योंकि तंतु से पट की उत्पत्ति को देखते हैं। कदाचित् कहो कि ऐसे देखने से कार्यकारण का भेद कैसे सिद्ध हो सकता सो ठीक नहीं क्योंकि तंतु और पट ये दोनों निश्चय से भिन्न हैं क्योंकि दोनों का परिणामि उपादान भिन्न २ है और भिन्न २ अर्थ और क्रिया को करते हैं। भावार्थ यह है कि आरंभवादी अन्य से अन्य की उत्पत्ति को कहते हैं क्योंकि तंतु से पट की उत्पत्ति होती है इससे निश्चय है कि तंतु और पट भिन्न २ हैं।।७।।

अवस्थांतरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।।
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुंभः सुवर्णं कुंडलं यथा ।।८।।

अब परिणाम का स्वरूप कहते हैं कि एक ही वस्तु यदि पूर्व अवस्था को त्यागकर अन्य अवस्था को प्राप्त हो जाय उसे परिणाम कहते हैं जैसे दूध दही मिट्टी घट और सुवर्ण कुंडल हो जाता है अर्थात् ये दूध आदि 'दूध है' इस आदि व्यवहार योग्यता को छोड़कर दही आदि व्यवहार की योग्यता को प्राप्त हो जाते हैं।।८।।

अवस्थांतरभानं तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत् ।।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ।।९।।

अब विवर्तका लक्षण कहते हैं कि पूर्व अवस्था को न छोड़कर जो अन्य अवस्था का भान (प्रतीति) उसे विवर्त कहते हैं जैसे रज्जुरूप से स्थित ही द्रव्य सर्परूप से प्रतीत होता है। कदाचित् कहो कि विवर्तभाव को प्राप्त रज्जु आदि तो सावयव है निरवयव ब्रह्म में विवर्त उपादान भी न घटेगा सो ठीक नहीं क्योंकि निरवयव में भी यह विवर्त होता है क्योंकि अवयव रहित आकाश में तल (नीचे मुख के कटाह की तुल्यता) और मालिन्य (नीलवर्ण) इन दोनों की कल्पना वे करते हैं जो आकाश के स्वरूप को नहीं जानते इससे ब्रह्म विवर्त उपादान है आतात्त्विक (झूठी) अन्यथा प्रतीति को विवर्त और तात्त्विक (सच्ची) अन्यथा प्रतीति को परिणाम कहते हैं। भावार्थ यह है कि अन्य अवस्था मे भान रज्जु सर्प के समान विवर्त होता है और वह आकाश में तल और मालिन्य की कल्पना से निरवयव में भी होता है।।९।।

ततो निरंश आनंदे विवर्तो जगदिष्यताम् ।।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैंद्रजालिकशक्तिवत् ।।१०।।

अब फलित को कहते हैं कि जिससे निरवय में भी विवर्त हो सकता है इससे निरवयव आनंद में जगत् विवर्त (कल्पित) मानो कदाचित् कहो कि अद्वितीय आनंद में कल्पनाकर्ता के अभाव से जंगत् की कल्पना नहीं बन सकती सो ठीक नहीं, क्योंकि मायारूप शक्ति ऐंद्रजालिक की शक्ति के समान कल्पना करनेवाली है अर्थात् जैसे इंद्रजाली मनुष्य में विद्यमान मणि मंत्र आदिरूप मायारूप शक्ति गंधर्वनगर आदि की कल्पना करती है वैसे ब्रह्म की शक्तिरूप माया जगत् की कल्पना कर लेती है।।१०।।

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।।
प्रतिबंधस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ।।११।।

कदाचित् कहो कि आनंदरूप आत्मा से भिन्न माया को मानोगे तो द्वैत हो जायगा यह शंका करके अनिर्वचनीयरूप माया को अनृत (मिथ्या) कहने के लिये आगे जो लौकिक अग्नि आदि की शक्ति कहेंगे प्रथम उसको ही भेदरूप से वा अभेदरूप से नहीं कह सकते यह दिखाते हैं स्फोट (फलोला) आदि की उत्पादक जो

अग्नि आदि में वर्तमान शक्ति है वह शक्ति (अग्नि आदि के रूप) से भिन्न नहीं है क्योंकि भिन्न शक्ति को नहीं देखते हैं अर्थात् अग्नि के स्वरूप से पृथक् शक्ति प्रतीत नहीं होती है और अग्नि से अंभिन्न (अग्निरूप) भी शक्ति नहीं है क्योंकि मणि मंत्र आदि के अग्नि का कार्य जो स्फोट आदि है इसका प्रतिबंध देखते हैं, इससे यह मानो कि अग्निके स्वरूप से भिन्न शक्ति है कदाचित् कहो कि प्रतिबंध भी दीखे और शक्ति भिन्न भी न हो तो क्या दोष है सो ठीक नहीं क्योंकि शक्ति के अभाव में प्रतिबंध किसका होगा अर्थात् प्रत्यक्ष दीखते हुए अग्नि आदि के स्वरूप का तो प्रतिबंध असंभव है, उस स्वरूप से भिन्न शक्ति न मानोगे तो प्रतिबंध किसका होगा भावार्थ यह है कि शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं हैं क्योंकि भिन्न दीखती नहीं और प्रतिबंध के देखने से अभिन्न भी नहीं क्योंकि शक्ति के अभाव में प्रतिबंध किसका होगा।।११।।

शक्तः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबंधनम् ।।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मंत्रादिप्रतिबंधता ।।१२।।

कदाचित् कहो कि अतींद्रिय शक्ति का प्रतिबंध कैसे होगा सो ठीक नहीं क्योंकि अतींद्रिय भी शक्ति जिससे कार्यरूप हेतु से जानी जाती है इससे कारण के विद्यमान रहेत भी कार्य के न होने से प्रतिबंध जाना जाता है इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि जलती हुई अग्नि से दाह आदि कार्य के न होने पर मंत्र आदि शक्ति के प्रतिबंधक हो सकते हैं।।१२।।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा मुनयोऽविदन् ।।
परास्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञानफलात्मिका ।।१३।।

इस प्रकार लौकिक शक्ति के स्वरूप और प्रमाण को दिखाकर अब मायाशक्ति के होने में इस* श्वेताश्वेतर उपनिषद्वाक्य के अर्थ को पढते हैं कि जगत् के कारणों के ज्ञानार्थ ध्यानयोग में भले प्रकार स्थित और काल स्वभाव आदि भी कारण हैं ये जो कारणों के मत हैं उनमें दोष के द्रष्टा वे मुनीश्वर अपने कार्यरूप जो स्थूल सूक्ष्म शरीर हैं उनसे निरंतर गूढ (छिपी) हुई स्वप्रकाश चिदात्मा (प्रत्यक् से अभिन्न) ब्रह्म की शक्ति को जानते हुए अब उसी उपनिषद् के इस वाक्य का जो अर्थ उसको पढते हैं कि, इस ब्रह्म की परम (उत्तम) जगत् का कारण जो शक्ति है वह अनेक प्रकार की सुनी जाती है अब अनेक प्रकारों को ही दिखाते हैं कि, ज्ञान क्रिया बलरूप

---

* ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

अर्थात् ज्ञान क्रिया ये दोनों प्रसिद्ध हैं और बल से इच्छाशक्ति लेना और ज्ञान क्रियाशक्ति के साहचर्य से क्रिया आदि शक्ति जिसका रूप है जिसके ऐसी क्रिया, ज्ञान, बलरूप उस ब्रह्म की शक्ति है। भावार्थ यह है कि अपने गुणों से छिपी जो स्वप्रकाश चिदात्मा की शक्ति है उसको मुनियों ने जाना और इस ब्रह्म की क्रिया ज्ञान बलरूप से अनेक प्रकार की श्रेष्ठ है॥१३॥

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ॥
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

अब पूर्वोक्त दोनों वचनों का स्थान कहते हैं कि, यह पूर्वोक्त बात वेद के वचन में कही है और केवल वेद में ही प्रसिद्ध माया नहीं है किंतु स्मृति में भी प्रसिद्ध है ग्रंथ में कि, जिस श्रुति*ने विचित्र मायाशक्ति कही है इसी प्रकार वसिष्ठ ने भी योगवासिष्ठ ग्रंथ में कही है अब माया के बोधक योगवासिष्ठ के ही श्लोकों को पढ़ते हैं कि, परब्रह्म सर्वशक्ति है अर्थात् उस ब्रह्म का सोपाधिक रूप सर्वशक्ति है और वह नित्य आपूर्ण और अद्वय है अर्थात् ये ब्रह्म के पारमार्थिक रूप हैं। भावार्थ यह है कि, यह वेदवाक्य ने कहा है और वैसे ही वसिष्ठ ने कहा है कि, वह परब्रह्म सर्वशक्ति है और नित्य पूर्ण अद्वितीय है॥१४॥

ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ॥
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥

वह परब्रह्म जिस काल में जिस मायाशक्ति से उल्लास (विवर्त) को प्राप्त होता है तव २ वही २ शक्ति प्रकाशता को प्राप्त होती है अर्थात् प्रकट हो जाती है प्रकटता को ही दिखाते हैं कि, हे राम! ब्रह्म की चिद्रूप जो शक्ति है वह देव तिर्यक् मनुष्यरूप शरीरों में चेतन व्यवहार का हेतु होने से दीखती है अर्थात् मिलती है॥१५॥

स्पंदशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ॥
द्रवशक्तिस्तथांभः सु दाहशक्तिस्तथानले ॥१६॥

और पवन में चलने की हेतु स्पंदशक्ति और वैसे ही पत्थर में दृढताशक्ति और जल में द्रव (वहना) शक्ति और अग्नि में दाहशक्ति प्रकाश को प्राप्त होती है प्रकाश होने के कहने से अप्रकट अवस्था में भी ब्रह्म में जगत् की सत्ता दिखाई॥१६॥

---

* परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।।
यथांडेऽतर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ।।१७।।

और वैसे ही आकाश में शून्यशक्ति और विनाशी पदार्थ में नाशशक्ति प्रकाश होती है अब अप्रकट पदार्थ की भी सत्ता में दृष्टांत देते हैं कि, जैसे अंडे के मध्य में महान् सर्प है इसी प्रकार आत्मा में जगत् है।।१७।।

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।।
ननु बीजें यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ।।१८।।

अब विचित्रि पदार्थ की भी सत्ता में दृष्टांत देते हैं कि जैसे फल पत्र लता पुष्प शाखा विटप (डाले) मूल ये सब हैं जिसमें ऐसा वृक्ष बीज में है वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में स्थित है।।१८।।

क्वचित्काश्चित्कदाचिच्च तस्मादुद्यंति शक्तयः ।।
देशकालविचित्रत्वात्क्ष्मातलादिव शालयः ।।१९।।

कदाचित् कहो कि, संपूर्ण शक्तियों की एक बार ही प्रकटता क्यों नहीं होती सो ठीक नहीं क्योंकि, किसी देशविशेष में और किसी कालविशेष में कोई शक्ति आदि उदय होती है सब एक ही बार नहीं होती सबकी एकबार अनुत्पत्ति में दृष्टांत देते हैं कि देशकाल की विचित्रता से जैसे शाली (सांठी चावल) होते हैं अर्थात् जैसे भूमि में वर्तमान सब बीजों के मध्य में देश और काल विशेष में किन्हीं २ बीजों से ही अंकुरों की उत्पत्ति होती है सबसे सबकी नहीं।।१९।।

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः ।।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ।।२०।।

अब जगत् को कल्पनामात्ररूप दिखाने के लिये प्रथम जगत् के कल्पक मन के रूप को दिखाते हैं कि सब काल में प्रकाशमान है देश काल आदि परिच्छेद से रहित शरीर (रूप) जिसका ऐसा वह आत्मा जिस काल में मननी अपने और परके जाननेवाला माया के परिणामरूप शक्ति को धारण करता है तब मन कहा जाता है।।२०।।

आदौ मनस्तदनु बंधविमोक्षदृष्टी ।।
पश्चात्प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ।।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग बालजनोदितेव ।।२१।।

अब कल्पना के प्रकार को कहते हैं कि, प्रथम मनन शक्ति के उल्लास से मन होता

है फिर बंध और मोक्ष की कल्पना होती है और उसके पश्चात् बंधमोक्ष की दृष्टि से भुवन है नाम जिसका ऐसे गिरिनगर आदि प्रपंच की रचना (कल्पना) होती है इत्यादि (यह) जो जगत् की स्थिति है वह प्रतिष्ठा (स्थिरता) को प्राप्त इस प्रकार हुई जैसे हे सुभग! बालकजन के प्रति वर्णन की हुई कथा वास्तव बुद्धि को प्राप्त होती है अर्थात् वैसे ही झूठा यह जगत् है॥२१॥

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ॥
क्वचित्सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥२२॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ॥
वसंति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ॥
गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ॥
सुखमद्य स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः ॥२५॥
धात्र्येति कथिता राम बालकाख्यायिका शुभा ॥
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥२६॥

उसी वशिष्ठ की कथा को कहते हैं कि, बालक के विनोद के लिये धात्री (माता) शुभ कथा को कहती है कि, हे महाबाहो! कहीं शुभ तीन राजा के पुत्र हैं उन तीनों में दो तो पैदा ही नहीं हुए और एक गर्भ में ही स्थित नहीं हुआ और धर्म से युक्त वे तीनों अत्यंत असत् (झूठे) नगर में बसते हैं वे कदाचित् अपने शून्य नगर से निकल कर गमन करते हुए आकाश में फलवाले वृक्षों को देखते हुए और उस भविष्यत् नगर में मृगया खेलते हुए वे तीनों राजा के पुत्र अब सुख से वर्तमान हैं जब धात्री ने बालक के प्रति यह बालकों की शुभ कथा कही तब वह बालक निर्विचार (विचारशून्य) बुद्धि से निश्चय को प्राप्त हो गया॥२२॥२६॥

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ॥
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥

अब दृष्टांत से सिद्ध अर्थ का दार्ष्टांतिक में युक्त करते (घटाते) हैं कि, विचार से रहित मनुष्यों को यह संसार की रचना बालकों की पूर्वोक्त कथा के समान इस प्रकार स्थिति (दृढता) को प्राप्त हो गई है जैसे सच्ची बात हो जाती है॥२७॥

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।।
वसिष्ठःकथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ।।२८।।

अब वशिष्ठ के कथन को समाप्त करते हैं कि, इत्यादि अनेक इतिहासों से मायाशक्ति का विस्तार वशिष्ठजी ने वर्णन किया ऐसे माया के होने में प्रमाण को कहकर माया को अनिर्वचनीय कहने की प्रतिज्ञा करते हैं कि उस माया को ही शक्ति कहते हैं।।२८।।

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।।
स्फोटांगारो दृश्यमानो शक्तिस्तत्रानुमीयते ।।२९।।

यह मायारूप शक्ति अपने कार्यरूप जगत् और अपने आश्रयरूप ब्रह्म से विलक्षण अर्थात् विपरीत स्वभाववाली है अब मायाशक्ति की कार्य और आश्रय से विलक्षणता को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं कि अग्नि में वर्तमान शक्ति का जो स्फोटरूप कार्य है और आश्रयरूप जो अंगार है वे दोनों प्रत्यक्ष हैं और शक्ति का तो कार्य से अनुमान होता है इससे कार्य और आश्रय दोनों से शक्ति विलक्षण है।।२९।।

पृथुबुध्नोदराकारौ घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।।
शब्दादिभिः पंचगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ।।३०।।

पूर्वोक्त न्यायको मिट् टीकी शक्ति में भी युक्त करते हैं कि, पृथुबुध्न (गोल स्थूल) है उदर जिसका ऐसा आकारवाला घट कार्य होता है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच गुणों से जो युक्त है वह इस घट में पृथिवी आश्रय (कारण) रूप है और शक्ति, कार्य और आश्रय दोनों से विलक्षण है।।३०।।

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।।
अत एव ह्यचिंत्यैषा न निर्वचनमर्हति ।।३१।।

विलक्षणता को ही कहते हैं कि शक्ति में पृथु आदि कार्य का धर्म नहीं है और शब्द आदि आश्रय का धर्म भी नहीं है इससे दोनों से विलक्षण है इससे यथा तथा (जैसे ही वैसी) रहे इससे यह शक्ति अचिंत्य है कदाचित् अचिंत्य ही शक्ति का रूप हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि भेदरूप से वा अभेदरूप से वा अचिंत्यरूप से जिस किसी प्रकार से निर्वचन के योग्य नहीं अर्थात् कहने में नहीं आती।।३१।।

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ।।३२।।

कदाचित् कहो कि यदि शक्ति कारण के स्वरूप से भिन्न है तो कारण के स्वरूप के तुल्य क्यों नहीं भासती सो ठीक नहीं क्योंकि पृथिवी की शक्ति कार्य की उत्पत्ति से

पूर्व पृथिवी में निगूढ (छिपी हुई) रहती है इससे नहीं भासती कदाचित् कहो कि निगूढ मानोगे तो पीछे से उसकी प्रकटता न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे दूध में अप्रकट भी नवनीत आदि की मथने आदि से प्रकटता होती है ऐसे ही कुलाल, दंड, चक्र आदि की सहायता से वह शक्ति भी विकार के आकार को प्राप्त होती है।।३२।।

पृथुत्वादिविकारांतं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ।।३३।।

कदाचित् कहो कि कारण से भिन्न शक्ति का कार्य मानोगे तो कार्य कारण का भेद क्यों प्रतीत नहीं होता इस शंका का उत्तर विचार के अभाव से देते हैं कि पृथुत्व आदि विकार पर्यंत और स्पर्श आदि और मृत्तिका इन सबको एक करके विचार शून्य जन घट कहते हैं अर्थात् सबके समुदाय को घट मान लेते हैं।।३३।।

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुंभता ।।३४।।

घट का पूर्वोक्त जो व्यवहार उसके विचारमूलक होने में हेतु को कहते हैं कि कुलाल के व्यापार से पूर्वभावी जो मिट्टीका अंश घट से भिन्न है उसका घटरूप से व्यवहार नहीं होता इससे घट व्यवहार का मूल अविचार है और कुलाल के व्यापार से पीछे जो पृथुबुध्न आकार है वही घट शब्द का अर्थ है, क्योंकि उस आकार की उत्पत्ति के अनंतर ही घटव्यवहार को देखते हैं। भावार्थ यह है कि कुलाल के व्यापार से पूर्व जो अंश है वह घट नहीं है और कुलाल के व्यापार के अनंतर जो पृथुबुध्नोदर है वही घटयुक्त है।।३४।।

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।।
नाप्यभिन्नः पुरा पिंडदशायामनवेक्षणात् ।।३५।।

कदाचित् कहो कि पारमार्थिक जो घट वह अनिर्वचनीय शक्ति का कार्य मानना युक्त नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि घट पारमार्थिक नहीं हो सकता वह घट मिट्टीसे भिन्न हीं है क्योंकि मिट्टीसेपृथक् दीख नहीं सकता और अभिन्न अर्थात् मिट्टीरूप भी नहीं है क्योंकि पिंडअवस्था में उपलब्ध (प्राप्त) नहीं हो सकता।।३५।।

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ।।३६।।

इससे यह घट शक्ति के समान अनिर्वचनीय है इसीसे शक्ति से उत्पन्न है कदाचित् कहो कि शक्ति और कार्य दोनों अनिर्वचनीय है तो शक्ति और कार्य यह भिन्न भिन्न

व्यवहार किससे होता है सो ठीक नहीं क्योंकि अव्यक्त अवस्था में शक्ति कहते हैं और व्यक्त अवस्था में घट नाम हो जाता है।।३६।।

एंद्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ।।
पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ।।३७।।

कदाचित् कहो कि पूर्व अप्रकट शक्ति पीछे से प्रकट होती है यह माया का स्वरूप कहीं प्रसिद्ध नहीं है सो ठीक नहीं है क्योंकि इंद्रजाली की माया भी मणि मंत्र आदि के प्रयोग से पहले कहीं भी प्रगट नहीं होती और पीछे गंधर्वनगर आदि रूप से प्रगट हो जाती है।।३७।।

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।।
विकाराधारमृद्वस्तु सत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ।।३८।।

शक्ति का कार्य घट आदि मिथ्या और शक्ति का आश्रय मिट्टी आदि सत्य है यह छादाग्यश्रुति में भी कहा है कि माया का कार्य होने से घट आदि विकार का मिथ्यारूप और घट आदि विकारों का आधाररूप जो मिट्टी है वह सत्यरूप है यह छांदोग्य की इस श्रुति* में कहा है कि वाणी से कहनेमात्र जो नाम वह विकार है अर्थात् मिथ्या है और मृत्तिका ही सत्य है।।३८।।

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ।।३९।।

अब 'वाचारंभणम्' इस पूर्वोक्त वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि वाणीरूप इंद्रिय से उच्चारण किया जो नाममात्र है इससे यह घट आदि सत्य नहीं है अर्थात् नाम से भिन्न इनका पारमार्थिक (सत्य) रूप कोई नहीं है और स्पर्श आदि पांच गुणों से युक्त जो पृथिवी है आश्रयरूप वही सत्य है और यह सत्यता भी व्यवहारदशा में ही है वस्तुतः वह भी मिथ्या है।।३९।।

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ।।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ।।४०।।

अब शक्ति और उसके कार्य मिथ्या है और उनका आधार सत्य है इसमें हेतु को कहते हैं कि घट आदिरूप व्यक्त कार्य और उसका कारणरूप अव्यक्त शक्ति और इन दोनोंका आधाररूप मिट्टी इन तीनों के मध्य में प्रथम कहे हुए दो के संबंधी जो काल है उनका भेद विद्यमान है इससे उन दोनों का पर्याय (क्रम से होना) होता है और

---

* वाचारंभणं विकरो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

उन दोनों का आधार जो मिट्टी है वह दोनों में अनुगत है अर्थात् शक्ति और कार्य ये दोनों कदाचित् होने से मिथ्या हैं और इनका आधार तीनों काल में अनुगत होने से सत्य है।।४०।।

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ।।४१।।

अब विकार के ही मिथ्यात्व में तीन हेतु कहते हैं कि व्यक्त शब्द का अर्थ जो घट आदि कार्य है वह स्वरूप से असत् ही भासता है और उत्पत्ति नाशवाला दीखता है और उत्पत्ति के अनंतर ही वाणी से मनुष्य उसका घट इस नाम से व्यवहार करते हैं इससे घट मिथ्या है।।४१।।

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ।।४२।।

और व्यक्त (प्रकट) जो कार्य स्वरूप घट है उसके नष्ट होने पर भी शब्द का प्रयोग करनेवाले जो मनुष्य उनके मुख में यह घट शब्द वर्तता है इससे नाम से ही व्यवहार के योग्य होने से घट आदिरूप जो व्यक्त है वह नाम रूप ही कहा जाता है यहां यह अनुमान है कि विवाद का आस्पद जो घट वह घट शब्दरूप होने योग्य है घटशब्द से व्यवहार के योग्य होने से घटशब्द के समान।।४२।।

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारंभणनामतः ।।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ।।४३।।

इस प्रकार तीन हेतुओं के सिद्ध करके अनुमान की रचना के प्रकार को सूचित करते हैं घट आदिरूप कार्य का जो पृथुबुध्नोदराकार (वर्तुल और स्थूल उदार) है वह किंचित् भी सत्य नहीं क्योंकि उसका कोई वास्तवरूप नहीं और वह मिट्टीके विद्यमान रहते भी नष्ट हो जाता है और वाणी से पैदा हुआ जो शब्द तद्रूप है यहां यह अनुमान है कि घट आदिरूप कार्य मिथ्या होने योग्य है, निस्तत्त्व होने से जैसे घट आदिका उपादान मिट्टी यह केवल व्यतिरेकी है इसी प्रकार अन्य भी दोनों हेतुओं में समझना।।४३।।

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।।
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ।।४४।।

इस प्रकार विकार को मिथ्या कहकर अब विकार का आश्रय जो मिट्टी उसके सत्यत्व दिखाते हैं कि व्यक्त की स्थिति के समय और व्यक्त की उत्पत्ति से पूर्व और व्यक्त के नाश होने के अनंतर भी एकरूप होने से वास्तवरूप से युक्त है और विकार

के संग नाशरहित जो मिट्टीरूप वस्तु वह सत्य कहती है। यहां यह अनुमान है कि विवाद का स्थान मृत् वस्तु सत्य होने योग्य है, तत्त्वसहित होने से, आत्मा के समान।।४४।।

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ।।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ।।४५।।

कदाचित् कहो कि घट आदि कार्य के समूह को असत्य मानोगे तो वह आरोपित रजत आदि के समान अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित हो जायगा यह शंका करते हैं कि व्यक्त (प्रगट) घट और विकार इन तीन नामों से कहा जो अर्थ (कार्यरूप) उसकी कारण से भिन्न सत्ता न मानोगे तो मिट्टीरूप कारण से ज्ञात होने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती?।।४५।।

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ।।४६।।

इष्टापत्ति मानकर उक्त शंका का परिहार कहते हैं कि जिस कारण घट आदि के विषे तेरी सत्यबुद्धि नष्ट हो गयी इससे वह घट निवृत्त ही हो गया। कदाचित् कहो कि आरोप किये रजत आदि रूप की ही अप्रतीति देखते हैं सत्य बुद्धि का नाश नहीं देखते सो ठीक नहीं क्योंकि वह निरुपाधिक भ्रम है इससे वहां प्रतीति रहे। यहां सोपाधिक भ्रम में तो सत्यबुद्धि के अपगम (दूर होना) को ही निवृत्ति कहते हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं कि बोध से पैदा हुई जो ऐसी निवृत्ति है वही सोपाधिक भ्रम में होती है स्वरूप की अप्रतीति नहीं होती है अर्थात् अधिष्ठान के यथार्थरूप के ज्ञान से घट आदि कार्य की निवृत्ति ही माननी, भान का अभाव नहीं मानना। भावार्थ यह है कि जिससे तेरी सत्यरूप घट है यह बुद्धि गयी इससे घट निवृत्त ही है, क्योंकि बोध से उत्पन्न ऐसी निवृत्ति ही यहां होती है, अभान नहीं होता।।४६।।

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ।।४७।।

पूर्वोक्त निवृत्ति के स्थल को दिखाते हैं कि जल में अधोमुख दीखता हुआ भी पुरुष परमार्थ से नहीं है क्योंकि किसी विवेकी वा अविवेकी मनुष्य की उस अधोमुख पुरुष में तट पर स्थित पुरुष के समान आस्था अर्थात् सत्य यह अभिमान किसी देश वा काल में नहीं है।।४७।।

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।।
मृद्रूस्यापरित्यागाद्विवर्तत्व घटे स्थितम् ।।४८।।

कदाचित् कहो कि घट आदि के केवल असत्यज्ञान से पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि न होगी सो ठीक नहीं क्योंकि अद्वैतवादियों ने आत्मानंद से भिन्न सबके मिथ्या निश्चय होने पर अद्वितीय आनंद की अभिव्यक्ति (प्रकटता) रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, माना है। कदाचित् कहो कि घट मिट्टीका विवर्त सिद्ध हुआ और मिट्टीके ज्ञान से घट की सत्यत्वबुद्धि भी निवृत्त हो गयी परंतु यह अब तक सिद्ध नहीं हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि मिट्टी के रूप का परित्याग नहीं होता इससे घट विवर्त सिद्ध हुआ।।४८।।

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुंडलयोर्नहि ।।४९।।

कदाचित् कहो कि घट में मिट्टीके रूप का परित्याग मत हो परंतु घट को मृत् (मिट्टी) का परिणाम क्या नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि जहां दूध आदिमें परिणाम मानते हैं वहां दूध आदि जो पूर्वरूप है उसका त्याग देखते हैं। कदाचित् कहो कि विवर्त में पूर्वरूप के त्याग का अभाव कहां देखा है सो ठीक नहीं क्योंकि मृत् और सुवर्ण के विवर्त जो घट और कुंडल हैं उनकी उत्पत्ति होने पर भी उनके कारणरूप मृत और सुवर्णरूप निवृत्त नहीं होते। भावार्थ यह है कि परिणाम में कारण का पूर्वरूप दूध के समान नष्ट हो जाता है और घट और कुंडल में मृत् और सुवर्ण की निवृत्ति नहीं होती।।४९।।

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ।।५०।।

अब घट मृत् का विवर्त नहीं हो सकता क्योंकि घट के नाश होने पर फिर मृत रूप नहीं देखते इस शंका को करते हैं कि कपालों को ही घट के नाश पीछे देखते हैं, इससे घटनाश होने पर मृतरूप नहीं रहता, कपालों के नाश होने पर मृतरूप दीखता है, इस आशय से उक्त शंका का परिहार करते हैं कि चूर्ण होने पर मिट्टीका रूप है इससे ऐसा मत कहो और कुण्डल में सुवर्ण का रूप तो अत्यन्त स्फुट है।।५०।।

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।।
एतावता मृदादीनां दृष्टातत्व न हीयते ।।५१।।

कदाचित् कहो कि परिणाम में दृष्टांत कहे जो दूध, मृत, सुवर्ण आदि हैं उनके मध्य में यदि मृत् और सुवर्ण का विवर्त का दृष्टांत माना तो वैसे ही दूध भी दृष्टांत हो जायगा इस शंका को करके कहते हैं कि पुनः (फिर) दही होने के अनंतर दूध का

रूप नहीं हो सकता, इससे दूध आदि में परिणाम रहे। कदाचित् कहो कि दूध के समान अन्य अवस्था को प्राप्त हुए मृत्सुवर्ण हैं वे भी दृष्टांत न होंगे सो ठीक नहीं क्योंकि इतने से अर्थात् दूध आदि को परिणामी होने से मृत् सुवर्ण आदि को दृष्टांत होने में कुछ हानि नहीं है। तात्पर्य यह है कि दूध अपनी पूर्व अवस्था को त्यागकर अन्य अवस्था को प्राप्त होता है, इससे परिणामी है और मृत्सुवर्ण अन्य अवस्था के प्राप्त होने पर भी पूर्वरूप को नहीं त्यागते हैं इससे विवर्त है। भावार्थ यह है कि फिर दूध का रूप न होने से दूध आदि में परिणाम रहे ऐसा होने पर मृत आदि का दृष्टांत मानने में कुछ हानि नहीं है।।५१।।

आरंभवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ।।५२।।

कदाचित् कहो कि मृत और सुवर्ण को परिणाम विवर्त के समान आरंभक भी क्यों अंगीकार नहीं करते सो ठीक नहीं क्योंकि आरंभवादी के मत में घटआदि रूप कार्य में मृत्तिका आदि द्रव्य का दैगुण्य हो जायगा अर्थात् कार्य और कारण इन दोनों के आकार से मृत्तिका भी दूनी हो जायगी और ऐसा मानने पर गुरुत्व आदि भी दूने हो जायंगे क्योंकि कार्य और कारण के रूप और स्पर्श आदि पृथक् पृथक् कहे हैं। भावार्थ यह है कि आरंभवादी के मत में कार्य में मृत्तिका दूनी हो जायगी क्योंकि कार्य कारण के रूप स्पर्श आदि पृथक् पृथक् होते हैं।।५२।।

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टांतत्रयमारुणिः ।।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ।।५३।।

कदाचित् कहो कि क्या विवर्त में मृत् और सुवर्ण दो ही दृष्टांत है सो ठीक नहीं क्योंकि अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि ने, हे सौम्य*! जैसे एक मिट्टीके पिंड से सब मिट्टी के पदार्थ जाने जाते हैं इससे लेकर और कृष्ण लोहे के पिंड से जैसे सब लोहे के विकार जाने जाते हैं, यहां तक वाक्य के समूह से कार्य के मिथ्या होने में सुवर्ण और लोहा ये तीन दृष्टांत कहे हैं इससे जैसे बहुत से मृत् आदिकों में कार्य को मिथ्या देखते हैं ऐसे ही भूत भौतिकरूप वस्तुओं में कार्य को मिथ्या समझे। भावार्थ यह है कि आरुणि ऋषि ने मृत् सुवर्ण लोहा ये तीन दृष्टांत कहे हैं इससे सब वस्तुओं में कार्य को मिथ्या समझ लें।।५३।।

***यथा सौम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात स्यात्।**

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ।।५४।।

कंदाचित् कहो कि कार्य को मिथ्या समझना आरुणि ने क्यों कहा सो ठीक नहीं क्योंकि कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान भी आरुणि ने कहा अर्थात् कारण के ज्ञान से कार्य के ज्ञानार्थ कार्य को मिथ्या वर्णन किया है कि हे सौम्य! जैसे एकमिट्टीकेपिंड से सबमिट्टीकेविकार जाने जाते हैं अब यह शंका करते हैं कि मृत् सुवर्ण आदि रूप पारमार्थिक (सत्य) कारण के जानने से उससे विलक्षण (मिथ्यारूप घट आदि कार्यों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? भावार्थ यह है कि कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान भी आरुणि ने कहा है कि कदाचित् कहो कि सत्य के ज्ञान से मिथ्या का ज्ञान कैसे हो सकता है।।५४।।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ।।५५।।

उक्त शंका का उत्तर अभिप्राय से देते हैं कि कार्य के सत्य और मिथ्या दो रूप हैं, उन दोनों में कारण के ज्ञान से कार्य में वर्तमान जो सत्य अंश उसका ज्ञान होता है मृत्तिकासहित अर्थात् अधिष्ठानरूप मृत्तिका से युक्त जो आरोपित घट आदिरूप विकार वह कार्य है अर्थात् लोकदृष्टि से कार्य कहाता है कदाचित् कहो कि ऐसे कहने से कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान नही होता, इस पूर्वोक्त शंका का कौन परिहार हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि कार्य के मिथ्यारूप अंश का ज्ञान मत हो परंतु कार्य में मृत्तिका रूप जो सत्य अंश है उसका ज्ञान कारण के ज्ञान से हो जाता है अर्थात कार्य में जो वास्तव मिट्टीका अंश है उसको बोध कारण के ज्ञान से हो जाता है अर्थात् कार्य में जो वास्तव मिट्टीरूप अंश है उसका बोध कारण के बोध से होता है। भावार्थ यह है कि मृत्तिकासहित जो विकार उसको जगत् में कार्य कहते हैं उसमें जो वास्तव (सत्य) मिट्टीरूप अंश है उसका ज्ञान कारण के ज्ञान से होता है।।५५।।

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ।।५६।।

कदाचित् कहो कि कार्य के सत्य अंश के समान मिथ्या अंश भी जानने योग्य है सो ठीक नहीं किंतु मिथ्या अंश जानने योग्य नहीं है क्योंकि उसके ज्ञान का कुछ उपयोग नहीं है प्रयोजन के अभाव को ही दिखाते हैं कि बोध के अयोग्य जो

तत्त्ववस्तु है उसका ज्ञान पुरुष के प्रयोजनार्थ है और मिथ्या अंश का जो ज्ञान है वह मनुष्य के प्रयोजनार्थ नहीं होता है।।५६।।

तर्हि कारणविज्ञानात्कार्यज्ञानमितीरिते ।।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ।।५७।।

कदाचित् कहो कि कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है, इस कहने से श्रोता की बुद्धि में कुछ चमत्कार हुआ सो ठीक नहीं इस अभिप्राय से शंका करते हैं कि मृत् आदि कारण से ज्ञान से कार्य का मृत्तिका आदि सत्य अंश का ज्ञान होता है यह कहने से यही कहा गया है कि मृत्तिका के ज्ञान से मृत्तिका का ही ज्ञान होता है, इसे कहने में शब्दों का चमत्कार है अर्थ का नहीं।।५७।।

सत्यकार्येषुः वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।।
विस्मयो मास्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ।।५८।।

उक्त शंका का इस अभिप्राय से परिहार करते हैं कि ऐसे विवेकियों को विस्मय मत हो, विवेक से शून्यों को तो विस्मय होता ही है कि घट आदि कार्यों में विद्यमान जो वास्तव अंश है वह कारणरूप है यह जो जानते हैं उनको आश्चर्य मत हो, अन्य जो तत्त्वज्ञान से शून्य हैं, उनको पैदा हुआ जो आश्चर्य उनको कौन हटा सकता है।।५८।।

आरंभी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवंत्येव विस्मयम् ।।५९।।

अज्ञानी को विस्मय होता है इस पूर्वोक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं कि जो समवायी, असमवायी, निमित्त इन तीनों कारणों से भिन्न कार्य की उत्पत्ति माने वह आरंभी होता है जिसमें समवाय (नित्य) संबंध से कार्य पैदा होता हो वह समवायी कारण जैसे कपास घट का और समवायी कारण में जो समवाय संबंध से रहे वह असमवायी कारण होता है जैसे कपालों का संयोग घट का इन दोनों से जो भिन्न वह निमित्त कारण होता है जैसे घट के चक्र चीवर आदि पूर्वरूप के परित्याग से अन्यरूप की प्राप्ति माने वह परिणामी इन दोनों प्रक्रियाओं को जो न जाने और लोकव्यवहार को ही जाने वह लौकिक कहाता है इन तीनों कारणों के मध्य में एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का विज्ञान होता है, इस वाक्य से श्रवण से विस्मय अवश्य होता है। भावार्थ यह है कि आरंभी, लौकिक ये तीनों मनुष्य एक कारण के ज्ञान से सबके ज्ञान को सुनकर विस्मय को अवश्य प्राप्त होते हैं।।५९।।

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ।।६०।।

कदाचित् कहो कि यथाश्रुत (सीधे अर्थ) को छोड़कर इस प्रकार के अर्थ करने में क्या कारण है इस शंका को करके यह उत्तर देते हैं कि श्रुति का यथाश्रुत अर्थ में तात्पर्य नहीं है क्योंकि अद्वैत के ज्ञान में शिष्य को अभिमुख करने के लिये छांदोग्य की श्रुति में एक कारण के विज्ञान से सब कार्यों का विज्ञान कहा है, कुछ अनेक कार्यों के विज्ञान के लिये नहीं।।६०।।

एकमृत्पिंडविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ।।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ।।६१।।

अब एक के ज्ञान से सबके ज्ञान में दृष्टांत का बोधक जो हे सौम्य! जैसे एक मृत के पिंड से सब मृत्तिका के विकार जाने जाते हैं—यह वाक्य उसके अर्थ का निरूपण करके दार्ष्टांतिक का बोधक जो यह* वाक्य कि क्या तुमने वह पूछा है जिससे बिना सुने सुना जाता है, बिना माने माना जाता है और बिना जाने जाना जाता है? उसके अर्थ को दिखाते हुए प्रकरण में जो फलित हुआ उसका वर्णन करते हैं कि जैसे घट शराब आदि का उपादान जो एक मृत्तिका का पिंड उसके ज्ञान से उसके विकार जो संपूर्ण घट आदि हैं उनका बोध होता है ऐसे ही एक ब्रह्म के बोध से कार्यरूप संपूर्ण जगत् का बोध जानना।।६१।।

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ।।६२।।

कदाचित् कहो कि जब तक ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का ज्ञान न हो ले तब तक यह कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है? इस शंका को करके पूर्वोक्त ज्ञान के लिये ब्रह्म और जगत् इन दोनों के स्वरूप को कहते हैं कि सत् चित् सुखरूप ब्रह्म है और नामरूपात्मक जगत् है, अब ब्रह्म के सत् चित् आनन्दरूप होने में प्रमाण कहते हैं कि उत्तरतापनीय उपनिषद् में ब्रह्म का सच्चिदानंदलक्षण कहा है अर्थात् यह संपूर्ण जगत् सत् आनन्दमात्र है इस** वचन आदि से सच्चित् आनन्द रूप ब्रह्म कहा है।।६२।।

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ।।
सनत्कुमार आनंदमेवमन्यत्र गम्यताम् ।।६३।।

---

* उत तमादेशमप्राज्ञो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ।

** ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम् ।

अब आदि शब्द से कहने को अभीष्ट जो श्रुति उनको दिखाते हैं कि अरुण के पुत्र उद्दालक ने ब्रह्मको सद्रूप और बह्वृचों ने ऐतरेयोपनिषद में प्रज्ञाका प्रतिष्ठा (आश्रय) कहकर प्रज्ञान ब्रह्म और पूर्वोक्त छांदोग्य श्रुति* में सनत्कुमार नं नारद शिष्य के प्रति वह ब्रह्म भूमा जानने योग्य है यह आरंभ करके जो भूमा वह सुख हैं इस प्रकार भूमा शब्द के अर्थ ब्रह्म को आनंदरूप कहा है अर्थात् इन वचनों से सत् आदिरूप का जिस जिस ने वर्णन किया है इसी प्रकार तैत्तिरीय आदि श्रुति में आनंद ब्रह्म को जानता हुआ इत्यादि वचनों** से जो आनंदरूप कहा है वह भी जानना। भावार्थ यह है कि आरुणि ने सत्रूप और बह्वृचों ने प्रज्ञानरूप और सनत्कुमार ने आनंदरूप ब्रह्म कहा है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानो।।६३।।

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ।।६४।।

अब सत् चित् आनंदों के समान नामरूपों में भी श्रुति* को दिखाते हैं कि संपूर्ण रूपों को करके और धीर (ब्रह्म) नामों को करके जिसमें उच्चारण करता टिकता है इस जीवरूप आत्मा से प्रविष्ट होकर नामरूप मैं करूंगा, यह श्रुति है।।६४।।

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।।
अचिंत्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ।।६५।।

उसमें ही अन्य श्रुति को कहते हैं कि बृहदारण्यक श्रुति में इस** श्रुति से रचे हुए जगत् को नामरूपात्मक दिखाया है कि सृष्टि से पूर्व यह जगत् नामरूपात्मक हुआ और पीछे से अर्थात् सृष्टि के समय वाच्य वाचक (अर्थ शब्द) भाव दो रूप से प्रकट होता है, अब वह जगत् उस समय अव्याकृत हुआ इसमें जो अव्याकृत शब्द उसके अर्थ को कहते हैं कि जो यह अचिंत्य शक्ति ब्रह्म की माया है वही अव्याकृत शब्द का अर्थ है भावार्थ यह है कि सृष्टि के पूर्व यह जगत् अव्याकृत हुआ और सृष्टि के समय

---

* सदेव सौम्येदमग्र आसीत् प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः यो वै भूमा तत्सुखम् ।

** आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात् ।

*** सर्वाणि रूपाणि विचिंत्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते—अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । **** तद्धचेवेदंतर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाहमिदंरूपः।

नामरूप भेद से दो प्रकार का होता है और ब्रह्म की जो अचिंत्य शक्ति माया है उसको अव्याकृत कहते हैं।।६५।।

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।।६६।।

वह माया नामरूप से विकार को प्राप्त होती है इस पूर्वोक्त वचन के अर्थ को कहते हैं कि विकार से रहित जो ब्रह्म उसमें वर्तमान वह मायारूप शक्ति भूतभौतिक प्रपंचरूप से अनेक प्रकार के विकार (परिणाम) को प्राप्त होती है, ब्रह्म में माया के वर्तने में प्रमाण कहते हैं कि पूर्वोक्त माया को प्रवृत्ति अर्थात् उपादान कारण जाने और मायी (माया का आश्रय) को महेश्वर अर्थात् माया का नियामक जाने।।६६।।

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ।।६७।।

अब माया से उपहित (युक्त) ब्रह्म के प्रथम कार्य को कहते हैं कि माया का प्रथम विकार आकाश है वह अस्ति, भाति, प्रिय (सत् चित् आनंद) रूप है और उसका स्वाभाविक रूप अवकाश है परन्तु वह मिथ्या है और पहले सत् आदि तीनों रूप सत्य हैं।।६७।।

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।।
आदावंते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।।६८।।

अब चौथे रूप के मिथ्या होने में हेतु को कहते हैं कि जो व्यक्ति (प्रकट होना) से पूर्व न हो और न नाशक के अनंतर इससे आदि अन्त में जो न हो वह वस्तु वर्तमान काल में भी तथा ही है अर्थात् नहीं है इससे यह शंका नहीं करनी कि उत्पत्ति और नाश के मध्य में वर्तमान अवकाश किस प्रकार मिथ्या हो सकता है।।६८।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ।।६९।।

अब पूर्वोक्त अर्थ में श्रीकृष्ण का वचन प्रमाण देते हैं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति यह कहा है कि हे भारत! इन भूतोकी आदि अव्यक्त(प्रकृति) है और मध्य में यह भूत व्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं और अव्यक्त में ही इनका निधन (लय) होता है।।६९।।

मृद्वते सच्चिदानंदा अनुगच्छंति सर्वदा ।।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ।।७०।।

अब सत् आदि तीनों रूपों के अवकाश में सत्ता होने में अनुभव प्रमाण देते हैं कि वे सत् चित् आनंद इस प्रकार सब काल में अनुगत रहते हैं जैसे घट आदिकों में मृत्तिका। कदाचित् कहो कि अवकाश को छोड़कर सत् आदि तीन रूप कहां देखे है यह शंका करके कहते हैं कि आकाश रहित अपने आत्मा में सत् आदि का अनुभव होता है।।७०।।

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ।।७१।।

वही कहते हैं कि अवकाश से विस्मरण होने पर आपको क्या भासता है? सो कहो कदाचित् कहो कि अवकाश के विस्मरण में शून्य ही भासता है। इस शंका का परिहार अंगीकार करके कहते हैं कि शून्य रहे अर्थात् शब्द से शून्य को तुममानोअर्थ से तो अवकाशका अभाव जो विशेषण उसके विशेष्य रूप से प्रतीयमान कोई वस्तुरूप है यह मानना पड़ेगा यही कहते हैं कि जो तादृश भासता है वही सत् आदिरूप ब्रह्म है। यहां 'हि' शब्द जगत् की प्रसिद्ध जताने के लिये हैं।।७१।।

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ।।७२।।

कदाचित् कहो कि ऐसे रहे प्रकरण में क्या आया ? यह शंका करके उत्तर देते हैं विशेष्य रूप से जो प्रतीत होता है उसका स्वरूप मानना चाहिये इसका वर्णन करते हैं कि तादृश होने से ही वह सत् है जिससे उदासीनता में वह सुखरूप होगा इससे उदासीनता का विषय होने से वह सुखरूप है कदाचित् कहो कि अनुकूलता रहित को सुखस्वरूप कैसे कहोगे सो ठीक नहीं क्योंकि अनुकूलता और प्रतिकूलता से जो हीन हो वही निजसुख होता है।।७२।।

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात्प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।।
द्वयाभावे निजानंदो निजदुःखं न तु क्वचित् ।।७३।।

वही वर्णन करते हैं कि अनुकूल मानोगे तो हर्ष (आनंद) बुद्धि हो जायगी और प्रतिकूल मानोगे तो दुःखबुद्धि हो जायगी। कदाचित् कहो कि निजानंद के समान निज दुःख को भी क्यों नहीं मानते? यह शंका करके कहते हैं कि दोनों के अभाव से निजानंद ही भासता है, कदाचित् भी निजदुःख नहीं भासता है अर्थात् दुःख निजरूप ही नहीं हो सकता है।।७३।।

निजानंदे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ।।७४।।

कदाचित् कहो कि निजानंद को सदानंद रूप होने से सदा हर्ष ही होगा, शोक न होगा इस शंका का समाधान इस आशय से करते हैं कि वह नित्य रहे परंतु उसका ग्राहक मन क्षणिक है इससे मानस सुख दुःख भी क्षणिक होते हैं अर्थात् स्थिररूप भी निजानंद में क्षणमात्र में हर्ष और शोक का व्यत्यय हो जाता है क्योंकि मन क्षणिक है इससे हर्ष शोक भी मानस (क्षणिक) माने इष्ट हैं।।७४।।

आकाशेऽप्येवमानंदः सत्ताभाने तु संमते ।।
वाय्वादिदेहपर्यंतं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ।।७५।।

अब दृष्टांत में सिद्ध अर्थ को दार्ष्टांतिक में युक्त करते हैं कि जैसे आनंद निजात्मा में है वैसा ही आनंद आकाश में है और सत्ता और भान को तो आप ही मानते हो इससे उनके कहने की आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार वायु आदि देहपर्यंत वस्तुओं में विचार करना।।७५।।

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ।।७६।।

अब वायु आदि के असाधारण धर्मों को दिखाते हैं कि गमन और स्पर्श वायु के और दाह और प्रकाश अग्नि के और जल का द्रवत्व और भूमि की कठिनता रूप असाधारण धर्म होते हैं।।७६।।

असाधारण आकार औषध्यन्नवपुष्यपि ।।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ।।७७।।

इसी प्रकार औषध अन्न देह इनमें भी असाधारण आकार होता है। इसी प्रकार उस उस का यथोचित रूप विचारने योग्य है।।७७।।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।।
तिष्ठंति सच्चिदानंदा विसंवादो न कस्यचित् ।।७८।।

अनेक प्रकार भिन्न भिन्न नाम रूपों में एक प्रकार से सत् चित् आनंद टिकते हैं इसमें विसंवाद किसी को नहीं है।।७८।।

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ।।७९।।

कदाचित् कहो कि प्रतीयमान जो नामरूप उनकी क्या गति होगी ? यह शंका करके नामरूप को कल्पित कहते हैं कि नाम, रूप दोनों कल्पित हैं और वे दोनों जन्म और नाश से युक्त हैं यह बात ब्रह्म में इस प्रकार देखो जैसे समुद्र में बुद्बुद (बुलबुले) प्रतीतिमात्र हैं।।७९।।

सच्चिदानंदरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ।।८०।।

अब पूर्वोक्त ज्ञान के फल को कहते हैं कि इस सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्म के ज्ञान होने पर मनुष्य स्वयं ही शनैः शनैः दोनों नाम रूपों की अवज्ञा (तिरस्कार) कर देता है।।८०।।

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ।।८१।।

ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता के लिये द्वैत की अवज्ञा करनी इसका इसलिये वर्णन करते हैं कि वह दृढ़ता द्वैत की अवज्ञा से होती है। जितनी जितनी द्वैत की अवज्ञा होती है उतना उतना ही ब्रह्म का ज्ञान होता है और जितना जितना ब्रह्म का दर्शन होता है उतने उतने ही वे दोनों नाम रूप त्यागे जाते हैं।।८१।।

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ।।८२।।

अब दोनों के अभ्यास का फल कहते हैं कि उस प्रकार अभ्यास से विद्या (ज्ञान) के भले प्रकार स्थित होने पर यह मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है, देह चाहे जैसा रहे।।८२।।

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।।८३।।

अब ब्रह्म के अभ्यास का स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्म का चिंतन ब्रह्म का कथन और परस्पर ब्रह्म का प्रबोधन (समझाना) और ब्रह्म में ही एकाग्र मन से तत्पर रहना इसको बुद्धिमान् मनुष्यों ने ब्रह्म का अभ्यास कहा है।।८३।।

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरंतरम् ।।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ।।८४।।

कदाचित् कहो कि अनादि काल से भासते हुए द्वैत की कदाचित् हुए ज्ञान के अभ्यास से कैसे निवृत्ति होगी सो ठीक नहीं क्योंकि अनेक काल की जो वासना है वह बहुत काल तक और निरंतर आदर से किये ब्रह्म के अभ्यास से सर्वथा निवृत्त हो जाती है।।८४।।

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान्सृजेत् ।।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ।।८५।।

कदाचित् कहो कि एक ब्रह्म अनेक आकार से जगत् का हेतु नहीं हो सकता सो

ठीक नहीं क्योंकि मृत्तिका की शक्ति के समान ब्रह्मशक्ति (माया) अनेक अनृत (मिथ्या) पदार्थों को रचेगी कदाचित् कहो कि मृत्तिका की शक्ति सत्य है वह अनेक का हेतु रहे असत् रूप माया कैसे रचेगी इससे दृष्टांत विषम है सो ठीक नहीं क्योंकि जीव की निद्रा और स्वप्न यहां दृष्टांत है अर्थात् जैसे निद्रा स्वप्न को रचती है ऐसे ही माया भी रचेगी।।८५।।

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यंतकारिणी ।।८६।।

अब दृष्टांत को स्पष्ट रीति से कहते हैं कि जैसे जीव की निद्राशक्ति जीव में दुर्घट स्वप्न को करती है इसी प्रकार ब्रह्म में स्थित यह माया सृष्टि और स्थिति और अंत को करती है।।८६।।

स्वप्ने वियद्‌गतिं पश्येत्स्वमूर्द्धच्छेदनं यथा ।।
मुहूर्ते वत्सरोघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ।।८७।।

अब दुर्घट करने को ही दिखाते हैं कि जैसे मनुष्य स्वप्न में आकाश का गमन और अपने मस्तक का छेदन और मुहूर्तमात्र में वर्षों का समूह और मृत पुत्र को भी फिर देखता है ऐसे ही माया दुर्घट को रचती है।।८७।।

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।।
यथायथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ।।८८।।

अब स्वप्न में दुर्घट होने में हेतु को कहते हैं कि स्वप्न में यह व्यवस्था दुर्लभ है कि यह युक्त है और यह युक्त नहीं है कि जो २ पदार्थ जैसे २ देखा जाता है वह २ उसी २ प्रकार युक्त होता है।।८८।।

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।।
मायाशक्तेरचिंत्योयं महिमेति किमद्भुतम् ।।८९।।

अब पूर्वोक्त न्याय को कैमुतिकन्याय से स्पष्ट करते हैं कि जब निद्राशक्ति की ऐसी महिमा देखी है तो मायाशक्ति की यह अचिंत्य महिमा है इससे क्या अद्‌भुत है अर्थात् कुछ नहीं है माया में सब बन सकता है।।८९।।

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान्कल्पयत्यसौ ।।९०।।

अब यत्न से रहित जो ब्रह्म उसकी माया जगत् का हेतु है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे सोते हुए मनुष्य की निद्रा अनेक प्रकार के स्वप्न को रचती है इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में वर्तमान यह माया भी अनेक प्रकार के विकारों की कल्पना करती

है।।९०।।

खानिलाग्निजलोर्व्यंडलोकप्राणिशिलादिकाः ।।
विकाराः प्राणिधीष्वंतश्चिच्छाया प्रतिबिंबिता ।।९१।।

अब माया के रचे पदार्थों को दिखाते हैं कि आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी, अण्ड, लोक, प्राणी, शिला आदि विकार हैं, कदाचित् कहो कि सब पदार्थ जब पांचभौतिक होने से समान हैं तो कोई जड और कोई चेतन यह कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं क्योंकि प्राणियों के अंतःकरण में चैतन्य के प्रतिबिंब पडने से चेतन और न पड़ने से जड व्यवहार होता है।।९१।।

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानंदलक्षणम् ।।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ।।९२।।

कदाचित् कहो कि चेतन अचेतन का विभाग चित्‌रूप ब्रह्म का किया ही क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि चेतन अचेतनरूप इन आकाश आदि पदार्थों में सत्, चित्, आनंद लक्षण ब्रह्म समान है इसीसे सब का उपादान ब्रह्म सर्वत्र समरूप होने से चेतन अचेतन के विभाग का कारण नहीं हो सकता और नाम, रूप ये दोनों भिन्न २ हैं।।९२।।

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानंदधीर्भवेत् ।।९३।।

अब ब्रह्म जड़ पदार्थों में भी साधारण है इसमें हेतु को कहते हैं कि ब्रह्म में ये दोनों नामरूप इस प्रकार स्थित हैं जैसे पट में चित्ररूप अर्थात् सबका आधार ब्रह्म सर्वगत है, वह कैसे जाना जाता है इस शंका के उत्तर को कहते हैं कि दोनों नामरूपों की उपेक्षा करके सत्, चित्, आनंदरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है अर्थात् कल्पित नामरूप के त्याग से अधिष्ठानरूप ब्रह्म जाना जाता है।।९३।।

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ।।९४।।

पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टांत देते हैं कि जल में वर्तमान् और अधोमुख अपने देह को देखकर भी जल के देह की उपेक्षा करके अर्थात् असत्य समझकर जैसे तीरपर स्थित अपने देह में ही तात्पर्य (ममता) बुद्धि होती है इसी प्रकार नामरूपोंको त्यागकर ब्रह्म में सत्यबुद्धि होती है।।९४।।

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ।।९५।।

अब संपूर्ण मनुष्यों में प्रसिद्ध अन्य दृष्टांत को कहते हैं कि जैसे सहस्रों बार किये मनोराज्य के विद्यमान होने पर भी संपूर्ण मनुष्य उपेक्षा करते हैं इसी प्रकार नामरूप की भी उपेक्षा करने योग्य है।।९५।।

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथान्यथा ।।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ।।९६।।

अब प्रपंच की विचित्रता में दृष्टांत कहते हैं कि जैसे मन का राज्य क्षण २ में भिन्न २ प्रकार का होता है और नष्ट हुआ २ फिर नहीं आता है इसी प्रकार व्यवहार भी क्षण २ में अन्यथा २ होकर फिर नहीं आता है।।९६।।

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ।।९७।।

पूर्वोक्त का ही विवरण कहते हैं कि यौवन अवस्था में बाल्य और वैसे ही वृद्ध अवस्था मे यौवन नहीं मिल सकता और मृत पिता और गया दिन ये ही नहीं आते हैं।।९७।।

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।।
अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ।।९८।।

अब द्वैत की क्षणिकता को समाप्त करते हैं कि क्षणमात्र में है विध्वंस जिसका ऐसे लौकिक पदार्थ का मनोराज्य से क्या विशेष (भेद) है इससे लौकिक भासमान होने पर भी लौकिक पदार्थ में सत्यबुद्धि का त्याग दे।।९८।।

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिंतने ।।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ।।९९।।

अब लौकिक की उपेक्षा ब्रह्म में स्थिर बुद्धि के लाभ का वर्णन करते हैं कि लौकिक की उपेक्षा करने से ब्रह्म के चिंतन में बुद्धि निर्विघ्न हो जाती है कदाचित् कहो कि ज्ञानी का व्यवहार लौकिक की उपेक्षा करने से कैसे होगा सो ठीक नहीं, क्योंकि कृत्रिम अवस्था में जैसे नट उस २ व्यवहार को करता है इसी प्रकार ज्ञानी भी लौकिक व्यवहार का निर्वाह करता है।।९९।।

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ।।१००।।

कदाचित् कहो कि ज्ञानी को व्यवहार मानोगे तो विकारी हो जायगा, यह शंका करके बुद्धि के व्यवहार करने पर भी उसका साक्षी आत्मा निर्विकार है इस बात का दृष्टांतपूर्वक वर्णन करते हैं कि जल के अपने ऊपर बहते हुए भी नीचे स्थित भारी

शिला जैसे चलायमान नहीं होती इसी प्रकार बुद्धि के संसारभाव को प्राप्त होने पर भी कूटस्थ ब्रह्म अन्यथा नहीं होता अर्थात् ज्ञानी संसार को प्राप्त नहीं होता।।१००।।

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।।
सच्चिद्घने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत् ।।१०१।।

कदाचित् कहो कि अखंड ब्रह्म में उससे विलक्षण जगत् कैसे भासता है सो ठीक नहीं कि जैसे छिद्ररहित दर्पण में वस्तु है गर्भ में जिसके ऐसा महान् आकाश भान होता है इसी प्रकार सत् चित् घन ब्रह्म में नाना प्रकार का जगत् है गर्भ में जिसके ऐसा आकाश भासता है।।१०१।।

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदंतस्थेक्षणं तथा ।।
अमत्वा सच्चिदानंदं नामरूपमतिः कुतः ।।१०२।।

कदाचित् कहो कि दर्शन के अयोग्य ब्रह्म में कैसे जगत् प्रतीत होता है? सो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे दर्पण के विना देखे दर्पण में स्थित वस्तु का देखना नहीं हो सकता इसी प्रकार सच्चिदानंद की प्रतीति के बिना नामरूपात्मक जगत् की भी प्रतीति कैसे हो सकती है अर्थात् सच्चिदानंद के ज्ञानद्वारा ही प्रतीति होती है।।१०२।।

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ।।१०३।।

कदाचित् कहो कि नामरूप के भी भासने से निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति कैसे होगी यह शंका करके ब्रह्मबुद्धि का उपाय कहते हैं कि प्रथम सच्चिदानंद ब्रह्म के भासमान होने पर अर्थात् ब्रह्म में कल्पित नामरूपात्मक प्रपंच में सच्चिदानंदमात्र के विषे बुद्धि का नियमन (रोकना) करके उसके अनंतर नामरूप में बुद्धि को न धारण करे।।१०३।।

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ।।
अद्वैतानंद एतस्मिन्विश्राम्यंतु जनाश्चिरम् ।।१०४।।

अब फलित का वर्णन करते हैंकि ऐसे मानने पर जगत् से भिन्न ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है इस पूर्वोक्त अद्वैतानंद में मनुष्य चिरकालतक विश्राम करे।।१०४।।

ब्रह्मानंदभिधे ग्रंथे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।।
अद्वैतानंद एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिंतया ।।१०५।।

अब अध्याय के अर्थ को समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नाम के पांच प्रकरणवाले ग्रंथ में अद्वैतानंद नामका अध्याय वर्णन किया, क्योंकि जगत् की मिथ्यात्वचिंता से मनुष्य अद्वैतानंद (ब्रह्म) ही हो जाता है।।१०५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

इति ब्रह्मानन्देऽद्वैतानंदप्रकरणं समाप्तम् ।।१३।।

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् १४

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिंतया ॥
ब्रह्मानंदं पश्यतोऽथ विद्यानंदो निरूप्यते ॥१॥

अब पूर्वापर ग्रंथों के संवंध को कहते हैं कि योग से आत्मा के विवेक से और द्वैत की मिथ्यात्वचिंता से ब्रह्मानन्द को जो जानता है उसके लिये विद्यानन्द का निरूपण करते हैं॥१॥

विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः ॥
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

अब विद्यानंद के स्वरूप को कहते हैं कि विषयानंद के समान विद्यानंद भी बुद्धि की वृत्तिरूप है और यह दुःखाभाव आदिरूप से चार प्रकार का कहा है॥२॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ॥
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

चारों प्रकार को ही दिखाते हैं कि दुःखाभाव और कामना की प्राप्ति और मैं कृतकृत्य हूँ यह और मुझे प्राप्त होने से योग्य प्राप्त हुआ यह यही चार प्रकार का विद्यानंद कहा है॥३॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ॥
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

अब निवृत्ति के योग्य दुःख का विभाग करते हैं कि ऐहिक (जगत् का) और आमुष्मिक (परलोक का) ऐसा दुःख दो प्रकार का कहा है, उन दोनों में ऐहिक दुःख की निवृत्ति बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य ने कही है॥४॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५॥

उसी श्रुति के वाक्य को पढते हैं कि यदि मनुष्य इस प्रकार आत्मा को जाने कि मैं आत्मारूप हूं तो किसकी इच्छा से किसकी कामना के लिये शरीर को दुःख दे।।५।।

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।।
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ।।६।।

आत्मा में शोक का संबंध दिखाने के लिये आत्मा के भेद कहते हैं कि, जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का कहा है। उन दोनों में चित् (चैतन्य) स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप तीनों देहों के संग तादात्म्य (एकता) से भोक्ता होता है और भोक्ता को ही जीव कहते हैं।।६।।

परात्मा सच्चिदानंदस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ।।७।।

अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं कि सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है, वही परमात्मा नामरूप के संग तादात्म्य को प्राप्त होकर भोग्यरूप को प्राप्त होता है और उन शरीर और जगत् से विवेक (भेद का ज्ञान) होने पर दोनों नहीं अर्थात् भोक्ता और भोग्य दोनों नहीं रहते किंतु सच्चिदानंद परमात्मा ही शेष रहता है।।७।।

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।।
ज्वरस्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ।।८।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि भोक्ता के लिये भोग्य की इच्छा करता हुआ मनुष्य शरीर को दुःखी करता है और वे ज्वर (दुःख) तीनों शरीरों में स्थित है आत्मा में ज्वर नहीं है।।८।।

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ।।९।।

अब जिस शरीर में जो ज्वर है उसको दिखाते हैं कि धातुओं की है विषमता जिसमें ऐसे स्थूल देह में व्याधि (रोग) स्थित है और सूक्ष्म शरीर में काम क्रोध आदि स्थित हैं और दोनों प्रकार के दुःखों का बीज कारण शरीर में स्थित हैं।।९।।

अद्वैतानंदमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छत्परात्मवित् ।।१०।।

अब पूर्वोक्त श्रुति का जो अर्थ उसके कथन के व्याज (मिस) से पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि तीसरे अध्याय में उक्त प्रकार से माया के कार्य जो नाम रूप हैं उनसे सच्चिदानंदरूप परमात्मा का विवेक होने पर संपूर्ण प्रपंच (जगत्) मिथ्या है जानता हुआ मनुष्य किस भोगने योग्य वस्तु की इच्छा करे अर्थात् किसीकी नहीं करता।।१०।।

आत्मानंदोक्तरीत्यास्मिञ्जीवात्मन्यवधारिते ।।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ।।११।।

अब पूर्वाध्याय में उक्त रीति से जीव से असंग कूटस्थ चैतन्य रूप के निश्चय होने पर कामनाओं के अभाव से ज्वर आदि का संबंध नहीं है इसका वर्णन करते हैं कि आत्मानंद अध्याय में कही रीति से इस जीवात्मा के चैतन्यरूप का निरूय होने पर इन तीनों पूर्वोक्त शरीरों में भोक्ता ही कोई नहीं है तो ज्वर (दुःख) किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं होता।।११।।

पुण्यपापद्वये चिंता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिंता नैनं तपेदिति ।।१२।।

अब परलोक के दुःख को दिखाते हैं कि पुण्य, पाप इन दोनों के विषे जो चिंता वह पारलौकिक दुःख होता है और उस दुःख का अभाव पहले अध्याय में ही कह आये कि पुण्य पाप की चिंता इस ज्ञानी को नहीं तपाती है।।१२।।

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ।।१३।।

कदाचित् कहो कि प्रारब्ध कर्म की चिंता तो मत हो परन्तु आगामी कर्म की चिंता तो हो ही जायगी? यह शंका करके इस श्रुति* के अनुसार आगामी कर्म के भी निराकरण से आगामी कर्म कि चिंता के अभाव का वर्णन करते हैं कि जैसे कमल के पत्ते पर जलों का संबंध नहीं होता इसी प्रकार ज्ञान होने के अनंतर ज्ञानी में आगामी कर्म का सम्बन्ध नहीं होता है।।१३।।

* तद्यथा पुष्करपर्णः।

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ॥
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

अब इस* श्रुति के बल से ज्ञानी को संचित कर्म की भी चिंता का अभाव कहते हैं किं जैसे मूंज की इषीका का तूल अग्नि से क्षणमात्र में दग्ध हो जाता है इसी प्रकार इस ज्ञानी का संचित् कर्म भी ज्ञान के अनंतर दग्ध (भस्म) हो जाता है॥१४॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥१५॥

अब पूर्वोक्त अर्थ में भगवान् के वाक्य कां प्रमाण देते हैं कि जैसे भले प्रकार जलती हुई अग्नि काष्ठों को हे अर्जुन! भस्म करती है इस प्रकार ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म करती है॥१५॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥१६॥

जिसको अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं है वह पुरुष इन सब लोकों को हतकर भी नहीं हतता है और न बंधन को प्राप्त होता है॥१६॥

मातापित्रोर्वधस्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ॥
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकांतिर्न नश्यति ॥१७॥

इसी वात में इस** कौषीतकी श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं कि माता पिता का वध (मारना) चोरी, भ्रूण हत्या और अन्य जो ऐसा ही पाप है वह इस ज्ञानी की मुक्ति को नष्ट नहीं करता और न इनके मुख की कांति नष्ट होती है॥१७॥

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ॥
सर्वान् कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

पूर्वोक्त चारों के मध्य में दूसरे प्रकार को कहते हैं कि दुःख के अभाव के समान ही इस ज्ञानी को सर्व कामाप्ति (सब कामनाओं का लाभ) श्रुति में कही है इसी अर्थ में तैत्तिरीय श्रुति वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं कि इसीसे यह ज्ञानी सब कामनाओं को

---

* तद्यथा पुष्करपर्णः। प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते।

** मातृवधेन न पितृर्वधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चक्रुपो मुखान्नीलं वेति।

प्राप्त होकर अमृत हो जाता है।।१८।।

जक्षन्क्रीडन्रति प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ।।१९।।

अब इस छांदोग्यश्रुतिवाक्य के अर्थ को पढते हैं कि भक्षण करता हुआ और क्रीड़ा करता और स्त्री, यान और अन्यों के संग रति (प्रीति) को प्राप्त हुआ यह ज्ञानी शरीर का स्मरण नहीं करता है और कर्मसहित जो प्राण वह इस ज्ञानी को जिलाता है अर्थात् कर्मसहित प्राण ज्ञानी के देह का रक्षक है।।१९।।

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।।
वर्तंते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ।।२०।।

अब उसीमें तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य* के अर्थ को पढ़ते हैं कि ज्ञानी सब कामनाओं को एक साथ प्राप्त होता है। कदाचित् कहो कि ज्ञानी को फल का भोग मानोगे तो जन्म भी हो जायगा सो ठीक नहीं किंतु अन्यों के समान ज्ञानी का कर्मों से जन्म नहीं होता है क्योंकि ज्ञान से संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और श्रोत्रिय (वेद के ज्ञाता) में क्रम को छोड़कर एकबार संपूर्ण भोग वर्तते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।।२०।।

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान् ।।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ।।२१।।

अब तैत्तिरीय और बृहदारण्यक के वाक्य का संक्षेप से अर्थ पढ़ते हैं कि युवा, रूपवान्, विद्यवान्, नीरोग, दृढचित्त, सेना से युक्त और धन से पूर्ण संपूर्ण पृथ्वी की पालन करता हुआ राजा।।२१।।

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ।।२२।।

कदाचित् कहो कि चक्रवर्ती से लेकर हिरण्यगर्भपर्यंत जो जीव के आनंद हैं वे ज्ञानी में कैसे संभव हैं यह शंका करके इस आशय से उत्तर देते हैं कि संपूर्ण आनंद ज्ञानी के जाने हुए ब्रह्म के अंश हैं इससे ज्ञानी के पूर्वोक्त सब आनंदों का संभव हो सकता है और मनुष्य के संपूर्ण भोगों से सम्पन्न और तृप्त राजा जिस आनंद को भोगता है उसी आनंद को ब्रह्मज्ञानी भी भोगता है।।२२।।

---

* जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञानिभिर्वाऽज्ञानिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजन स्मरन्निदं शरीरम्।

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ॥
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

कदाचित् कहो कि चक्रवर्ती और तत्त्वज्ञानी इन दोनों को विषयों की प्राप्ति समान नहीं है इससे आनंद की तुल्यता कैसे हो सकती है सो ठीक नहीं क्योंकि मृत्युलोक के भोग में चक्रवर्ती और ज्ञानी दोनों की कामना नहीं है इससे दोनों की तृप्ति समान है। उन दोनों में एक (राजा) भोगों से निष्काम है और दूसरा (ज्ञानी) विवेक से निष्काम है अर्थात् निरपेक्षता से तृप्ति. की साम्यता है॥२३॥

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ॥
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

अब विवेक से निष्कामता का वर्णन करते हैं–ज्ञानी, श्रोत्रिय (वेदपाठी) होने से वेद और शास्त्रों से भोगों के दोषों को देखता है। कदाचित् कहो कि भोगों के दोष किस शाखा में और किसने कहे हैं सो ठीक नहीं क्योंकि बृहद्रथ राजा ने मैत्रायणीय शाखा में वे दोष गाथाओं से कहे हैं कि॥२४॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ॥
शुना वांते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

देह के दोष, चित्त के दोष और अनेक भोग्य पदार्थों के दोष उक्त राजा ने वर्णन किये हैं। अब विवेकी को कामना के न होने में दृष्टांत कहते हैं कि जैसे श्वास ने वमन किये पायस में किसीकी कामना नहीं होती इसी प्रकार विवेकी की किसी विषय में कामना नहीं होती॥२५॥

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ॥
दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥२६॥

अब सार्वभौम राजा से तत्त्वज्ञानी की अधिकता को कहते हैं कि यद्यपि दोनों की निष्कामता समान है तथापि राजा को साधनों के संचय करने में दुःख हुआ है और भविष्य नाश से अत्यंत भीति बनी रहती है॥२६॥

नोभय श्रोत्रियस्यातस्तदानंदोऽधिकोऽन्यतः ॥
गंधर्वानंद आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥२७॥

और श्रोत्रिय को ये दोनों नहीं होते इससे तत्त्वज्ञानी का आनंद अधिक है अर्थात् चक्रवर्ती अनेक साधनों से होता है और पीछे उसके नाश का भय रहता है और ज्ञानी में इन दोनों का अभाव रहता है इससे ज्ञानी का आनंद अधिक है और इससे

भी श्रोत्रिय अधिक है कि राजा की गंधर्वानंद में आशा है और विवेकी की नहीं॥२७॥

अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ॥
गंधर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगंधर्व उच्यते ॥२८॥

अब गंधर्वानंद के दो प्रकार दिखाने के लिये दो श्लोकों से गंधर्व का भेद कहते हैं कि इस लोक में मनुष्य हुआ जो पुण्य के पाकविशेष से गंधर्व योनि को प्राप्त हो जाय उसे मर्त्यगंधर्व कहते हैं॥२८॥

पूर्वकल्पकृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेत् ॥
गंधर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगंधर्व उच्यते ॥२९॥

और जो पूर्वकल्प में किये हुए पुण्य से कल्प की आदि में ही गंधर्वयोनि को प्राप्त हो जाय वह देव गंधर्व कहाता है॥२९॥

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ॥
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०॥

अब चिरलोक पित्रानंद दिखाने के लिये चिरलोक पितरों को कहते हैं पितृलोक में जो चिरवासी अग्निष्वात्त आदि हैं वे पितर कहाते हैं। अब देवानंद के तीन प्रकार जानने के लिये देवताओं के भेद कहते हैं कि कल्प आदि में ही जो देवताभाव को प्राप्त हुए हैं वे आजान देवता कहाते हैं॥३०॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ॥
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥३१॥

इस कल्प में अश्वमेध आदि कर्म करने के अनंतर महान् पद को प्राप्त हुए जिनकी आजान देवता पूजा करते हैं वे कर्मदेवता कहाते हैं॥३१॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविंद्रबृहस्पती ॥
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥३२॥

यम और अग्नि है मुख्य जिनमें वे देवता होते हैं, इन्द्रं और बृहस्पति को ज्ञात और प्रजापति को विराट् और ब्रह्मा को सूत्रात्मा कहते हैं॥३२॥

सार्वभौमादिसूत्रांता उत्तरोत्तरकामिनः ॥
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानंदस्ततः परः ॥३३॥

अब चक्रवर्ती से सूत्रात्मा पर्यंतों को तत्त्वज्ञानी से न्यूनता दिखाते हैं कि चक्रवर्ती से सूत्रात्मा पर्यंत जितने हैं वे उत्तरोत्तर पद के अभिलाषी होते हैं और वाणी मन से अगम्यरूप यह परात्मा उन सबसे परे है अर्थात् उन सबसे अधिक है॥३३॥

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियों यतः ।।
निस्पृहस्तेन सर्वेषामानंदाः संति तस्य ते ।।३४।।

अब सबके आनंद निःस्पृह श्रोत्रिय के विषे दिखाते हैं कि जिससे श्रोत्रिय (ज्ञानी) उस २ कारण से कामना के योग्य संपूर्ण सुखों में निःस्पृह है इससे सबके वे आनंद श्रोत्रिय को होते हैं।।३४।।

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।।
स्वदेहवत्सर्वदेवेष्वपि भोगानवेक्षते ।।३५।।

अब कहे हुए अर्थ को समाप्त करते हैं कि यह सर्वकामाप्ति वर्णन का, अब दूसरा पक्ष कहते हैं कि अथवा जैसे साक्षीरूप चिदात्मा से अपने देह में आनंद को मानता है इसी प्रकार आनंदाकार बुद्धि का साक्षी होने से संपूर्ण देहों में भोग आदि के आनंदों को देखता है इसीको सर्वकामाप्ति कहते हैं।।३५।।

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ।।३६।।

कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञानी को भी सर्वानंद की प्राप्ति है यह शंका करके उत्तर देते हैं कि अज्ञानी को संपूर्ण देहों में यह ज्ञान नहीं कि मैं सबकी बुद्धि का साक्षी हूं अतः यद्यपि अज्ञानी को भी यह सर्वकामाप्ति है तथापि अज्ञान से उसकी तृप्ति नहीं है और ज्ञानी की तृप्ति है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति में यह लिखा है कि अंतःकरण में स्थित ब्रह्म को जो जानता है वह सब कामनाओं को भोगता है।।३६।।

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य नाम्ना गायति सर्वदा ।।
अहमन्नं तथान्नादश्चेति साम ह्यधीयते ।।३७।।

अब तीसरे प्रकार को कहते हैं कि अथवा सामवेद के अनुसार* ज्ञानी इन लोकों की कामनाओं में निष्कामरूपी विचरता है इस श्रुति में सब काल में अपने को सर्वात्मरूप गाता है और इस साम को पढ़ता है कि मैं ही अन्न हूं और मैं ही अन्न के भोक्ता हूं।।३७।।

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ।।३८।।

इस प्रकार दुःखाभाव और कामाप्ति इन दोनों का वर्णन पूर्वोक्त ग्रंथ से किया

---

* इमान् लोकान् कामान् निष्कामरूपमनुचरन् ।

और अन्य जो कृतकृत्यता और प्राप्य की प्राप्यता है उनको भी देखो कि ॥३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ॥
त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

उन दोनों का तृप्तिदीप में ही हमने भले प्रकार से वर्णन किया वे ही श्लोक बुद्धि की शुद्धि के लिये यहां अनुसंधान (स्मरण) करने योग्य हैं॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ॥
बहुकृत्यं पुरास्यभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

उन श्लोकों को ही वर्णन करते हैं कि इस लोक और परलोक के अनेक पदार्थों की सिद्धि और मुक्ति की सिद्धि के लिये ज्ञान से पूर्व इस ज्ञानी को अनेक प्रकार का कृत्य रहा वह सब अब ज्ञान की अवस्था में ज्ञानी ने कर लिया॥४०॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ॥
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

इससे प्रतियोग के ज्ञानपूर्वक इस कृतकृत्यता का स्मरण करता हुआ यह ज्ञानी इस प्रकार नित्य तृप्त होता है कि—॥४१॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥

अब तृप्ति का स्पष्टरीति से वर्णन करते हैं कि दुःखी अज्ञानी पुरुष, पुत्र, आदि की अपेक्षा से यथेच्छ संसार में प्राप्त हो अर्थात् जन्में और मरे परंतु परमानंद से पूर्ण मैं किसकी इच्छा से संसार में पड़ता हूं॥४२॥

अनुतिष्ठंतु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्कः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥४३॥

परलोक में जाने के अभिलाषी मनुष्य कर्म को करें तो करें किंतु संपूर्ण लोकरूप मैं किससे किस प्रकार किस कर्म को करूं॥४३॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥

जो शास्त्र और वेद के अधिकारी हैं वे शास्त्रों का व्याख्यान करें और वेदों को पढायें पर मेरा तो इसमें अधिकार नहीं क्योंकि मैं क्रियारहित हूं॥४४॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छापि न करोमि च ॥
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥४५॥

निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच इनकी मैं न इच्छा करता हूं और न मैं इनको करता हूं, यदि दृष्टा मनुष्य कल्पना करते हैं तो अन्य की कल्पना से मुझे क्या॥४५॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४६॥

जैसे गुंजा (चोहटनी) का पुंज अन्य मनुष्य की आरोपण के अग्नि से दग्ध नहीं होता इसी प्रकार अन्य पुरुषों के आरोपण किये संसार के धर्मों को मैं नहीं भजता॥४६॥

श्रृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥४७॥

जिनको तत्त्वज्ञान नहीं वे शास्त्रों को सुनें, जानता हुआ मैं क्यों सुनूं, संशय से युक्त मनुष्य शास्त्रों को मानें, पर संदेह से रहित मैं नहीं मानता॥४७॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥

विपरीत ज्ञानी निदिध्यासन करे, विपरीत ज्ञान से रहित मुझे ध्यान करने से क्या प्रयोजन है, क्योंकि देह और आत्मा के विपरीत ज्ञान को मैं कदापि नहीं भजता॥४८॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

और मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार तो इस विपरीत ज्ञान के बिना भी चिरकाल के अभ्यास की वासना से हो जायगा॥४९॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥५०॥

क्योंकि प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर व्यवहार निवृत्त होता है और प्रारब्ध कर्म के क्षय बिना यह व्यवहार सहस्रों कर्मों से भी क्षय नहीं होता॥५०॥

विरलत्वं व्यहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

यदि आपको व्यवहार विरल (विलक्षण) वा भिन्न इष्ट है तो आपको ध्यान रहे परंतु व्यवहार को अबाधक मानता हुआ मैं ध्यान को क्यों करूं॥५१॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥५२॥

जिस कारण मुझे विक्षेप नहीं है इसीसे समाधि भी मुझे नहीं, क्योंकि विक्षेप और समाधि उसको होते हैं जिसके मन में विकार होता है।।५२।।

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।।५३।।

नित्यानुभवरूप मुझसे भिन्न अनुभव कौन है अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि मेरा यह निश्चय है कि मैंने कृत्य कर लिया और प्राप्त होने योग्य वस्तु मुझे प्राप्त हो गयी।।५३।।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ।।५४।।

लौकिक वा शास्त्रीय वा अन्यथा जो व्यवहार है वह सब कर्ता से भिन्न और निर्लेप मेरा प्रारब्ध के अनुसार वर्ते।।५४।।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ।।५५।।

अथवा कृतकृत्य भी मैं लौकिक अनुग्रह की कामना से शास्त्रोक्त मार्ग से वर्तूं (चलूं) तो मेरी क्या क्षति है अर्थात् कुछ भी नहीं।।५५।।

देवार्चनस्नानशौचाभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ।।५६।।

देवता का पूजन, स्नान, शौच, भिक्षा इनको देह करे वाणी तारक मंत्र को जपे और वैसे ही आम्नायमस्तक (उपनिषद्) को पढ़े।।५६।।

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ।।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ।।५७।।

बुद्धि विष्णु का ध्यान करे वा ब्रह्मानंद में लीन हो जाय, साक्षीरूप मैं इसमें न कुछ करता हूं और न कुछ कराता हूं।।५७।।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतयापुनः ।।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ।।५८।।

कृतकृत्यता से तृप्त और प्राप्यता से तृप्त हुआ यह ज्ञानी अपने मन से निरंतर (सदैव) ऐसे मानता है जो वर्णन कर चुके हैं।।५८।।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जमा वेद्मि ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टः ।।५९।।

मुझे धन्य है २ मैं सुख से नित्य अपने आत्मा को जानता हूं मुझे धन्य है २ कि मुझे

स्पष्ट रीति से ब्रह्मानंद का भान होता है।।५९।।

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि।।६०।।

मुझे धन्य है २ क्योंकि मैं अब संसार के दुःख को नहीं देखता हूं, मुझे धन्य है २ कि मेरा अज्ञान कहीं भग गया अर्थात् नष्ट हो गया।।६०।।

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ।।६१।।

मुझे धन्य है २ क्योंकि मुझे अब किंचित् भी कर्तव्य नहीं है, मैं धन्य हूं २ क्योंकि मेरा प्राप्त होने योग्य संपूर्ण संपन्न (सिद्ध) हुआ।।६१।।

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्ते मे कोपमा भवेल्लोके ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ।।६२।।

मैं धन्य हूँ २ कि मेरी तृप्ति की उपमा जगत् में कोई नहीं, मैं धन्य हूँ, धन्य हूं, धन्य हूं, फिर धन्य हूँ और फिर धन्य हूँ।।६२।।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ।।६३।।

अहो (बड़ा भारी) पुण्य है! अहो पुण्य है! जिससे दृढ़फल मुझे हुआ हुआ इस पुण्य की सिद्धि से अहो हम हैं अहो हम हैं।।६३।।

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहोगुरुहो गुरुः ।।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।।६४।।

अहो शास्त्र है! अहो शास्त्र है! अहो गुरु है! अहो ज्ञान है! अहो ज्ञान है! अहो सुख है! अहो सुख है! इस प्रकार तृप्तिदीप में वर्णन किये कृतकृत्यता और प्राप्त प्राप्यता इन दोनों का ३९वें श्लोक से यहां तक दुबारा स्पष्ट रीति से वर्णन किया।।६४।।

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।।
विद्यानंदस्तदुत्पत्तिपर्यंतोऽभ्यास इष्यताम् ।।६५।।

अब अध्याय के अर्थ को समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नाम के ग्रंथ में विद्यानंद

नाम का यह चौथा अध्याय वर्णन किया। मुमुक्षु को विद्या की उत्पत्ति पर्यंत इस विद्यानन्द का अभ्यास करना इष्ट है॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां पं० मिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृतिसहितायां ब्रह्मानन्दे विद्यानंदो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां पं० मिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृतिसंहितायां ब्रह्मानन्दे विद्यानंदो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

इति ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् ॥१४॥

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम् १५

अथात्र विषयानंदो ब्रह्मानंदांशरूपभाक् ॥
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अब पांचवें अध्याय में वर्णन किये अर्थ को करते हैं कि ब्रह्मानंद के अंशरूप का भागी जो विषयानंद उसका निरूपण करते हैं कि कदाचित् कहो कि विषयानंद लौकिक है इससे मोक्ष शास्त्र में उसका निरूपण नहीं हो सकता, यह शंका करके लौकिक भी वह ब्रह्मानंद का एकदेश है, इससे ब्रह्मज्ञान का उपयोगी होने से उसके वर्णन की योग्यता को कहते हैं कि विषयानन्द ब्रह्मानन्द का द्वाररूप है, अब विषयानन्द ब्रह्मानन्द का एकदेश है, इसमें प्रमाण कहते हैं कि विषयानंद का ब्रह्मानंद का एकदेश श्रुति ने कहा है॥१॥

एषोऽस्य परमानंदो योऽखंडैकरसात्मकः ॥
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुंजते ॥२॥

उसी श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं कि यह इस मुमुक्षु का परमानन्द है जो अखंड एक रसरूप है अन्य जितने भूत (प्राणी) हैं वे सब इस आनंद की ही मात्रा (लेश) को भोगते हैं अर्थात् सबके-आनंद में ब्रह्मानंद का अंश है॥२॥

शांता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ॥
वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः शांतवृत्तयः ॥३॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ॥
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

अब विषयानंद को ब्रह्मानंद का लेशत्व दिखाने के लिये उसकी उपाधिरूप जो अंत:करण की वृत्ति हैं उनका विभाग करते हैं कि शांत (सात्त्विक) घोर (रजोगुणी) और मूढ़ (तमोगुणी) ये तीन प्रकार की मन की वृत्तियां हैं उन शांत आदि वृत्तियों को ही दिखाते हैं कि वैराग्य, क्षमा और उदारता आदि शांत वृत्तियाँ हैं और तृष्णा स्नेह, राग लोभ आदि घोर वृत्तियाँ हैं और संमोह भय आदि मूढ़ वृत्ति कही हैं॥३॥४॥

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ॥
प्रतिबिंबति शांतासु सुखं च प्रतिबिंबति ॥५॥

पूर्वोक्त तीनों ही प्रकार की वृत्तियों में चित्‌रूप ब्रह्म के भान को वर्णन करते हैं कि उन संपूर्ण वृत्तियों में ब्रह्म के चित्स्वभाव का प्रतिबिंब पड़ता है और शांत वृत्तियों में सुख का भी प्रतिबिंब पड़ता है॥५॥

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ॥
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६॥

अब पूर्वोक्त अर्थ में इस श्रुति* के अर्थ को पढ़ते हैं कि रूप रूप के प्रति यह ब्रह्म प्रतिरूप (सदृश) हुआ यह श्रुति में कहा है। उसमें ही व्याससूत्र के एकदेश को पढ़ते हैं कि सूत्रकार (व्यासजी) ने भी यह सूत्र रचा है कि इसी से ब्रह्म को सूर्य की उपमा है॥६॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत् ॥७॥

अब स्वरूप से एक वस्तु के उपाधि के संबंध से नाना (अनेक) होने में श्रुति को पढ़ते हैं कि एक ही भूतात्मा भूत भूत में व्यवस्थित हुआ एक प्रकार का और बहुत प्रकार का ऐसे दीखता है जैसे जल मे चंद्रमा दीखता है॥७॥

जले प्रविष्टश्चंद्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ॥
विस्पष्टो निर्मले तद्वद् द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

कदाचित् कहो कि निरवयव ब्रह्म का कहीं चिद्रूप से भान और अन्य स्थल में चिदानंद का भान ऐसा विभाग करना अनुचित है यह शंका करके चंद्रमा के दृष्टांत से परिहार करते हैं कि जैसे जल में प्रविष्ट हुआ यह चंद्रमा मलिन जल में अप्रकट और निर्मल जल में भले प्रकार से स्पष्ट दीखता है वैसे ही वृत्तियों में ब्रह्म भी अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतीत होता है॥८॥

घोरमूढासु मालिन्यात्सुखांशश्च तिरोहितः ॥
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिंबनम् ॥९॥

वही कहते हैं कि घोर और मूढ़ वृत्तियों में मलिनता से सुखरूप अंश प्रीतिरहित (छिपा) रहता है उनमें किंचित् निर्मलता से चित् अंश का प्रतिबिंब पड़ता है॥९॥

---

* रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव ।

यद्वाऽपि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ॥
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥१०॥

कदाचित् कहो कि चंद्रमा की उपाधि जो जल वह दो प्रकार का है इससे दो प्रकार के अंश का भान युक्त है, यहां तो अन्तःकरण रूप उपाधि को एक होने से एक अंश का भान नहीं हो सकता, यह शंका करके अन्य दृष्टांत देते हैं कि अथवा जैसे निर्मल जल में भी अग्नि की उष्णता का संक्रम (गमन) होता है और प्रकाश का नहीं वैसे ही घोर मूढ़ वृत्तियों में चिन्मात्र अंश का प्रतिबिंब पड़ता है सुख का नहीं॥१०॥

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ॥
शांतासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥११॥

अब शांत वृत्तियों में चित्त आनंद दोनों की प्रतीति में अन्य दृष्टांत देते हैं कि जैसे काष्ठ में अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों प्रकटता को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार शांत वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों प्रकटता को प्राप्त होते हैं॥११॥

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ॥
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥१२॥

कदाचित् कहो कि यह व्यवस्था कैसे होती है सो ठीक नहीं क्योंकि वस्तु का जो स्वभाव उसके आश्रय से दोनों की व्यवस्था समान है क्योंकि अनुभूति (प्रतीति) के अनुसार नियामक की कल्पना होती है॥१२॥

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ॥
शांतास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥१३॥

अनुभूति को ही दिखाते हैं कि घोर और मूढ़ वृत्तियों में सुख का अनुभव नहीं दीखता है और शांत वृत्तियों में भी आनंद का प्रकाश है परंतु वह भी किसी किसी शांतवृत्ति में अत्यंत सुखरूप दीखता है॥१३॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ॥
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥१४॥

पूर्वोक्त घोर और मूढ वृत्तियों में सुख के अभाव को दिखाते हैं कि जब प्राणी को गृह और क्षेत्र आदि रूप विषय की कामना होती है तब उस रजोगुणी कामना को घोररूप होने से उसमें सुख नहीं होता॥१४॥

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ॥
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५॥

कार्य सिद्ध होगा वा न होगा यह दुःख है और सुख की सिद्धि न होने में दुःख बढ़ता हैं और सुख का प्रतिबंध होने पर क्रोध होता है वा प्रतिकूल दुःख के होने से द्वेष होता है।।१५।।

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशंकापि दूरतः ।।१६।।
काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शांता तत्र महत्सुखम् । ।।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ।।१७।।
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानंदे तदीरितम् ।।
एवं क्षांतौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ।।१८।।

यदि प्रतीकार (दुःखनिवृत्ति) न कर सकते तो तमोगुणी विषाद होता है और क्रोध आदि में महान् दुःख है, सुख की शंका तो दूर रही और काम्य (इष्ट) विषय के लाभ होने पर हर्षवृत्ति शांतरूप है उसमें महान् सुख होता है और भोग में महत्तर (कुछ अधिक) सुख है और लाभ के प्रसंग में किंचित् ही सुख होता है और विरक्ति में तो महत्तम (अत्यंत अधिक) सुख होता है उसका विद्यानंदप्रकरण में वर्णन कर आये। इसी प्रकार क्रोध और लोभ की निवृत्ति से क्षांति (क्षमा) और उदारता में भी अत्यधिक सुख होता है।।१६।।१७।।१८।।

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिंबनात् ।।
वृत्तिष्वंतर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम् ।।१९।।

जो जो सुख होता है वह ब्रह्म का प्रतिबिंब होने से ब्रह्मरूप ही है क्योंकि अंतर्मुख वृत्तियों में ब्रह्म का निर्विघ्न प्रतिबिंब पड़ता है।।१९।।

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ।।२०।।

अब सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप का अनुभव दिखाने के लिये ब्रह्म के स्वरूप का स्मरण कराते हैं कि सत्ता, चित्ति और सुख ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं। उन तीनों में मृत्तिका और शिला आदि में सत्ता ही प्रतीत होती है अन्य दो प्रतीत नहीं होते।।२०।।

सत्ताचितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।।
शांतवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ।।२१।।

सत्ता और चित्ति ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप बुद्धि की घोर और मूढ़ वृत्तियों में व्यक्त (प्रकट) हैं और शांतरूप बुद्धि की वृत्तिमें सत्ता चिति, आनंद ये तीनों व्यक्त हैं, इस

प्रकार परिश्रम से प्रपंच ब्रह्म का वर्णन किया।।२१।।

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ।।
आद्येऽध्याये योगचिंता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ।।२२।।

अमिश्र (प्रपंचरहित) ब्रह्म के ज्ञान का उपाय कहते हैं कि अमिश्र ब्रह्म ज्ञान योग से जाना जाता है। उन ज्ञान योगों का वर्णन पहले कर आये, उन दोनों में पहले अध्याय में योग की चिंता और उससे आगे के दो अध्याय में ज्ञान का वर्णन किया है।।२२।।

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपत्रयं त्विदम् ।।
असत्ता नरश्रृंगादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ।।२३।।

कदाचित कहो सत्, चित्, आनंद ये ब्रह्मरूप रहें परंतु माया का क्या रूप है, इस शंका का उत्तर कहते हैं कि असत्ता और जाड्य, दुःख ये दो ऐसे ये तीन माया के रूप हैं, उन तीनों में नरश्रृंग आदि में असत्ता और काष्ठ, शिला आदि में जाड्य होता है।।२३।।

घोरमूढधियोर्दुखमेवं माया विजृंभिता ।।
शांतादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ।।२४।।

अब दुःख का आश्रय कहते हैं कि घोर और मूढ़ बुद्धियों में दुःख होता है इस प्रकार सर्वत्र माया का विजृंभण (प्रतिभास) है और शांत आदि जो बुद्धि की वृत्तियां हैं उनकी एकता मानने से मिश्र ब्रह्म कहा है।।२४।।

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत्पुमानसौ ।।
नंशृंगादिमुपेक्षेत् शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ।।२५।।

इस प्रकार के कथन का प्रयोजन ब्रह्म का ध्यान है इसलिये कहते हैं कि ऐसी स्थित होने पर यहां जो मनुष्य ब्रह्म का ध्यान करने की इच्छा करे वह मनुष्य नरश्रृंग आदि की उपेक्षा (त्याग) करके शिष्ट (बाकी) का यथायोग्य ध्यान करे।।२५।।

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिंतनम् ।।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्द्विचिंतनम् ।।२६।।

अब अन्यत्र जो ध्यान कहा उसका प्रकार कहते हैं कि शिला आदि के विषे नाम और रूप इन दोनों को त्यागकर सत्मात्र ब्रह्म का चिंतन कर और घोर, मूढ़ बुद्धियों में दुःख को त्यागकर सत् और चित् का चिंतन करे।।२६।।

शांतासु सच्चिदानंदांस्त्रीनप्येवं विचिंतयेत् ॥
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्त्रश्चिंताः क्रमादिमाः ॥२७॥

और शांतरूप जो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं उनमें इसी प्रकार सत्, चित्, आनंद, इन तीनों की चिंता करे और ये तीनों चिंता क्रम से कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट होती हैं॥२७॥

मंदस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिंतनम् ॥
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानंद ईरितः ॥२८॥

अब निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में जो अनधिकारी है उसके अनुग्रह के लिये मिश्र ब्रह्म के ध्यान में अधिकार का वर्णन करते हैं कि जो मनुष्य मंदबुद्धि है उसको व्यवहार में भी मिश्रब्रह्म की चिंता करना ही उत्तम है, यह कहने के लिये यहां विषयानंद का वर्णन किया है॥२८॥

औदासिन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ॥
चिंतनं वासनानंदे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

इस प्रकार सत् वृत्ति के तीन ध्यानों को कहकर अवृत्तिक ध्यान को कहते हैं कि उदासीनता में तो बुद्धि की वृत्ति को शिथिल होने से उत्तमोत्तम चिंतन वासनानंद में करना कहा है इस प्रकार चार प्रकार का ध्यान कहा है॥२९॥

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव साखलु ॥
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥३०॥

कदाचित् कहो कि यह ध्यान का ही अवांतर (मध्य का) भेद क्यों न हो, इसलिये कहते हैं कि ज्ञान और योग से ध्यान नहीं होता किंतु वह निश्चय से ब्रह्मविद्या ही है जब ध्यान से चित्त एकाग्र हो जाता है तब उसमें ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है अर्थात् ध्यान से चित्त एकाग्र होता है, ज्ञान योग से ध्यान नहीं होता है॥३०॥

विद्यायां सच्चिदानंदा अखंडैकरसात्मताम् ॥
प्राप्य भांति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥३१॥

अब इसको विद्या होने में हेतु कहते हैं कि विद्या में सत् चित् आनंद ये तीनों अखंड एकरस रूप को प्राप्त होकर भिन्न भिन्न नहीं भासते हैं क्योंकि भेद करनेवाली उपाधि का त्याग हो गया॥३१॥

शांता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ॥
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

भेद के उपाधियों को ही कहते हैं कि शांत और घोररूप वृत्ति और शिला आदि

ही भेद की जनक उपाधि मानी है और इन उपाधियों का अपाकरण (अभाव) योग वा विवेक से होता है।।३२।।

निरूपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ।।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानंदोऽत उच्यते ।।३३।।

अब फलित का वर्णन करते हैं कि निरुपाधि (उपाधिरहित) स्वप्रकाशरूप ब्रह्मतत्त्व के प्रकाशमान होने पर अद्वैतरूप में त्रिपुटी (ध्याता, ध्यान, ध्येय) नहीं है इसी से उसको भूमानंद कहते हैं।।३३।।

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे पंचमोऽध्याय ईरितः ।।
विषयानंद एतेन द्वारेणांतः प्रविश्यताम् ।।३४।।

अब ग्रंथ को समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नाम के ग्रंथ में पाचवां विषयानंद नाम का अध्याय वर्णन किया इसके द्वारा अंतः (ब्रह्म) में, हे मुमुक्षुओ ! तुम प्रवेश करो।।३४।।

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ।।३५।।

इस ब्रह्मानंद से हरि और हर सदैव प्रसन्न हो और अपने आश्रित जो संपूर्ण शुद्धमानस प्राणी हैं उनकी रक्षा करें।।३५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे विषयानंदः समाप्तः ।।१५।।

इति श्रीमत्परमहसेपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यमुनिविरचिताया पचदश्या मुजफ्फर नगरप्रान्तघटकलांखग्रामनिवासिश्रीपंडितहरिसहायात्मजपंडितरामरक्षांगजपंडितमिहिरचन्द्रकृत–मुंबयीस्थश्रीमत्क्षेमराजश्रेष्ठिकारित–भाषाविवृतियुजि ब्रह्मानंदे विषयानन्दो नाम पंचमोऽध्यायः समाप्तः ।।५।।

समाप्ता चेयं पञ्चदशी

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन बम्बई